अगस्त, 2018

उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका

विधि साहित्य प्रकाशन
विधायी विभाग
विधि और न्याय मंत्रालय
भारत सरकार

प्रस्तावित संपादक-मंडल

डा. जी. नारायण राजू,
सचिव, विधायी विभाग

डा. रीटा वशिष्ठ, अपर सचिव,
विधायी विभाग

श्री एस. आर. ढलेटा,
सेवानिवृत्त संयुक्त सचिव एवं
विधायी परामर्शी, विधायी विभाग

डा. सुरेन्द्र कुमार शर्मा, प्रिन्सिपल,
विधि विभाग, डी आई आर डी, गुरु
गोविंद सिंह इन्द्रप्रस्थ विश्वविद्यालय

श्री ए. के. अवस्थी,
सेवानिवृत्त प्रोफेसर एवं डीन
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

श्री एल. आर. सिंह,
प्रोफेसर एवं डीन इलाहाबाद
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

श्री कृष्ण गोपाल अग्रवाल,
सेवानिवृत्त संपादक, वि.सा.प्र.

श्री अनुराग दीप,
एसोसिएट प्रोफेसर,
भारतीय विधि संस्थान

डा. मिथिलेश चन्द्र पांडेय,
प्रधान संपादक

श्री कमला कान्त,
संपादक

श्री अविनाश शुक्ला,
संपादक

श्री असलम खान,
संपादक

सहायक संपादक : श्री पुण्डरीक शर्मा

उप-संपादक : सर्वश्री महीपाल सिंह और जसवन्त सिंह

परामर्शदाता : सर्वश्री दयाल चन्द्र ग्रोवर, महमूद अली खां और विनोद कुमार आर्य

ISSN- 2457-0494

कीमत : डाक-व्यय सहित

एक प्रति : ₹ 195/-

© 2018 भारत सरकार, विधि और न्याय मंत्रालय

1. प्रकाशन नियंत्रक, भारत सरकार, सिविल लाइन्स, दिल्ली-110054.
2. प्रधान संपादक, विधि साहित्य प्रकाशन, विधि और न्याय मंत्रालय, विधायी विभाग, भगवानदास मार्ग, नई दिल्ली-110001 द्वारा प्रकाशित तथा.................................. द्वारा मुद्रित ।

पी एल डी (डी)-8-2018 आई.एस.एस.एन. 2457-0494

उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका

अगस्त, 2018 अंक - 8

प्रधान संपादक
डा. मिथिलेश चन्द्र पांडेय

संपादक
कमला कान्त

विधि साहित्य
प्रकाशन

[2018] 3 उम. नि. प.

विधि साहित्य प्रकाशन
विधायी विभाग
विधि और न्याय मंत्रालय
भारत सरकार

विक्रय कार्यालय : 1. प्रकाशन नियंत्रक, भारत सरकार, सिविल लाइन्स, दिल्ली-110054.
2. सहायक प्रबंधक, कारबार अनुभाग, विधि साहित्य प्रकाशन, विधि और न्याय मंत्रालय, विधायी विभाग, आई. एल. आई. बिल्डिंग, भगवानदास मार्ग, नई दिल्ली-110001 । दूरभाष : 011-23385259, 23387589, फैक्स : 011-23387589, ई-मेल : am.vsp-molj@gov.in

संपादकीय

संपत्ति विक्रय के मामलों में, प्रायः संपत्ति विक्रय करार के निष्पादन के बारे में निष्पादन संबंधी प्रश्न उठता रहता है । यह पूर्णतया उस निमित्त करार के निबंधनों पर निर्भर करता है । कई मामलों में, पक्षकार विक्रय करार करते समय उस संपत्ति के स्वामित्व, हक, विल्लंगमों इत्यादि के बारे में तथ्यों को छिपाने की कोशिश करते हैं । यद्यपि, इस निमित्त दूसरे पक्षकार को उपचार प्राप्त है, फिर भी दूसरा पक्षकार इसका फायदा तभी प्राप्त कर सकता है जब वह स्वयं उस करार के अपने भाग का पालन करने के लिए 'तैयार और रजामंद' रहा है या है । इस संबंध में, माननीय उच्चतम न्यायालय ने **पी. मीनाक्षीसुन्दरम्** बनाम **पी. विजय कुमार और एक अन्य** [2018] 3 उम. नि. प. 318 वाले मामले में, यह अभिनिर्धारित किया है कि यदि पक्षकारों के बीच किसी संपत्ति के बारे में विक्रय करार, इस निबंधन के अधीन किया जाता है कि संपत्ति किसी भी विल्लंगम से रहित है, किन्तु बाद में उस संपत्ति पर बैंक का ऋण बकाया पाया जाता है तो क्रेता पर यह निर्भर करता है कि वह या तो बैंक का ऋण संदत्त करके विक्रय करार निष्पादित करा ले या उसे शून्य घोषित करा दे, किन्तु, यदि वह उस विक्रय करार का निष्पादन कराने के लिए विनिर्दिष्ट पालन के लिए वाद फाइल करता है तो वह ऐसा तभी कर सकता है जब वह स्वयं उस करार के अपने भाग का पालन करने के लिए सदैव ही 'तैयार और रजामंद' रहा है, अन्यथा नहीं ।

जब प्रश्न यह उठता है कि क्या किसी घटना के ऐसे प्रत्यक्षदर्शी साक्षी का साक्ष्य विश्वसनीय हो सकता है जो उस घटना में आहत व्यक्ति का नातेदार है, तो इस संबंध में, माननीय उच्चतम न्यायालय ने **गणपति और एक अन्य** बनाम **तमिलनाडु राज्य** [2018] 3 उम. नि. प. 306 वाले मामले में, यह अभिनिर्धारित किया है कि जहां अभियुक्तों द्वारा मृतकों पर चाकू और दरांती से आक्रमण करके नातेदार प्रत्यक्षदर्शी साक्षियों की मौजूदगी में हत्या कारित की गई हो और इन साक्षियों के परिसाक्ष्य संगत और विश्वसनीय पाए गए हों तथा उनकी संपुष्टि चिकित्सीय साक्ष्य से हुई हो तथा अभियुक्तों की दोषिता युक्तियुक्त संदेह के परे साबित की गई हो, तो ऐसे साक्षियों को केवल हितबद्ध साक्षी कहकर उनके परिसाक्ष्य को त्यक्त नहीं किया जा सकता है और उनके साक्ष्य के आधार पर की गई अभियुक्तों की दोषसिद्धि उचित और न्यायसंगत है ।

प्रायः यह प्रश्न उठता है कि क्या मध्यस्थ द्वारा दिए गए अधिनिर्णय को भारत के किसी भी न्यायालय से प्रवर्तित कराया जा सकता है । इस संबंध में, माननीय उच्चतम न्यायालय ने **सुंदरम् फाइनेंस लि., तिलक ज्येष्ठ प्रबंधक (विधिक) द्वारा प्रतिनिधित्व** बनाम **अब्दुल समद और एक अन्य** [2018] 3 उम. नि. प. 210 वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया है कि माध्यस्थम् के अधिनिर्णय का प्रवर्तन कराने के लिए देश में कहीं भी ऐसे सक्षम न्यायालय में आवेदन फाइल किया जा सकता है और उसे निष्पादित कराया जा सकता है, जहां निर्णीत-ऋणी की परिसंपत्तियां स्थित हैं और इसके निमित्त उस न्यायालय से डिक्री का अंतरण अभिप्राप्त करने की आवश्यकता नहीं है जिसकी अधिकारिता में माध्यस्थम् कार्यवाहियां हुई थीं ।

प्रिवी कौंसिल द्वारा दिए गए तारीख 3.4.1939 से तारीख 9.5.1939 तक के निर्णयों के हिंदी पाठ और शीर्ष टिप्पण पाठकों के ज्ञान के लिए प्रकाशित किए जा रहे हैं । इस अंक में केन्द्रीय विश्वविद्यालय अधिनियम, 2009 को भी ज्ञानार्थ प्रकाशित किया जा रहा है । इसके अतिरिक्त, इस अंक में अन्य महत्वपूर्ण निर्णय भी हैं । इस संपूर्ण अंक का परिशीलन करने के पश्चात् आपकी बहुमूल्य प्रतिक्रियाएं ईप्सित हैं ।

कमला कान्त
संपादक

राज्य-ध्वज की मांग अनुचित, अनैतिक ही नहीं देश की अखंडता पर आंच है

*प्रो. (डा.) ए. के. अवस्थी

कर्नाटक के मुख्य मंत्री ने केन्द्र सरकार के पास अपने राज्य के लिए अलग ध्वज को मान्यता देने की मांग भेजी है। यह ध्वज पीले, लाल और श्वेत पट्टियों का है जिसमें राज्य के प्रतीक चिह्न को मध्य में उकेरा गया है। कन्नड़ अस्मिता के प्रतीक "गंडा भेरुन्दी" (दो सिरों वाली मिथकीय मछली) का यह चिह्न हिंदी को तथाकथित जबरन लादे जाने के विरोध में वर्षों से आन्दोलन के रूप में प्रदर्शित किया जाता रहा है। कतिपय राजनैतिक दलों ने श्वेत पट्टिका हटाने तथा पीली-लाल पट्टियों को ही राज्य ध्वज के रूप में स्वीकार किया है। केंद्र सरकार ने ऐसी मांग पर नकारात्मक रुख दिखलाया है, लेकिन वहां आसन्न विधान सभा चुनाव के माहौल में यह क्या गुल खिलाएगा, यह भविष्य ही बतलाएगा। कावेरी नदी के जल बटवारे पर तमिलनाडु के साथ विवाद में होने वाले आन्दोलन में यही ध्वज लहराया जाता है।

वर्तमान में जम्मू-कश्मीर छोड़ कर किसी भी राज्य का अलग ध्वज नहीं है। ज्ञातव्य है कि संविधान के अनुच्छेद 370 के कारण वहां का संविधान ही अलग है तथा देश के अधिकांश कानून वहां के विधान-मंडल द्वारा पारित होने के बाद ही लागू हैं। वहां के संविधान पर अंतिम निर्णय राष्ट्रपति की सहमति से ही होता है।

सन् 1969 में करूणानिधि के नेतृत्व वाली द्रमुक ने भी अलग झंडे का प्रारूप प्रस्तुत किया था जिसमें ऊपर बाएं किनारे पर भारत का राष्ट्रीय ध्वज अंकित था। तत्समय राष्ट्रपति, राज्यपालों के तथा कई अलग-अलग ध्वज प्रचलित थे। तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी ने न केवल अलग ध्वज की मांग को कठोरता से ठुकरा दिया था बल्कि सेना के रेजीमेंटों को छोड़कर विभिन्न झंडों का अस्तित्व समाप्त कर केवल तिरंगे को ही मान्यता दी थी। उसके बाद से अब विभिन्न सरकारी इमारतों, राष्ट्रपति भवन तथा राजभवनों आदि पर केवल तिरंगा ही फहराया जाता है। खालिस्तान, गोरखालैंड, बोडोलैंड वगैरह अलगाव वादी आन्दोलनकारियों ने अपने-अपने

---

* भूतपूर्व विभागाध्यक्ष और संकायाध्यक्ष, विधि विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ।

ध्वज घोषित कर रखे हैं तथा गाहे-बगाहे समाचार-पत्रों तथा मीडिया में नजर आते हैं । यहां यह भी उल्लेखनीय है कि राज्यों ने अपने-अपने प्रतीक चिह्न बना रखें हैं लेकिन सरकारी पत्रों आदि में "भारत सरकार की सेवा में" ही अंकित किया जाता है । सरकारी पोस्टेज स्टाम्प केंद्र तथा राज्यों के लिए समान हैं । कुछ वर्ष पूर्व तक रसीदी टिकटों पर संबंधित राज्य का नाम छपा होता था लेकिन अब ऐसा नहीं है ।

भारत के संविधान का पहला अनुच्छेद भारत को राज्यों का संघ होना उद्घोषित करता है तथा नए राज्यों का प्रवेश या स्थापना, नए राज्यों के निर्माण तथा वर्तमान राज्यों के क्षेत्रों, सीमाओं या नाम में परिवर्तन के लिए राष्ट्रपति की पूर्व सिफारिश पर कानून बनाकर लागू करने के लिए संसद् को अधिकृत करता है । संविधान की पहली अनुसूची में राज्य तथा केंद्र शासित राज्य क्षेत्र वर्णित हैं तथा संसद् साधारण बहुमत से इनमें कोई परिवर्तन करने के लिए स्वतंत्र है । भारतीय संविधान में यों तो एक परिसंघ संविधान के बहुत सारे लक्षण विद्यमान हैं तथा एस. आर. बोम्मई बनाम भारत संघ (1994) के वाद में सुप्रीम कोर्ट ने परिसंघवाद को एक आधारिक लक्षण भी घोषित किया है लेकिन यह आदर्श परिसंघ माने जाने वाले अमेरिकी संविधान से इस मामले में फर्क है कि वहां तत्समय 13 विभिन्न देशों ने अपनी सुरक्षा अक्षुण्ण रखने तथा कुछ अन्य अत्यंत सीमित विषयों पर कानून बनाने के लिए संविधान का निर्माण किया था । वहां राज्यों के अलग संविधान, झंडे, राष्ट्रगान, नागरिकता तथा कानून है वहां केन्द्र तथा राज्यों की कार्यपालिका तथा विधायिका ही नहीं न्यायपालिका भी अलग-अलग हैं । यह दूसरी बात है कि समय के साथ वहां केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति आकार ले चुकी है तथा वहां के लोग अपने को संयुक्त राज्य का नागरिक बतलाने में अधिक गर्व महसूस करते हैं ।

भारतीय संविधान केंद्र, राज्यों तथा केंद्र शासित क्षेत्रों के लिए प्रावधान करता है लेकिन यहां एकल नागरिकता है, राज्यपालों की नियुक्ति होती है तथा एकल न्यायपालिका है जो संविधान तथा अन्य कानूनों का अर्थान्वयन करती है । भारत में एक राष्ट्रध्वज, जो केसरिया, श्वेत तथा हरी पट्टियों का है तथा बीच में सारनाथ स्तूप का धर्म चक्र अंकित है जिसमें चौबीस तीलियां हैं । राष्ट्रध्वज को फहराने/उतारने आदि को नियमित करने के लिए भारतीय ध्वज संहिता (2002) है तथा इसके दुरुपयोग को रोकने/दंडित करने के लिए प्रतीक और नाम (अनुचित प्रयोग निवारण) अधिनियम, 1950 तथा राष्ट्रीय सम्मान (अपमान की रोकथाम) अधिनियम,

1971 कानून लागू हैं । संविधान में उल्लिखित मौलिक दायित्वों के अनुच्छेद 51(क) में संविधान का पालन करने और उसके आदर्शों ; संस्थाओं ; राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगान का आदर करने का नागरिकों का पुनीत दायित्व बतलाया गया है ।

राष्ट्रीयध्वज तिरंगा भारत के राष्ट्रीय गौरव का प्रतीक है । इस पर सभी को दिल से गर्व है और इसकी आन-बान-शान के लिए प्रत्येक देशवासी अपना सर्वस्व न्यौछावर करने के लिए प्राणप्रण से तैयार रहता है यह हमारी आशाओं तथा आकांक्षाओं का प्रतिबिम्ब है । भारत संघ बनाम नवीन जिंदल (2004) के वाद में सुप्रीम कोर्ट ने घोषणा की थी कि तिरंगे को फहराने का हर भारतीय को मौलिक अधिकार है । हालांकि कई बार अति उत्साह में झंडे के प्रयोग को लेकर दुश्वारियां भी आई हैं । 1994 में मिस यूनिवर्स बनी सुष्मिता सेन की बग्गी के पिछले हिस्से में तिरंगे को बांधने पर विवाद हुआ था, 2001 में मंदिरा बेदी द्वारा तिरंगे बार्डर वाली साड़ी का प्रयोग करने तथा उसी वर्ष सचिन तेंदुलकर द्वारा तिरंगे वाला केक काट कर आलोचना का शिकार हुए थे । कई फिल्मों में राष्ट्रध्वज तथा राष्ट्रगान के प्रतिषिद्ध उपयोग पर भी लोगों की भृकुटियां तनी हैं । अंतर्राष्ट्रीय मैचों तथा सांस्कृतिक कार्यक्रमों आदि में हम अपनी खुशी जाहिर करने के लिए तिरंगे को लहराकर आनंदित होते हैं ।

संविधान में राज्यों को अपना अलग ध्वज रखने/बनाने की अनुमति देने का कोई प्रावधान नहीं है । राज्यों का सृजन प्रशासकीय कारणों से हुआ है तथा अनुच्छेद 355 के अनुसार संघ का यह कर्तव्य है कि बाह्य आक्रमण और आंतरिक अशांति से प्रत्येक राज्य की संरक्षा करे और प्रत्येक राज्य की सरकार का इस संविधान के उपबंधों के अनुसार चलाया जाना सुनिश्चित करे । अनुच्छेद 256 से 263 तक के अनुच्छेदों में सामान्य स्थितियों में संघ को राज्य पर नियंत्रण के विभिन्न अधिकार उल्लिखित हैं जिसमें संसद् द्वारा बनाई गई विधियों का अनुपालन सुनिश्चित कराना, राज्य की कार्य पालिका शक्ति को संघ की तात्विक शक्ति में अड़चन न बनने देना, राष्ट्रीय और जलमार्ग सहित राष्ट्रीय महत्व के संचार साधनों की देख-रेख तथा रेलों का संरक्षण करना इत्यादि शामिल है । अनुच्छेद 285 से 289 में अंतर शासन-कर मुक्ति के प्रावधान करता है जिसके अंतर्गत संघ या राज्य आपस में एक-दूसरे के विरुद्ध करारोपण नहीं करेंगे । इन प्रावधानों से स्पष्ट है कि संविधान राज्यों को अलग इकाई के तौर पर नहीं देखता है उनमें सहकारिता का भाव है-स्पर्धा का नहीं । राज्य केंद्र का अभिकर्ता या

उपकरण नहीं हैं तथा शक्तिशाली केंद्र की तरह शक्तिशाली राज्य भी आज की आवश्यकता हैं । ऐसी मांगों से क्षुद्र राजनैतिक स्वार्थ भले ही सिद्ध हो जाएं, देश में अलगाववाद का बीजारोपण होगा जो देश की अखंडता के लिए खतरा बन सकता है । परिसंघ हमारी राजव्यवस्था में विद्यमान है और हमें उसकी जीवंत ऊर्जा का अनुभव होता है ।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि अनुच्छेद 1(1) में भारत को राज्यों का संघ कहा गया है । इसे सोच समझकर संघ कहा गया है, परिसंघ नहीं । प्रारूपण समिति यह स्पष्ट कर देना चाहती थी कि यद्यपि भारत एक परिसंघ है, यह परिसंघ राज्यों के साथ करार का परिणाम नहीं है । राज्यों को विलग होने का अधिकार नहीं है वे संघ से अलग नहीं हो सकते परिसंघ नष्ट नहीं किया जा सकता है । इसीलिए वह संघ है । प्रशासन की सुविधा के लिए देश का विभिन्न राज्यों में बांटा जा सकता है किन्तु देश एक अखंड और अविभाज्य इकाई है । कर्नाटक के मुख्यमंत्री की अलग झंडे की मांग आज भले ही निश्छल लगे लेकिन यह ऐसा पैंडोरा बाक्स साबित हो सकता है जिसके खुलते ही राष्ट्रघाती शक्तियां सर उठाने लगेंगी । यह अनुचित, अनैतिक और संविधान के शब्दों और भावों के विरुद्ध है । इससे देश की अखंडता पर आंच आ सकती है ।

केंद्र सरकार को समय रहते इसे सख्ती से दबाना चाहिए तथा संविधान के उपलब्ध प्रावधानों में प्रशासकीय आदेश निर्गत करने चाहिए जिससे भविष्य में भी ऐसी मांगे न उठें ।

उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका

अगस्त, 2018

निर्णय-सूची

पृष्ठ संख्या

अर्जुन शंकरभाई **बनाम** हरीशभाई रमनभाई राठौड़
(देखिए – पृष्ठ संख्या 165)

गणपति और एक अन्य **बनाम** तमिलनाडु राज्य 306

जी. सरस्वती और एक अन्य **बनाम** रतीनाम्मल और अन्य 228

दाताराम सिंह **बनाम** उत्तर प्रदेश राज्य और एक अन्य 199

दिनेशभाई चंदूभाई पटेल **बनाम** गुजरात राज्य और अन्य 165

नवीन कुमार **बनाम** विजय कुमार और अन्य 180

पंकज जैन **बनाम** भारत संघ और एक अन्य 256

पी. मीनाक्षीसुन्दरम् **बनाम** पी. विजय कुमार और एक अन्य 318

बन्नारेड्डी और अन्य **बनाम** कर्नाटक राज्य और अन्य 283

बालूभाई रावजीभाई अहीर **बनाम** गुजरात राज्य और अन्य
(देखिए – पृष्ठ संख्या 165)

भरतकुमार रमेशचंद्र बरोट **बनाम** गुजरात राज्य 298

मनहरभाई मूलजीभाई ककाड़िया **बनाम** गुजरात राज्य और अन्य
(देखिए – पृष्ठ संख्या 166)

मनीष पटेल (अधिवक्ता) **बनाम** हरीशभाई रमनभाई राठौड़ और अन्य
(देखिए – पृष्ठ संख्या 165)

मुथुलक्ष्मी **बनाम** तमिलनाडु राज्य
(देखिए – पृष्ठ संख्या 306)

सुंदरम् फाइनेंस लि., तिलक ज्येष्ठ प्रबंधक (विधिक) द्वारा प्रतिनिधित्व **बनाम** अब्दुल समद और एक अन्य 210

पृष्ठ संख्या

सुनील सामदरिया **बनाम** भारत संघ **मार्फत** सचिव, विधि और न्याय मंत्रालय और अन्य 234

हरीशभाई रमनभाई राठौड़ **बनाम** गुजरात राज्य और एक अन्य (देखिए – पृष्ठ संख्या 165)

संसद् के अधिनियम

केन्द्रीय विश्वविद्यालय अधिनियम, 2009 1 – 32

राज्य-ध्वज की मांग अनुचित, अनैतिक ही नहीं देश की अखंडता पर आंच है v – viii

प्रिवी कौंसिल 1 – 53

पृष्ठ संख्या

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2)

– धारा 88 – हाजिरी के लिए बंधपत्र स्वीकार करने की न्यायालय की शक्ति – न्यायालय को प्रदत्त बंधपत्र स्वीकार करके अभियुक्त को रिहा करने की शक्ति अभियुक्त की उस न्यायालय या ऐसे किसी अन्य न्यायालय में, जहां मामला अंतरित किया जा सकता है, हाजिरी सुकर बनाने के लिए है, इसलिए, धारा 88 में प्रयुक्त 'मे' (सकता है) शब्द न्यायालय को इस संबंध में विवेकाधिकार प्रदान करता है कि वह न्यायालय में हाजिर होने वाले अभियुक्त व्यक्ति से बंधपत्र स्वीकार करे अथवा नहीं ।

पंकज जैन बनाम **भारत संघ और एक अन्य** 256

– धारा 88 – अभियुक्त को बंधपत्र पर रिहा करने की शक्ति – जब किसी अभियुक्त के विरुद्ध गैर-जमानतीय वारंट जारी कर दिया गया हो और उसके विरुद्ध धारा 82 तथा धारा 83 के अधीन कार्यवाहियां संस्थित कर दी गईं हो तो वह न्यायालय में हाजिर होने अथवा न होने के संबंध में स्वतंत्र कर्ता नहीं रह जाता है, इसलिए वह धारा 88 के अधीन बंधपत्र स्वीकार करके रिहा किए जाने का हकदार नहीं होगा ।

पंकज जैन बनाम **भारत संघ और एक अन्य** 256

– धारा 377 [सपठित भारतीय दंड संहिता, 1860 की धारा 302] – राज्य द्वारा अभियुक्त के दंडादेश में वृद्धि के लिए उच्च न्यायालय में अपील – जहां दोषसिद्ध अभियुक्त को अपील की दस्ती सूचना तामील की गई हो और इसके बावजूद वह न्यायालय में उपसंजात न हुआ हो और अपनी दोषमुक्ति या दंडादेश में कमी करने के लिए कोई अपील भी फाइल न की हो, तो उच्च न्यायालय द्वारा न्याय-मित्र की नियुक्ति करने के पश्चात् मामले के गुणागुण के आधार पर दंडादेश में वृद्धि करते हुए पारित किए गए निर्णय को अवैध,

पृष्ठ संख्या

अधिकारिता रहित या प्रतिकूल प्रभाव डालने वाला नहीं कहा जा सकता है ।

भरतकुमार रमेशचंद्र बरोट बनाम **गुजरात राज्य** 298

– धारा 436 – जमानत का अधिकार – जमानत मंजूर करने या उससे इनकार करने के लिए कारक – संदिग्ध व्यक्ति को रिमांड पर भेजने या अभियुक्त व्यक्ति को पुलिस अभिरक्षा या न्यायिक अभिरक्षा में भेजने संबंधी किसी आवेदन पर विचार करते समय मानवीय रुख अपनाने की आवश्यकता – यदि अभियुक्त का अन्वेषण के दौरान और आरोप पत्र फाइल करने के पश्चात् भी गिरफ्तार नहीं किया जाता है तो इसका यह अभिप्राय होगा कि अभियुक्त के फरार होने या विचारण में बाधा पहुंचाने की आशंका नहीं है, इसलिए, विचारण न्यायाधीश को जमानत मंजूर करने या उससे इनकार करने संबंधी अपने विवेकाधिकार का प्रयोग न्यायसम्मत रीति में और मानवीय तरीके से तथा सहानुभूतिपूर्वक करना चाहिए ।

दाताराम सिंह बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य और एक अन्य** 199

– धारा 482, 157 और 154 – उच्च न्यायालय की अंतर्निहित अधिकारिता – प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को चुनौती – उच्च न्यायालय द्वारा प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को कुछ अपराधों के संबंध में अभिखंडित करना और कुछ अपराधों के संबंध में कायम रखना – उच्च न्यायालय इस बात की परीक्षा करने के लिए कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट की तथ्यात्मक अंतर्वस्तु से कोई प्रथमदृष्ट्या संज्ञेय अपराध प्रकट होता है अथवा नहीं, अन्वेषक अभिकरण के रूप में कार्य नहीं कर सकता और न ही अपील न्यायालय की तरह शक्तियों का प्रयोग कर सकता है क्योंकि उच्च न्यायालय की अंतर्निहित शक्तियों को किसी भी सीमा तक विस्तारित नहीं किया जा सकता और न ही ऐसी शक्तियों की तुलना उच्च न्यायालय की

पृष्ठ संख्या

अपीली शक्तियों से की जा सकती है ।

दिनेशभाई चंदूभाई पटेल बनाम **गुजरात राज्य और अन्य** 165

दंड संहिता, 1860 (1860 का 45)

– धारा 148, 341, 504 और 326/149 – अभियुक्तों द्वारा आहत व्यक्तियों पर हमला – आपसी दुश्मनी – आहत और अन्य साक्षियों के कथनों में विरोधाभास – दोषमुक्ति – जहां घटना के वृत्तांत के संबंध में आहत साक्षियों के साथ-साथ अन्य साक्षियों के कथनों में विरोधाभास हो, कतिपय साक्षी पक्षद्रोही हो गए हों और आहत व्यक्तियों तथा अभियुक्तों के बीच पहले से चली आ रही दुश्मनी का तथ्य विद्यमान हो तथा आहत व्यक्तियों का घटना के पश्चात् का आचरण संदेहास्पद हो, तो मामला युक्तियुक्त संदेह के परे साबित न होने के कारण अभियुक्तों की दोषमुक्ति उचित है ।

बन्नारेड्डी और अन्य बनाम **कर्नाटक राज्य और अन्य** 283

– धारा 302 [सपठित साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 3] – हत्या – नातेदार/हितबद्ध प्रत्यक्षदर्शी साक्षियों के साक्ष्य की ग्राह्यता – जहां अभियुक्तों द्वारा मृतकों पर चाकू और दरांती से आक्रमण करके नातेदार प्रत्यक्षदर्शी साक्षियों की मौजूदगी में हत्या कारित की गई हो और इन साक्षियों के परिसाक्ष्य संगत और विश्वसनीय पाए गए हों तथा उनकी संपुष्टि चिकित्सीय साक्ष्य से हुई हो तथा अभियुक्तों की दोषिता युक्तियुक्त संदेह के परे साबित की गई हो, तो ऐसे साक्षियों को केवल हितबद्ध साक्षी कहकर उनके परिसाक्ष्य को त्यक्त नहीं किया जा सकता है और उनके साक्ष्य के आधार पर की गई अभियुक्तों की दोषसिद्धि उचित और न्यायसंगत है ।

गणपति और एक अन्य बनाम **तमिलनाडु राज्य** 306

– धारा 302 [सपठित दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 377] – हत्या – विचारण न्यायालय द्वारा अभियुक्त को

पृष्ठ संख्या

हत्या के अपराध के लिए दोषसिद्ध किया जाना – 10 वर्ष का दंडादेश दिया जाना – जहां सेशन न्यायाधीश द्वारा अभियुक्त को हत्या कारित करने के अपराध के लिए धारा 302 के अधीन दोषसिद्ध किया गया हो, तो विधि के अधीन जो एकमात्र दंड दिया जा सकता है वह या तो आजीवन कारावास है या मृत्युदंड और इसलिए, उच्च न्यायालय द्वारा 10 वर्ष के कारावास को बढ़ाकर आजीवन कारावास करना न्यायोचित है ।

भरतकुमार रमेशचंद्र बरोट बनाम **गुजरात राज्य** 298

माध्यस्थम् और सुलह अधिनियम, 1996 (1996 का 26)

– धारा 36, 42 और 32 [सपठित सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 39, 47, आदेश 21 नियम 27] – माध्यस्थम् के अधिनिर्णय का प्रवर्तन – माध्यस्थम् के अधिनिर्णय का प्रवर्तन कराने के लिए देश में कहीं भी ऐसे सक्षम न्यायालय में आवेदन फाइल किया जा सकता है और उसे निष्पादित कराया जा सकता है, जहां निर्णीत-ऋणी की परिसंपत्तियां स्थित हैं और इसके निमित्त उस न्यायालय से डिक्री का अंतरण अभिप्राप्त करने की आवश्यकता नहीं है जिसकी अधिकारिता में माध्यस्थम् कार्यवाहियां हुईं थीं ।

सुंदरम् फाइनेंस लि., तिलक ज्येष्ठ प्रबंधक (विधिक) द्वारा प्रतिनिधित्व बनाम **अब्दुल समद और एक अन्य** 210

मोटर यान अधिनियम, 1988 (1988 का 59)

– धारा 2(30) और धारा 50 – मोटर यान दुर्घटना में उल्लंघनकारी यान के स्वामी का दायित्व – यान का स्वामी – जहां यान का रजिस्ट्रीकृत स्वामी अपने यान का विक्रय/अंतरण करने के बावजूद रजिस्ट्रीकर्ता प्राधिकारी के अभिलेख में उसका नाम उस यान के स्वामी के रूप में प्रतिबिंबित होता है वहां वह इस अधिनियम के प्रयोजनों के लिए

पृष्ठ संख्या

यान का स्वामी माना जाएगा और स्वामी के रूप में अपने दायित्व से मुक्त नहीं होगा ।

नवीन कुमार बनाम **विजय कुमार और अन्य** 180

संविधान, 1950

– अनुच्छेद 136 [सपठित विनिर्दिष्ट अनुतोष अधिनियम, 1963 की धारा 12 और 15] – विशेष इजाजत अपील – संपत्ति का विक्रय करार – संपत्ति विल्लंगम रहित होने का मिथ्या अभिवाक् करना – विक्रय करार का निष्पादन नहीं होना – निष्पादन कराने के लिए विनिर्दिष्ट वाद फाइल करना – वाद खारिज किया जाना – यदि पक्षकारों के बीच किसी संपत्ति के बारे में विक्रय करार, इस निबंधन के अधीन किया जाता है कि संपत्ति किसी भी विल्लंगम से रहित है, किन्तु बाद में उस संपत्ति पर बैंक का ऋण बकाया पाया जाता है तो क्रेता पर यह निर्भर करता है कि वह या तो बैंक का ऋण संदत्त करके विक्रय करार निष्पादित करा ले या उसे शून्य घोषित करा दे, किन्तु, यदि वह उस विक्रय करार का निष्पादन कराने के लिए विनिर्दिष्ट पालन के लिए वाद फाइल करता है तो वह ऐसा तभी कर सकता है जब वह स्वयं उस करार के अपने भाग का पालन करने के लिए सदैव ही "तैयार और रजामंद" रहा है, अन्यथा नहीं ।

पी. मीनाक्षीसुन्दरम् बनाम **पी. विजय कुमार और एक अन्य** 318

– अनुच्छेद 217(2)(क) और 224 – उच्च न्यायालय में अपर न्यायाधीशों की नियुक्ति – अर्हता – अनुच्छेद 217(2)(क) में यह उपबंधित है कि अपर न्यायाधीश के पद पर नियुक्ति के लिए अभ्यर्थी द्वारा कम-से-कम 10 वर्ष तक न्यायिक पद 'धारण किया गया हो', से यह उपदर्शित नहीं होता है कि अभ्यर्थी दस वर्ष से कोई न्यायिक पद धारण करने के अतिरिक्त अनुच्छेद 224 के अधीन नियुक्ति की अधिसूचना

पृष्ठ संख्या

जारी होने के समय भी न्यायिक पद धारण कर रहा हो ।

सुनील सामदरिया बनाम **भारत संघ** मार्फत सचिव, **विधि और न्याय मंत्रालय और अन्य** 234

– अनुच्छेद 224 – उच्च न्यायालय में अपर न्यायाधीशों की नियुक्ति – पदावधि – दो वर्ष से कम अवधि के लिए नियुक्ति – जब अपर न्यायाधीश के रूप में नियुक्त व्यक्ति दो वर्ष की पदावधि से पूर्व 62 वर्ष की अधिवर्षिता की आयु प्राप्त कर लेने के पश्चात् सेवानिवृत्त हो रहा हो, तो ऐसी नियुक्ति को अनुच्छेद 224 के प्रतिकूल नहीं कहा जा सकता है ।

सुनील सामदरिया बनाम **भारत संघ** मार्फत **सचिव, विधि और न्याय मंत्रालय और अन्य** 234

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 (1908 का 5)

– धारा 100 और आदेश 41, नियम 31 – लैटर्स पेटेंट अपील – लैटर्स पेटेंट अपील का निपटारा करते समय न्यायालयों को अपने निर्णय में पक्षकारों द्वारा स्थापित मामले के तथ्यात्मक वर्णन, निचले दोनों न्यायालयों के निष्कर्षों, मामले को लागू विधिक सिद्धांतों के प्रकाश में पक्षकारों द्वारा दी गई दलीलों का उल्लेख करके न्यायिक विवेकबुद्धि का प्रयोग करते हुए सकारण आदेश पारित करना चाहिए ।

जी. सरस्वती और एक अन्य बनाम **रतीनाम्मल और अन्य** 228

[2018] 3 उम. नि. प. 165

दिनेशभाई चंदूभाई पटेल

बनाम

गुजरात राज्य और अन्य

तथा

बालूभाई रावजीभाई अहीर

बनाम

गुजरात राज्य और अन्य

तथा

अर्जुन शंकरभाई राठौड़

बनाम

हरीशभाई रमनभाई राठौड़

तथा

मनीष पटेल (अधिवक्ता)

बनाम

हरीशभाई रमनभाई राठौड़ और अन्य

तथा

हरीशभाई रमनभाई राठौड़

बनाम

गुजरात राज्य और एक अन्य

तथा

मनहरभाई मूलजीभाई ककाड़िया

बनाम

गुजरात राज्य और अन्य

5 जनवरी, 2018

न्यायमूर्ति आर. के. अग्रवाल और न्यायमूर्ति अभय मनोहर सप्रे

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2) – धारा 482, 157 और 154 – उच्च न्यायालय की अंतर्निहित अधिकारिता – प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को चुनौती – उच्च न्यायालय द्वारा प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को कुछ अपराधों के संबंध में अभिखंडित करना और कुछ अपराधों के संबंध में कायम रखना – उच्च न्यायालय इस बात की परीक्षा करने के लिए कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट की तथ्यात्मक अंतर्वस्तु से कोई प्रथमदृष्ट्या संज्ञेय अपराध प्रकट होता है अथवा नहीं, अन्वेषक अभिकरण के रूप में कार्य नहीं कर सकता और न ही अपील न्यायालय की तरह शक्तियों का प्रयोग कर सकता है क्योंकि उच्च न्यायालय की अंतर्निहित शक्तियों को किसी भी सीमा तक विस्तारित नहीं किया जा सकता और न ही ऐसी शक्तियों की तुलना उच्च न्यायालय की अपीली शक्तियों से की जा सकती है ।

वर्तमान मामले का संबंध एक ऐसे विवादग्रस्त भूमि के टुकड़े से है, जो कि एक कुटुम्ब के सदस्यों के संयुक्त स्वामित्व में था । कुटुम्ब के छह सदस्यों ने (जिन्हें इसमें इसके पश्चात् "परिवादी" कहा गया है) पुलिस आयुक्त के समक्ष यह शिकायत करते हुए एक संयुक्त परिवाद फाइल किया कि अपीलार्थी ने अनेक अन्य नामित व्यक्तियों के साथ षड्यंत्र करके संयुक्त रूप से परिवादियों की निरक्षरता, गरीबी और अनभिज्ञता का फायदा उठाते हुए उनके साथ कपट और धोखा किया है और उनसे विवादग्रस्त भूमि के संबंध में मिथ्या हस्ताक्षरों से मिथ्या मुख्तारनामा निष्पादित कराया है । यह अभिकथन किया गया है कि इन व्यक्तियों ने पुनः इस षडयंत्र को अग्रसर करते हुए विवादग्रस्त भूमि को अनेक व्यक्तियों के पक्ष में अंतरित करा लिया तथा उन्हें विवादग्रस्त भूमि पर सन्निर्माण करने में समर्थ बनाने के लिए अवैध रूप से सन्निर्माण नक्शे मंजूर करा लिए । परिवादियों ने अपने परिवाद के साथ ऊपर नामित व्यक्तियों द्वारा अभिकथित रूप से कारित प्रथमदृष्ट्या मामला दर्शित करने के लिए समस्त विवादग्रस्त दस्तावेज़ संलग्न किए । इसके पश्चात् कलक्टर (एस. आई. टी.) के समक्ष छह नामित व्यक्तियों के विरुद्ध एक अन्य परिवाद फाइल किया गया जिसमें उन व्यक्तियों द्वारा अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति

(अत्याचार निवारण) अधिनियम, 1989 की धारा 3, 7 और 11 के साथ पठित भारतीय दंड संहिता, 1860 की धारा 34, 114, 120ख, 420, 465, 468, 471 और 476 के अधीन दंडनीय अभिकथित अपराध कारित करने के लिए अभियोजन चलाने की ईप्सा की गई थी । उस परिवाद में पूर्ववर्ती परिवाद की तरह कुछ नए तथ्यों सहित सविस्तार अभिकथन भी उपवर्णित किए गए । इन परिवादियों में से एक परिवादी द्वारा 8 नामित व्यक्तियों के विरुद्ध कलक्टर, जिला विवाद प्रतितोष पीठ के समक्ष एक और तीसरा परिवाद फाइल किया गया था जिसमें अधिक विस्तृत तथ्यों सहित प्रथम दो परिवादों में किए गए अभिकथनों के लगभग समान अभिकथन किए गए और उसमें पूर्ववर्ती परिवादों में नामित अपराध कारित करने के लिए उन्हें अभियोजित करने की ईप्सा की गई । उपर्युक्त परिवादों के परिणामस्वरूप प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज की गई । अपीलों का प्रस्तुत समूह दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 482 के अधीन ऊपर उल्लिखित तीन परिवादों में नामित अभियुक्त व्यक्तियों द्वारा उच्च न्यायालय में फाइल किए गए दांडिक आवेदनों से उद्भूत हुआ है, जिसमें ऊपर उल्लिखित प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को अभिखंडित करने की प्रार्थना की गई है । उच्च न्यायालय के एकल न्यायाधीश ने आक्षेपित निर्णय द्वारा दांडिक आवेदनों को भागतः मंजूर कर लिया जबकि कुछ अपराधों के संबंध में प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को अभिखंडित करने से इनकार कर दिया । इसी निर्णय के विरुद्ध दोनों पक्षकारों, अर्थात्, परिवादियों और अभियुक्त व्यक्तियों ने व्यथित महसूस करते हुए ये अपीलें फाइल की हैं । अपीलों का तदनुसार निपटारा करते हुए,

अभिनिर्धारित – इस प्रश्न के संबंध में विधि उचित रूप से सुस्थापित है कि कब किसी प्रथम इत्तिला रिपोर्ट के रजिस्ट्रीकरण को संविधान के अनुच्छेद 226 या दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन अभियुक्तों द्वारा उसे अभिखंडित करने की ईप्सा करते हुए चुनौती दी जाती है और उच्च न्यायालय की शक्तियां क्या हैं और उच्च न्यायालय को ऐसे प्रश्न के संबंध में किस प्रकार कार्यवाही करनी चाहिए । (पैरा 26)

उच्च न्यायालय अपनी उस अधिकारिता की सीमा का अनुभव करने में असफल रहा, जो कि वह अभियुक्त व्यक्तियों द्वारा अनेक संज्ञेय अपराध कारित किए जाने की शिकायत करने वाली किसी प्रथम इत्तिला रिपोर्ट की वैधता की परीक्षा करते समय प्रयोग करने के लिए धारण करता है । उच्च न्यायालय, इस बात की परीक्षा करने की दृष्टि से कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट की तथ्यात्मक अंतर्वस्तु से कोई प्रथमदृष्ट्या संज्ञेय अपराध प्रकट होता है अथवा नहीं, अन्वेषक अभिकरण के रूप में कार्य नहीं कर सकता और न

ही अपील न्यायालय की तरह शक्तियों का प्रयोग कर सकता है । इस प्रश्न की परीक्षा प्रथम इत्तिला रिपोर्ट की अंतर्वस्तु और सबूत की अपेक्षा न करने वाली प्रथमदृष्ट्या सामग्री, यदि कोई है, को ध्यान में रखते हुए, की जानी थी । इस प्रक्रम पर, उच्च न्यायालय साक्ष्य का मूल्यांकन नहीं कर सकता था और न ही प्रथम इत्तिला रिपोर्ट की अंतर्वस्तु और उस सामग्री से, जिसका अवलंब लिया गया है, अपना कोई निष्कर्ष निकाल सकता था । यह तो और भी कठिन था, जब उस सामग्री के संबंध में, जिसका अवलंब लिया गया है, परिवादियों और अभियुक्त व्यक्तियों द्वारा विवाद किया गया हो । ऐसी स्थिति में, इस प्रक्रम पर अन्वेषक प्राधिकारी का यह कर्तव्य बन जाता है कि वह जांच करे और इसके पश्चात् जैसे ही आरोप पत्र फाइल कर दिया जाता है न्यायालय का कर्तव्य बनता है कि वह ऐसी सामग्री सहित उन प्रश्नों की परीक्षा करे कि ऐसी सामग्री का कितना और किस सीमा तक अवलंब लिया जा सकता है । जैसे ही न्यायालय यह निष्कर्ष निकालता है कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में प्रथमदृष्ट्या कोई संज्ञेय अपराध कारित किया जाना प्रकट होता है तो वह अपना कार्य रोक देगा और अन्वेषण मशीनरी को संहिता में विहित प्रक्रिया के अनुसार अपराध का पता लगाने संबंधी जांच आरंभ करने की कार्यवाही करने के लिए अनुज्ञात करेगा । (पैरा 30, 31 और 32)

चूंकि उच्च न्यायालय की अंतर्निहित शक्तियां, जो कि स्पष्ट रूप से परिभाषित नहीं हैं, अपने स्वरूप में ही अंतर्निहित हैं इसलिए उन्हें किसी सीमा तक विस्तारित नहीं किया जा सकता है और न ही ऐसी शक्तियों की तुलना संहिता में परिभाषित उच्च न्यायालय की अपीली शक्तियों से की जा सकती है । अंतर्निहित शक्तियों का प्रयोग करते समय इस न्यायालय द्वारा अधिकथित मापदंडों को सदैव ध्यान में रखा जाना चाहिए अन्यथा इसके परिणामस्वरूप मामले को विनिश्चित करते समय अधिकारिता संबंधी भूल कारित हो जाएगी । इस मामले में भी यही स्थिति है । परिवादों और प्रथम इत्तिला रिपोर्ट का परिशीलन करने पर परिवाद और प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में परिवादियों द्वारा अभिकथित अभियुक्त व्यक्तियों के विरुद्ध प्रथमदृष्ट्या विभिन्न संज्ञेय अपराध कारित किया जाना प्रकट होता है और इसलिए उच्च न्यायालय को अभियुक्त व्यक्तियों द्वारा फाइल किए गए आवेदन को भागतः खारिज करने की बजाय प्रश्नगत संपूर्ण प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को कायम रखने संबंधी आवेदन को पूर्ण रूप से खारिज कर देना चाहिए था । अब यह आवश्यक हो गया है कि इस मामले का अन्वेषण, जो कि प्रश्नगत प्रथम इत्तिला रिपोर्ट की विषयवस्तु है, अन्वेषण प्राधिकारियों द्वारा संहिता में

विहित प्रक्रिया के अनुसार किया जाए । (पैरा 34, 35 और 38)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[2015]	(2015) 11 एस. सी. सी. 730 : **जेटकिंग इन्फोट्रेन लिमिटेड** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य** ;	36
[2011]	(2011) 3 एस. सी. सी. 351 : **हरशेन्द्र कुमार डी.** बनाम **रेवतीलता कोले** ;	36
[1983]	[1983] 1 उम. नि. प. 12 = ए. आई. आर. 1982 एस. सी. 949 : **पश्चिमी बंगाल राज्य और अन्य** बनाम **स्वप्न कुमार गुहा और अन्य** ।	27,37

दांडिक अपीली अधिकारिता : 2018 की दांडिक अपील सं. 12, 13, 14, 15, 16 और 17.

2016 के विशेष दांडिक आवेदन सं. 4357 में गुजरात उच्च न्यायालय की अहमदाबाद न्यायपीठ के तारीख 10 जुलाई, 2017 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील ।

उपस्थित होने वाले पक्षकारों की ओर से सर्वश्री दुष्यंत दवे, हरिन पी. रावल, (सुश्री) मीनाक्षी अरोड़ा, यतिन ओझा, ज्येष्ठ अधिवक्ता, (सुश्री) गरिमा बजाज, प्रद्युमन गोहिल, (श्रीमती) तरुणा सिंह गोहिल, मोहित पॉल, पुनीत के. जी., अनुग्रह नीरज एक्का, शमिक संजनवाला, सुनील कौंडल, कैलाश पांडेय, रंजीत सिंह, गैचांगपोउ गैंगमई, महेश अग्रवाल, अभिनव अग्रवाल, ई. सी. अग्रवाल, पुरविश जितेन्द्र मलकान, अपूर्व कपाड़िया, (सुश्री) धरिता पी. मलकान, (सुश्री) हेमन्तिका वाही, (सुश्री) जेसल वाही, (सुश्री) पूजा सिंह और (सुश्री) शोधिका शर्मा

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति अभय मनोहर सप्रे ने दिया ।

न्या. सप्रे – इजाजत दी जाती है ।

2. ये अपीलें गुजरात उच्च न्यायालय की अहमदाबाद न्यायपीठ द्वारा 2016 के दांडिक प्रकीर्ण आवेदन (प्रथम इत्तिला रिपोर्ट/आदेश को अभिखंडित और अपास्त करने के लिए) सं. 16731, 2016 के दांडिक प्रकीर्ण आवेदन सं. 13733 और 14842, 2016 के विशेष दांडिक पुनरीक्षण आवेदन सं. 4387, 4357 और 4951, 2016 के दांडिक प्रकीर्ण आवेदन सं. 16731 में 2016 के दांडिक प्रकीर्ण आवेदन सं. 32440 में पारित तारीख 10 जुलाई, 2017 के उस एक ही अंतिम निर्णय और आदेश के विरुद्ध फाइल की गई हैं, जिसके द्वारा उच्च न्यायालय के एकल न्यायाधीश ने प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को अभिखंडित करने संबंधी आवेदन को भागतः मंजूर कर लिया था ।

3. अपीलों के इस समूह में अंतर्वलित विवाद्यकों का मूल्यांकन करने की दृष्टि से कुछ सुसंगत तथ्यों का उल्लेख करना आवश्यक है । ये तथ्य विशेष इजाजत याचिका से संबंधित पेपरबुक में से लिए गए हैं ।

4. अपीलों के इस समूह के पक्षकारों के बीच उद्‌भूत होने वाले विवाद का संबंध आवश्यक रूप से ग्राम अल्थान, तालुका एवं शहर – सूरत में स्थित टाउन प्लानिंग स्कीम सं. 36 (अल्थान) के 3475 वर्ग मीटर माप वाले प्लॉट सं. 71, सर्वेक्षण सं. 96/3/2, ब्लॉक सं. 121 में 5281 वर्ग मीटर माप वाले भूखंड से है (जिसे इसमें इसके पश्चात् "विवादग्रस्त भूमि" कहा गया है) ।

5. विवादग्रस्त भूमि राठौड़ कुटुम्ब के सदस्यों के संयुक्त स्वामित्व में थी, जो कि उनके अनुसार हलपई जाति के थे ।

6. राठौड़ कुटुम्ब के छह सदस्यों ने (जिन्हें इसमें इसके पश्चात् "परिवादी" कहा गया है) सूरत के पुलिस आयुक्त के समक्ष तारीख 25 अप्रैल, 2011 को एक संयुक्त परिवाद फाइल किया (उपाबंध पी-2) जिसमें यह शिकायत की गई कि दिनेशभाई चंदूभाई पटेल नामक एक व्यक्ति ने अनेक अन्य नामित व्यक्तियों के साथ षड्यंत्र करके संयुक्त रूप से परिवादियों की निरक्षरता, गरीबी और अनभिज्ञता का फायदा उठाते हुए उनके साथ कपट और धोखा किया है और उनसे विवादग्रस्त भूमि के संबंध में मिथ्या हस्ताक्षरों से मिथ्या मुख्तारनामा निष्पादित कराया है । यह अभिकथन किया गया है कि इन व्यक्तियों ने पुनः इस षड्यंत्र को अग्रसर करते हुए विवादग्रस्त भूमि को अनेक व्यक्तियों के पक्ष में अंतरित करा लिया तथा उन्हें विवादग्रस्त भूमि पर सन्निर्माण करने में समर्थ बनाने के लिए अवैध रूप से सन्निर्माण नक्शे मंजूर करा लिए ।

7. संक्षेप में और सारतः, परिवादियों की शिकायत यह थी कि ऊपर नामित व्यक्तियों ने मिलकर षड्यंत्र किया और परिवादियों से कपट, धोखा, प्रवंचना, विश्वास-भंग करके उनसे उनकी ऊपर उल्लिखित बहुमूल्य भूमि छीन ली ।

8. परिवादियों ने अपने परिवाद के साथ ऊपर नामित व्यक्तियों द्वारा अभिकथित रूप से कारित प्रथमदृष्ट्या मामला दर्शित करने के लिए समस्त विवादग्रस्त दस्तावेज़ संलग्न किए और पुलिस आयुक्त से यह प्रार्थना की कि उनकी भूमि के संबध में संपूर्ण मामले की जांच कराई जाए और प्रथमतः प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज करके और उसके पश्चात् एक समुचित अन्वेषण कराकर अन्वेषण को तर्कसम्मत रूप से पूरा कराया जाए, इस मामले में अंतर्वलित पाए जाने वाले सभी व्यक्तियों के विरुद्ध सक्षम न्यायालय में आरोप पत्र फाइल किया जाए और उन्हें उन अपराधों के लिए, जो उन्होंने अभिकथित रूप से कारित किए हैं, अभियोजित किया जाए तथा उन्हें भारतीय दंड संहिता और अन्य संबंधित अधिनियमों के अधीन दंडित किया जाए ।

9. इसके पश्चात् कलक्टर (एस. आई. टी.), सूरत के समक्ष तारीख 23 जनवरी, 2012 को छह नामित व्यक्तियों के विरुद्ध एक अन्य परिवाद (उपाबंध पी-6) फाइल किया गया जिसमें उन व्यक्तियों द्वारा अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति (अत्याचार निवारण) अधिनियम, 1989 की धारा 3, 7 और 11 के साथ पठित भारतीय दंड संहिता, 1860 की धारा 34, 114, 120ख, 420, 465, 468, 471 और 476 के अधीन दंडनीय अभिकथित अपराध कारित करने के लिए अभियोजन चलाने की ईप्सा की गई थी । उस परिवाद में पूर्ववर्ती परिवाद की तरह कुछ नए तथ्यों सहित सविस्तार अभिकथन भी उपवर्णित किए गए ।

10. इन परिवादियों में से एक परिवादी द्वारा 8 नामित व्यक्तियों के विरुद्ध कलक्टर, जिला विवाद प्रतितोष पीठ, सूरत के समक्ष एक और तीसरा परिवाद (उपाबंध पी-13) फाइल किया गया था जिसमें अधिक विस्तृत तथ्यों सहित प्रथम दो परिवादों में किए गए अभिकथनों के लगभग समान अभिकथन किए गए और उसमें पूर्ववर्ती परिवादों में नामित अपराध कारित करने के लिए उन्हें अभियोजित करने की ईप्सा की गई ।

11. इन तीन परिवादों के परिणामस्वरूप खटोदरा पुलिस थाना, सूरत में तारीख 6 जून, 2016 को प्रथम इत्तिला रिपोर्ट (2016 की सी. आर. सं. आई. सी. आर. सं. 90) दर्ज की गई जिसके कारण नामित अभियुक्त

व्यक्तियों द्वारा और मामलों में अभिकथित रूप से अंतर्वलित अन्य व्यक्तियों की ओर से एक के बाद एक अनेक दांडिक आवेदन, जमानत याचिकाएं आदि फाइल की गईं ।

12. ये मामले पिछले चार वर्षों के दौरान निचले न्यायालय, उच्च न्यायालय और इस न्यायालय में भी एक के बाद एक फाइल किए गए थे । न्यायालयों ने अनेक आदेश पारित किए और उनमें मताभिव्यक्तियां कीं ।

13. अपीलों का प्रस्तुत समूह दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (जिसे इसमें इसके पश्चात् "संहिता" कहा गया है) की धारा 482 के अधीन ऊपर उल्लिखित तीन परिवादों में नामित अभियुक्त व्यक्तियों द्वारा गुजरात उच्च न्यायालय में फाइल किए गए दांडिक आवेदनों से उद्भूत हुआ है , जिसमें ऊपर उल्लिखित प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को अभिखंडित करने की प्रार्थना की गई है ।

14. उच्च न्यायालय के एकल न्यायाधीश ने तारीख 10 जुलाई, 2017 के आक्षेपित निर्णय द्वारा दांडिक आवेदनों को भागतः मंजूर कर लिया और पैरा 88 में अंतर्विष्ट निर्णय का निम्नलिखित प्रवर्तनशील भाग पारित किया, जो कि इस प्रकार है :–

> "(1) प्रथम इत्तिला रिपोर्ट, जहां तक भारतीय दंड संहिता की धारा 406, धारा 420 और धारा 120ख और अत्याचार निवारण अधिनियम के अधीन दंडनीय अपराधों का संबंध है, अभिखंडित की जाती है । जहां तक दो मिथ्या मुख्तारनामे तैयार करने और 73कक को मिटाने से संबंधित अभिकथनों का संबंध है, पुलिस आयुक्त, सूरत द्वारा इस संबंध में विधि के अनुसार अन्वेषण पूरा किया जाएगा ।
>
> (2) आयुक्त को यह भी निदेश दिया जाता है कि वह उन व्यक्तियों के संबंध में, जिन्होंने भू-स्वामियों से संपर्क किया था और पुलिस आयुक्त, सूरत को संबोधित परिवादों पर उनके अंगूठों के निशान प्राप्त किए थे, अन्वेषण प्रारंभ करे । दूसरे शब्दों में, मैं आयुक्त को यह निदेश देता हूं कि वह विशिष्ट व्यक्तियों के विरुद्ध लगाए गए ब्लैकमेल और उद्दापन के अभिकथनों का समुचित अन्वेषण प्रारंभ करे ।"

15. इसी निर्णय के विरुद्ध दोनों पक्षकारों, अर्थात्, परिवादियों और अभियुक्त व्यक्तियों ने व्यथित महसूस करते हुए ये अपीलें फाइल की हैं ।

16. जहां तक अभियुक्त व्यक्तियों का संबंध है, उन्होंने आदेश के

उस भाग को चुनौती दी है, जिसके द्वारा उच्च न्यायालय ने उनके दांडिक आवेदनों को खारिज कर दिया है और उनके विरुद्ध अभिकथित कुछ अपराधों के संबंध में प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को अभिखंडित करने से इनकार कर दिया है । अभियुक्त व्यक्तियों के अनुसार, उच्च न्यायालय को प्रथम इत्तिला रिपोर्ट के एक भाग को अभिखंडित करने की बजाय संपूर्ण प्रथम इत्तिला रिपोर्ट अभिखंडित करनी चाहिए थी ।

17. जहां तक परिवादियों का संबंध है, उन्होंने निर्णय के उस भाग को चुनौती दी है, जिसके द्वारा उच्च न्यायालय ने कुछ अपराधों के संबंध में प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को अभिखंडित किया है । परिवादियों के अनुसार, उच्च न्यायालय को संपूर्ण प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को कायम रखना चाहिए था क्योंकि वह वैध और उचित है और उसे अभियुक्त व्यक्तियों के विरुद्ध विधि के अनुसार पूर्ण रूप से प्रभावी किया जाना चाहिए था ।

18. इस प्रकार विशेष इजाजत लेकर की गई अपीलों के इस समूह में परिवादियों और अभियुक्त व्यक्तियों की प्रेरणा से उनकी अपनी-अपनी अपीलों में इस न्यायालय के समक्ष संपूर्ण संविवाद अब फिर से उठाया गया है ।

19. अभियुक्त व्यक्तियों की ओर से विद्वान् ज्येष्ठ काउन्सेल श्री मुकुल रोहतगी, डा. ए. एम. सिंघवी, श्री यतिन ओझा, सुश्री मीनाक्षी अरोड़ा और श्री शमिक संजनवाला और परिवादियों की ओर से विद्वान् ज्येष्ठ काउन्सेल श्री दुष्यंत दवे और श्री हरिन पी. रावल की सुनवाई की गई ।

20. अभियुक्त व्यक्तियों की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् ज्येष्ठ काउन्सेल श्री मुकुल रोहतगी, डा. ए. एम. सिंघवी, श्री यतिन ओझा और सुश्री मीनाक्षी अरोड़ा ने अपनी-अपनी अपीलों में बलपूर्वक यह दलील दी कि उच्च न्यायालय ने प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को भागतः अभिखंडित करके ठीक किया है किन्तु संपूर्ण प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को अभिखंडित करने की कार्यवाही न करके गलती की है क्योंकि उन निष्कर्षों को ध्यान में रखते हुए जिनके आधार पर प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को भागतः अभिखंडित किया गया है, अन्वेषक प्राधिकारियों के लिए प्रथम इत्तिला रिपोर्ट के शेष भाग में, जिसे कायम रखा गया है, जांच के लिए कुछ भी शेष नहीं बचा है ।

21. इसी निवेदन पर सभी ज्येष्ठ काउन्सेलों द्वारा अनेक दस्तावेज़ों, मुकदमेबाज़ी के पूर्ववर्ती प्रक्रम पर और आक्षेपित निर्णय में उच्च न्यायालय की मताभिव्यक्तियों का अवलंब लेते हुए यह दर्शित करने की दृष्टि से

विस्तारपूर्वक चर्चा की गई कि संपूर्ण प्रथम इत्तिला रिपोर्ट विधिक प्रक्रिया का दुरुपयोग है और इससे अभियुक्त व्यक्तियों का उत्पीड़न हुआ है । इस बात पर जोर दिया गया था कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में किसी भी अभियुक्त व्यक्ति के विरुद्ध कोई प्रथमदृष्ट्या मामला साबित नहीं होता है क्योंकि पक्षकारों ने मामले का निर्धारण लिखित में करा लिया था और परिवादियों ने अभियुक्त व्यक्तियों से विशाल प्रतिफल स्वीकार कर लिया था इसलिए परिवादियों के लिए अब प्रश्नगत विषयवस्तु के संबंध में अभियुक्त व्यक्तियों के विरुद्ध विलंबित प्रथम इत्तिला रिपोर्ट फाइल करने का कोई हेतुक उद्भूत नहीं होता है । विद्वान् काउन्सेलों के अनुसार, यह विवर्जित भी है ।

22. प्रत्युत्तर में, परिवादियों की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् ज्येष्ठ काउन्सेल श्री दुष्यंत दवे और हरिन पी. रावल ने इस बात पर जोर दिया कि उच्च न्यायालय को अभियुक्त व्यक्तियों द्वारा फाइल किए गए दांडिक आवेदनों को खारिज कर देना चाहिए था और संपूर्ण प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को समग्र रूप से कायम रखना चाहिए था क्योंकि, उनके अनुसार, प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में उसमें नामित अभियुक्त व्यक्तियों के विरुद्ध प्रथमदृष्ट्या संज्ञेय अपराध प्रकट होते थे । यह दलील दी गई थी कि अपराधों की प्रकृति को ध्यान में रखते हुए, परिसीमा विधि लागू नहीं होती है, जैसा कि इस न्यायालय द्वारा अनेक समरूप मामलों में अभिनिर्धारित किया गया है ।

23. विद्वान् काउन्सेल ने आगे यह दलील दी कि उच्च न्यायालय की ओर से प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को भागतः अभिखंडित करने का विधिक न्यायौचित्य होने की बात तो अलग है, कोई भी न्यायौचित्य नहीं था और इसलिए उस सीमा तक निर्णय अपास्त किए जाने योग्य है ।

24. इसी निवेदन पर विद्वान् ज्येष्ठ काउन्सेलों द्वारा उनकी ओर से फाइल किए गए अनेक दस्तावेज़ों का अवलंब लेते हुए, जिसके अंतर्गत मुकदमेबाज़ी के पूर्ववर्ती प्रक्रम पर और आक्षेपित निर्णय में उच्च न्यायालय की मताभिव्यक्तियों का अवलंब लेना भी शामिल है, विस्तृत रूप से चर्चा की गई और इसके साथ-साथ अभियुक्त व्यक्तियों द्वारा फाइल किए गए दस्तावेज़ों, जिसके अंतर्गत उनकी अंतर्वस्तुएं और शुद्धता भी है, इनकार किया ।

25. हम पक्षकारों के विद्वान् काउन्सेलों की विस्तारपूर्वक सुनवाई करने और मामले के अभिलेख का परिशीलन करने के पश्चात्, परिवादियों की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् काउन्सेलों के निवेदनों को स्वीकार

करने के लिए बाध्य हैं क्योंकि उनमें बल है जबकि हम अभियुक्त व्यक्तियों की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् काउन्सेलों द्वारा दी गई दलीलों में कोई सार नहीं पाते हैं ।

26. इस प्रश्न के संबंध में विधि उचित रूप से सुस्थापित है कि कब किसी प्रथम इत्तिला रिपोर्ट के रजिस्ट्रीकरण को संविधान के अनुच्छेद 226 या संहिता की धारा 482 के अधीन अभियुक्तों द्वारा उसे अभिखंडित करने की ईप्सा करते हुए चुनौती दी जाती है और उच्च न्यायालय की शक्तियां क्या हैं और उच्च न्यायालय को ऐसे प्रश्न के संबंध में किस प्रकार कार्यवाही करनी चाहिए ।

27. इस न्यायालय को **पश्चिमी बंगाल राज्य और अन्य** बनाम **स्वप्न कुमार गुहा और अन्य**[1] वाले मामले में इस विवाद्यक पर विचार करने का अवसर मिला । विद्वान् मुख्य न्यायमूर्ति वाई. वी. चन्द्रचूड़ ने तीन न्यायाधीशों की न्यायपीठ की ओर से निर्णय सुनाते हुए निम्नलिखित सिद्धांत अधिकथित किया :–

> "क्या किसी अपराध का किया जाना प्रकट किया गया है अथवा नहीं, आवश्यक रूप से प्रत्येक विशिष्ट मामले के तथ्यों और उसकी परिस्थितियों पर निर्भर करना चाहिए । यदि सुसंगत सामग्री पर विचार करने के पश्चात्, न्यायालय का यह समाधान हो जाता है कि कोई अपराध प्रकट होता है तो न्यायालय सामान्यतः अपराध के संबंध में अन्वेषण करने में हस्तक्षेप नहीं करेगा और साधारणतया अपराध को साबित करने के लिए सामग्री एकत्र करने हेतु अपराध का अन्वेषण पूरा किया जाना अनुज्ञात करेगा ।
>
> संहिता की धारा 157 के अधीन अन्वेषण के प्रारंभ के लिए पुरोभाव्य शर्त यह है कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट से प्रथमदृष्ट्या यह अवश्य ही प्रकट होना चाहिए कि संज्ञेय अपराध किया गया है । यह कल्पना करना गलत है कि पुलिस को संहिता की धारा 157 के अधीन अन्वेषण प्रारंभ करने के लिए अनियंत्रित विवेकाधिकार है । जांच के लिए उनका अधिकार संज्ञेय अपराध के किए जाने के लिए संदेह करने के कारण के अस्तित्व द्वारा सशर्त है और युक्तियुक्त रूप से उनके पास इस प्रकार संदेह करने के लिए तब तक कोई कारण नहीं हो सकता जब तक कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट प्रथमदृष्ट्या ऐसे

---

[1] [1983] 1 उम. नि. प. 12 = ए. आई. आर. 1982 एस. सी. 949.

अपराध का किया जाना प्रकट न करती हो । यदि उस शर्त को पूरा किया जाता है तो अन्वेषण अवश्य ही किया जाना चाहिए । तब न्यायालय को अन्वेषण रोकने के लिए कोई शक्ति नहीं है क्योंकि ऐसा करना संज्ञेय अपराधों में अन्वेषण करने के लिए पुलिस की वैध शक्ति को काटना होगा ।"

28. विधि के पूर्वोक्त सिद्धांत को ध्यान में रखते हुए, जिसका इस न्यायालय द्वारा बाद के वर्षों में लगातार अनुसरण किया गया था, और आक्षेपित निर्णय का परिशीलन करने के पश्चात्, हम यह मत व्यक्त करने के लिए बाध्य हैं कि उच्च न्यायालय ने किसी न्यायौचित्यपूर्ण कारण के बिना उपर्युक्त प्रश्न की परीक्षा करने के लिए 89 पृष्ठों का निर्णय दिया (पेपरबुक देखिए) और इसके पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि प्रश्नगत प्रथम इत्तिला रिपोर्ट का कुछ भाग विधि की दृष्टि से दूषित है क्योंकि इसमें किसी भी अभियुक्त व्यक्ति के विरुद्ध कोई संज्ञेय अपराध प्रकट नहीं होता है जबकि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट का केवल एक भाग सही है जिसमें अभियुक्त व्यक्तियों के विरुद्ध प्रथमदृष्ट्या मामला प्रकट होता है और इसलिए उस सीमा तक उसमें विधि के अनुसार आगे अन्वेषण करने की आवश्यकता है ।

29. हमारी राय में, उच्च न्यायालय ने ऐसा करते समय वास्तव में मामले में उद्भूत होने वाले समस्त विवाद्यकों को, यह महसूस किए बिना कि वह इस प्रक्रम पर संहिता की धारा 482 के अधीन अंतर्निहित अधिकारिता का प्रयोग कर रहा था, इस प्रकार विनिश्चित कर दिया जैसे कोई अन्वेषक प्राधिकारी या/और अपील प्राधिकारी विनिश्चित करता है ।

30. हमारी राय में, उच्च न्यायालय अपनी उस अधिकारिता की सीमा का अनुभव करने में असफल रहा, जो कि वह अभियुक्त व्यक्तियों द्वारा अनेक संज्ञेय अपराध कारित किए जाने की शिकायत करने वाली किसी प्रथम इत्तिला रिपोर्ट की वैधता की परीक्षा करते समय प्रयोग करने के लिए धारण करता है । उच्च न्यायालय, इस बात की परीक्षा करने की दृष्टि से कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट की तथ्यात्मक अंतर्वस्तु से कोई प्रथमदृष्ट्या संज्ञेय अपराध प्रकट होता है अथवा नहीं, अन्वेषक अभिकरण के रूप में कार्य नहीं कर सकता और न ही अपील न्यायालय की तरह शक्तियों का प्रयोग कर सकता है । हमारी राय में, इस प्रश्न की परीक्षा प्रथम इत्तिला रिपोर्ट की अंतर्वस्तु और सबूत की अपेक्षा न करने वाली प्रथमदृष्ट्या सामग्री, यदि कोई है, को ध्यान में रखते हुए, की जानी थी ।

31. इस प्रक्रम पर, उच्च न्यायालय साक्ष्य का मूल्यांकन नहीं कर सकता था और न ही प्रथम इत्तिला रिपोर्ट की अंतर्वस्तु और उस सामग्री से, जिसका अवलंब लिया गया है, अपना कोई निष्कर्ष निकाल सकता था । यह तो और भी कठिन था, जब उस सामग्री के संबंध में, जिसका अवलंब लिया गया है, परिवादियों और अभियुक्त व्यक्तियों द्वारा विवाद किया गया हो । ऐसी स्थिति में, इस प्रक्रम पर अन्वेषक प्राधिकारी का यह कर्तव्य बन जाता है कि वह जांच करे और इसके पश्चात् जैसे ही आरोप पत्र फाइल कर दिया जाता है न्यायालय का कर्तव्य बनता है कि वह ऐसी सामग्री सहित उन प्रश्नों की परीक्षा करे कि ऐसी सामग्री का कितना और किस सीमा तक अवलंब लिया जा सकता है ।

32. हमारी सुविचारित राय में, जैसे ही न्यायालय यह निष्कर्ष निकालता है कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में प्रथमदृष्ट्या कोई संज्ञेय अपराध कारित किया जाना प्रकट होता है तो वह अपना कार्य रोक देगा और अन्वेषण मशीनरी को संहिता में विहित प्रक्रिया के अनुसार अपराध का पता लगाने संबंधी जांच आरंभ करने की कार्यवाही करने के लिए अनुज्ञात करेगा ।

33. मात्र इस तथ्य के आधार पर कि उच्च न्यायालय ने इस मामले में मामले के प्रत्येक पहलू के संबंध में अधिक विस्तार से जांच की और प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को भागतः अभिखंडित करने के लिए 89 पृष्ठों का निर्णय तैयार किया, हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि उच्च न्यायालय ने संहिता की धारा 482 के अधीन अपनी अंतर्निहित अधिकारिता का प्रयोग करते समय अपनी शक्तियों के बाहर कार्य किया था । हम उच्च न्यायालय के इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं हो सकते हैं ।

34. चूंकि उच्च न्यायालय की अंतर्निहित शक्तियां, जो कि स्पष्ट रूप से परिभाषित नहीं हैं, अपने स्वरूप में ही अंतर्निहित हैं इसलिए उन्हें किसी सीमा तक विस्तारित नहीं किया जा सकता है और न ही ऐसी शक्तियों की तुलना संहिता में परिभाषित उच्च न्यायालय की अपीली शक्तियों से की जा सकती है । अंतर्निहित शक्तियों का प्रयोग करते समय इस न्यायालय द्वारा अधिकथित मापदंडों को सदैव ध्यान में रखा जाना चाहिए अन्यथा इसके परिणामस्वरूप मामले को विनिश्चित करते समय अधिकारिता संबंधी भूल कारित हो जाएगी । इस मामले में भी यही स्थिति है ।

35. ऊपर उल्लिखित तीन परिवादों और प्रथम इत्तिला रिपोर्ट का परिशीलन करने पर हमारी यह सुविचारित राय है कि परिवाद और प्रथम

इत्तिला रिपोर्ट में परिवादियों द्वारा अभिकथित अभियुक्त व्यक्तियों के विरुद्ध प्रथमदृष्ट्या विभिन्न संज्ञेय अपराध कारित किया जाना प्रकट होता है और इसलिए उच्च न्यायालय को अभियुक्त व्यक्तियों द्वारा फाइल किए गए आवेदन को भागतः खारिज करने की बजाय प्रश्नगत संपूर्ण प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को कायम रखने संबंधी आवेदन को पूर्ण रूप से खारिज कर देना चाहिए था ।

36. अभियुक्त व्यक्तियों की ओर से विद्वान् काउन्सेलों ने, बहस समाप्त होने के पश्चात् संक्षिप्त टिप्पण फाइल किया और अपनी दलीलों के समर्थन में **जेटकिंग इन्फोट्रेन लिमिटेड** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य**[1] और **हरशेन्द्र कुमार डी.** बनाम **रेवतीलता कोले**[2] वाले मामलों में इस न्यायालय के दो विनिश्चयों का अवलंब लिया । हमने दोनों विनिश्चयों का परिशीलन किया है । हमारी राय में, दोनों विनिश्चय तथ्यों के आधार पर प्रभेदनीय हैं जबकि वह विनिश्चय, जिसका हमने अवलंब लिया है, इस विषय से अधिक संबद्ध है । यह इस कारण है कि प्रथमतः, अभियुक्त व्यक्तियों की ओर से विद्वान् काउन्सेलों द्वारा जिन दो विनिश्चयों का अवलंब लिया गया है वे ऐसे मामले थे जिनमें परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 138 के अधीन और दूसरे मामले में भारतीय दंड संहिता की कुछ धाराओं के अधीन न्यायालय में एक परिवाद फाइल किया गया था । इसी परिवाद को संहिता की धारा 482 के अधीन अंतर्निहित अधिकारिता का अवलंब लेते हुए अभिखंडित करने की ईप्सा की गई थी । इस मामले में ऐसी स्थिति नहीं है । द्वितीयतः, इसलिए इन विनिश्चयों में संबंधित मामलों में अंतर्वलित तथ्यों को मुद्दा बनाया गया ।

37. प्रस्तुत मामले में, विशेष रूप से प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज किए जाने को चुनौती दी गई है । इस न्यायालय ने **स्वप्न कुमार गुहा** (उपर्युक्त) वाले मामले में किसी प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को चुनौती दिए जाने के संदर्भ में उच्च यायालय की अंतर्निहित शक्तियों का प्रयोग किए जाने की परीक्षा की थी । अतः, हमारी राय में, उद्धृत किए गए दोनों विनिश्चयों में अधिकथित विधि के मुकाबले **स्वप्न कुमार गुहा** (उपर्युक्त) वाले मामले में अधिकथित विधि इस मामले के तथ्यों को प्रत्यक्ष रूप से लागू होती है ।

38. पूर्वगामी विचार-विमर्श को ध्यान में रखते हुए, अब यह आवश्यक हो गया है कि इस मामले का अन्वेषण, जो कि प्रश्नगत प्रथम इत्तिला

---

[1] (2015) 11 एस. सी. सी. 730.

[2] (2011) 3 एस. सी. सी. 351.

रिपोर्ट की विषयवस्तु है, अन्वेषण प्राधिकारियों द्वारा संहिता में विहित प्रक्रिया के अनुसार किया जाए ।

39. हम जानबूझकर गुणागुण के आधार पर कोई मताभिव्यक्ति करने से विरत रहे हैं और मामले में उद्भूत होने वाले तथ्यात्मक विवाद्यकों पर अपना विनिश्चयाधार देने में भी विरत रहे हैं अन्यथा इससे पक्षकारों पर प्रतिकूल प्रभाव कारित हो सकता है और पुलिस प्राधिकारियों द्वारा आरंभ की गई चालू अन्वेषण प्रक्रिया में भी बाधा उत्पन्न हो सकती है ।

40. यद्यपि पक्षकारों की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् काउन्सेलों ने सैकड़ों दस्तावेज़ों के प्रति निर्देश करके मामले के गुणागुण से संबंधित मुद्दों पर बहस की किन्तु हमारी राय में, जब हम यह निष्कर्ष लेखबद्ध कर देते हैं कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट का, जिसके अंतर्गत उससे संलग्न दस्तावेज़ भी हैं, पठन करने पर प्रथमदृष्ट्या मामला बनता है तब तथ्य संबंधी क्षेत्र में प्रवेश करना पूर्णतः अनावश्यक है । इसलिए, हम उनकी दलीलों की विस्तारपूर्वक परीक्षा करना आवश्यक नहीं समझते हैं । यह कहने की आवश्यकता नहीं है इन सभी दलीलों और नासाबित किए गए और विवादित उन दस्तावेज़ों के संबंध में, जिनका पक्षकारों द्वारा अवलंब लिया गया था, जब भी अवसर उद्भूत होता है, पश्चात्वर्ती प्रक्रम पर कार्यवाही की जाएगी ।

41. पूर्वगामी चर्चा को ध्यान में रखते हुए, परिवादियों द्वारा फाइल की गई अपीलें, अर्थात्, 2017 की विशेष इजाजत याचिका (दांडिक) सं. 5476 और 5475 से उद्भूत दांडिक अपीलें मंजूर की जाती हैं । आक्षेपित निर्णय अपास्त किया जाता है । हमारे आदेश के परिणामस्वरूप, अभियुक्त व्यक्तियों द्वारा फाइल की गईं अपीलें, अर्थात्, 2017 की विशेष इजाजत याचिका (दांडिक) सं. 5155, 5322, 5500 और 5867 से उद्भूत दांडिक अपीलें खारिज की जाती हैं ।

42. परिणामस्वरूप, अभियुक्त व्यक्तियों द्वारा संहिता की धारा 482 के अधीन फाइल किए गए दांडिक आवेदन, जिनसे ये अपीलें उद्भूत हुईं हैं, खारिज किए जाते हैं ।

43. चूंकि यह प्रथम इत्तिला रिपोर्ट काफी समय से लंबित है, इसलिए हम अन्वेषण प्राधिकारियों को यह निदेश देते हैं कि वे किसी पक्षपात और पूर्वाग्रह के बिना शीघ्र इस मामले का अन्वेषण विधि के अनुसार पूरा करें और आगामी कार्यवाही करें ।

44. मामले को समाप्त करने से पूर्व, हम यह स्पष्ट कर देना उचित समझते हैं कि इस आदेश का अर्थान्वयन इस प्रकार नहीं किया जाना चाहिए कि इसमें किसी मुद्दे को गुणागुण के आधार पर किसी भी रूप में विनिश्चित किया गया है । अतः, अन्वेषण प्राधिकारी मामले का अन्वेषण करते समय निचले न्यायालयों और उच्च न्यायालय द्वारा अपने-अपने आदेशों में की गई किसी भी मताभिव्यक्ति से किसी भी रीति में प्रभावित नहीं होंगे ।

अपीलों का तद्नुसार निपटारा किया गया ।

ग्रो.

[2018] 3 उम. नि. प. 180

नवीन कुमार

बनाम

विजय कुमार और अन्य

6 फरवरी, 2018

मुख्य न्यायमूर्ति दीपक मिश्रा, न्यायमूर्ति ए. एम. खानविलकर और न्यायमूर्ति डी. वाई. चन्द्रचूड़

मोटर यान अधिनियम, 1988 (1988 का 59) – धारा 2(30) और धारा 50 – मोटर यान दुर्घटना में उल्लंघनकारी यान के स्वामी का दायित्व – यान का स्वामी – जहां यान का रजिस्ट्रीकृत स्वामी अपने यान का विक्रय/अंतरण करने के बावजूद रजिस्ट्रीकर्ता प्राधिकारी के अभिलेख में उसका नाम उस यान के स्वामी के रूप में प्रतिबिंबित होता है वहां वह इस अधिनियम के प्रयोजनों के लिए यान का स्वामी माना जाएगा और स्वामी के रूप में अपने दायित्व से मुक्त नहीं होगा ।

प्रस्तुत मामले में, 27 मई, 2009 को घटी एक मोटर यान दुर्घटना की बाबत दो दावा याचिकाएं फाइल की गई थीं । दुर्घटना में अंतर्वलित यान बीमाकृत नहीं था और वह प्रस्तुत मामले में के प्रत्यर्थी सं. 1 के नाम में रजिस्ट्रीकृत था । प्रथम प्रत्यर्थी के अनुसार, उसने उस यान का विक्रय दुर्घटना से पूर्व तारीख 12 जुलाई, 2007 को द्वितीय प्रत्यर्थी को कर दिया

था तथा सुसंगत कागजपत्रों सहित, जिसमें रजिस्ट्रीकरण प्रमाणपत्र और यान के अंतरण के लिए प्ररूप 29 और प्ररूप 30 भी है, यान का कब्ज़ा सौंप दिया था । द्वितीय प्रत्यर्थी ने अधिकरण के समक्ष यह कथन किया कि उसने उस यान का विक्रय तारीख 18 सितम्बर, 2008 को तृतीय प्रत्यर्थी को कर दिया था । इसके बाद, तृतीय प्रत्यर्थी ने अधिकरण के समक्ष यान का विक्रय याची को किए जाने का दावा किया । याची ने लिखित कथन के अनुक्रम में यह दावा किया कि उसने उस यान का विक्रय एक अन्य व्यक्ति को कर दिया था । दावे की प्रतिरक्षा के रूप में उत्तरोत्तर अंतरण की दलील पेश की गई । अधिकरण ने यह उल्लेख किया कि उल्लंघनकारी यान का रजिस्ट्रीकरण प्रमाणपत्र प्रथम प्रत्यर्थी के नाम में बना रहा । अधिकरण ने प्रथम प्रत्यर्थी को यान के चालक सहित संयुक्त रूप से और पृथक्तः दायी ठहराया । अधिकरण के अधिनिर्णय को प्रथम प्रत्यर्थी द्वारा उच्च न्यायालय के समक्ष अपील में चुनौती दी गई थी । उच्च न्यायालय के विद्वान् एकल न्यायाधीश ने इस आधार पर अपील मंजूर कर ली कि अधिकरण के पास रजिस्ट्रीकृत स्वामी के विरुद्ध अधिनिर्णय पारित करने का कोई न्यायौचित्य नहीं था जबकि इस संबंध में साक्ष्य मौजूद था कि उसने यान का अंतरण कर दिया था और अंतिम स्वीकृत स्वामी इस मामले में अपीलार्थी था । उच्च न्यायालय की राय में, अधिकरण को स्वामी के रूप में केवल अपीलार्थी के विरुद्ध अधिनिर्णय पारित करना चाहिए था । उच्च न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में अपील फाइल की गई । उच्चतम न्यायालय द्वारा अपील मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित – मोटर यान अधिनियम, 1988 के प्रयोजनों के लिए वह व्यक्ति, जिसके नाम में कोई मोटर यान रजिस्ट्रीकृत है, यान का स्वामी है । धारा 2(30) में "अभिप्रेत" अभिव्यक्ति का प्रयोग करना इस स्थिति का स्पष्ट द्योतक है कि संसद् द्वारा रजिस्ट्रीकृत स्वामी को ही यान का स्वामी समझा गया है । 1988 के अधिनियम की धारा 2(30) के प्रथम भाग में यह उपबंध किया गया है कि स्वामी वह व्यक्ति होगा जिसके नाम पर मोटर यान रजिस्टर है । जहां ऐसा व्यक्ति अवयस्क है वहां उस अवयस्क का संरक्षक स्वामी होगा । ऐसे किसी मोटर यान के संबंध में, जो अवक्रय करार या पट्टे पर या आडमान के करार के अध्यधीन है, वह व्यक्ति स्वामी होगा, जिसका उस यान पर उस करार के अधीन कब्ज़ा है । परिभाषा का पश्चात्वर्ती भाग एक अपवाद की प्रकृति का है जो वहां लागू होता है जहां मोटर यान अवक्रय करार या किसी पट्टे या आडमान के करार के

अध्यधीन है । अन्यथा परिभाषा में यह अनुबद्ध है कि इस अधिनियम के प्रयोजनों के लिए, उस व्यक्ति को, जिसके नाम में मोटर यान रजिस्टर है, स्वामी के रूप में माना गया है । (पैरा 6)

धारा 2(30) में "स्वामी" अभिव्यक्ति की परिभाषा को ध्यान में रखते हुए, वही व्यक्ति, जिसके नाम में मोटर यान रजिस्ट्रीकृत बना हुआ है, अधिनियम के प्रयोजनों के लिए स्वामी माना जाएगा । तथापि, जहां वह व्यक्ति अवयस्क है वहां उस अवयस्क के संरक्षक को स्वामी माना जाएगा । जहां कोई मोटर यान अवक्रय, पट्टे या आडमान के किसी करार के अधीन है वहां वह व्यक्ति, जिसका उस करार के अधीन यान पर कब्ज़ा है, स्वामी माना जाता है । ऐसी स्थिति में, जैसी कि वर्तमान में है, जहां रजिस्ट्रीकृत स्वामी का तात्पर्य यान का अंतरण करना है किन्तु वह रजिस्ट्रीकर्ता प्राधिकारी के अभिलेख में यान के स्वामी के रूप में प्रतिबिंबित बना हुआ है वहां वह दायित्व से मुक्त नहीं हो जाएगा । संसद् ने सोचसमझकर 1939 के पूर्ववर्ती अधिनियम में धारा 2(19) के उपबंधों से विचलन करते हुए, धारा 2(30) में "स्वामी" अभिव्यक्ति की परिभाषा पुरःस्थापित की है । धारा 2(30) के उपबंधों में अंतर्निहित सिद्धांत यह है कि मोटर दुर्घटना का शिकार व्यक्ति या मृत्यु की दशा में मृत आहत व्यक्ति के विधिक वारिसों को अनिश्चितता की अवस्था में नहीं छोड़ा जाना चाहिए । प्रतिकर के दावेदार को ऐसे उत्तरवर्ती अंतरणों का, जो रजिस्ट्रीकर्ता प्राधिकारी के पास रजिस्ट्रीकृत नहीं हैं, पीछा करने का भार नहीं डाला जाना चाहिए । इससे भिन्न अभिनिर्धारित करना इस अधिनियम के हितकारी उद्देश्य और प्रयोजन को विफल करना होगा । अतः, जो निर्वचन किया जाए उससे विधि के उद्देश्य की पूर्ति सुकर होनी चाहिए । प्रस्तुत मामले में, प्रथम प्रत्यर्थी धारा 2(30) के अर्थान्तर्गत दुर्घटना में अंतर्वलित यान का स्वामी था । प्रतिकर संदत्त करने का दायित्व उसके ऊपर डाला जाता है । स्वीकृततः, यान बीमाकृत नहीं था । उच्च न्यायालय ने इस न्यायालय के निर्णयों के गलत अर्थान्वयन के आधार पर कार्यवाही की है । (पैरा 12)

याची की दलील यह है कि अंतरण की सूचना देने में असफल रहने के परिणामस्वरूप धारा 50(3) के अधीन केवल जुर्माना लगाया जा सकता है किन्तु इससे यान का अंतरण अविधिमान्य नहीं हो जाएगा । प्रतिफल का संदाय करके और कार का परिदान करके हक का अंतरण हो सकता है । किन्तु अधिनियम के प्रयोजनों के लिए वह व्यक्ति, जिसका नाम

रजिस्ट्रीकर्ता प्राधिकारी के अभिलेख में प्रतिबिंबित होता है, स्वामी है । धारा 2(30) के अर्थान्तर्गत स्वामी प्रतिकर के लिए दायी है । विधि की आज्ञा का पालन अवश्य ही किया जाना चाहिए । (पैरा 13)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[2015]	(2015) 3 एस. सी. सी. 679 : **एच.डी.एफ.सी. बैंक लिमिटेड** बनाम **रेशमा** ;	3,4,5, 11,12
[2014]	(2014) 14 एस. सी. सी. 142 = (2015) 1 एस. सी. सी. (क्रि.) 304 = (2015) एस. सी. सी. (सि.) 251 **पूर्णया कला देवी** बनाम **असम राज्य** ;	3,4,5,9, 10,11,12
[2011]	(2011) 8 एस. सी. सी. 142 = (2011) 4 एस. सी. सी. (सि.) 66 = (2011) 3 एस. सी. सी. (क्रि.) 376 : **उत्तर प्रदेश राज्य सड़क परिवहन निगम** बनाम **कुलसुम** ;	11
[2011]	(2011) 2 एस. सी. सी. 240 = (2011) 1 एस. सी. सी. (सि.) 399 = (2011) 1 एस. सी. सी. (क्रि.) 682 : **पुष्पा** उर्फ **लीला** बनाम **शकुन्तला** ;	4,8,11
[2008]	(2008) 17 एस. सी. सी. 624 : **पी. पी. मोहम्मद** बनाम **के. राजाप्पन** ;	8
[2008]	(2008) 5 एस. सी. सी. 107 = (2008) 2 एस. सी. सी. (क्रि.) 531 : **गोदावरी फाइनेंस कंपनी** बनाम **डेगला** **सत्यनारायणम्मा** ;	11
[2008]	(2008) 1 एस. सी. सी. 414 = (2008) 1 एस. सी. सी.(सि.) 270 = (2008) 1 एस. सी. सी. (क्रि.) 209 : **नेशनल इंश्योरेंस कंपनी लिमिटेड** बनाम **दीपा देवी** ;	11

[2007]	(2007) 1 एस. सी. सी. 467 : **पांडेय एंड कंपनी बिल्डर्स (प्रा.) लिमिटेड** बनाम **बिहार राज्य** ;	11
[2004]	(2004) 8 एस. सी. सी. 387 = (2004) एस. सी. सी. (एल. एंड एस.) 1128 : **मुकेश कुमार त्रिपाठी** बनाम **भारतीय जीवन बीमा निगम** ;	11
[2004]	(2004) 5 एस. सी. सी. 409 : **रमेश मेहता** बनाम **सांवल चन्द सिंघवी** ;	11
[2002]	(2002) 1 एस. सी. सी. 589 = 5 एस. सी. ई. सी. 217 : **महाराष्ट्र राज्य** बनाम **इंडियन मेडिकल एसोसिएशन** ;	11
[2001]	(2001) 8 एस. सी. सी. 748 = (2002) एस. सी. सी. (क्रि.) 94 : **डा. टी. वी. जोज़** बनाम **चाको पी. एम.** ;	8,11,13
[1997]	(1997) 9 एस. सी. सी. 103 = (1997) एस. सी. सी. (क्रि.) 610 : **मोहन बेनेफिट (प्रा.) लिमिटेड** बनाम **कचराजी रेमलजी** ;	11
[1997]	(1997) 7 एस. सी. सी. 481 : **राजस्थान राज्य सड़क परिवहन निगम** बनाम **कैलाश नाथ कोठारी** ;	11
[1995]	(1995) एस. सी. सी. आनलाइन गुजरात 167 = ए. आई. आर. 1996 गुजरात 51 : **भावनगर नगरपालिका** बनाम **बचूभाई अर्जनभाई** ;	11
[1988]	(1988) 1 ए. सी. सी. 204 = (1988) 2 टी. ए. सी. 25 (उड़ीसा) : **नेशनल इंश्योरेंस कंपनी लिमिटेड** बनाम **दुरदादहया कुमार सामल** ।	11

सिविल अपीली अधिकारिता : 2018 की सिविल अपील सं. 1427.

2013 के प्रथम अपीली आदेश सं. 5310 (ओ. एंड एम.) में पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय की चंडीगढ़ न्यायपीठ के तारीख 25 जनवरी, 2016 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील ।

अपीलार्थी की ओर से श्री ऋषि मल्होत्रा

प्रत्यर्थियों की ओर से सर्वश्री सुधीर नन्द्राजोग, ज्येष्ठ अधिवक्ता, अभिषेक विकास, परितोष बुधिराजा, विमल दूबे, (सुश्री) सुरभि महेश्वरी, अश्विनी आहूजा, उदय प्रताप सिंह, फनीश जैन, डा. (श्रीमती) विपिन गुप्ता, नंदनी गुप्ता, कृष्ण कुमार, धर्मेन्द्र कुमार सिन्हा, सव्यसाची भादुरी और पल्लव मोंगिया

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति डी. वाई. चन्द्रचूड़ ने दिया ।

न्या. चन्द्रचूड़ – तारीख 27 मई, 2009 को लगभग 7.30 बजे अपराह्न में एक दुर्घटना घटी जब श्रीमती जय देवी और उसका भतीजा नितिन अपने गांव में एक गली में पैदल जा रहे थे । राकेश द्वारा रिवर्स गियर में चलाए जा रहे एक मोटरयान ने उन्हें टक्कर मारी । नितिन कार के पिछले पहिए के नीचे आ गया और उसकी दुर्घटना-स्थल पर ही मृत्यु हो गई । श्रीमती जय देवी को अनेक क्षतियां कारित हुईं । मोटर दुर्घटना दावा अधिकरण (संक्षेप में "अधिकरण") के समक्ष दो दावा याचिकाएं फाइल की गई थीं । उनमें से एक श्रीमती जय देवी द्वारा फाइल की गई थी । दूसरी याचिका नितिन के माता-पिता सोमवीर और श्रीमती सरोज द्वारा फाइल की गई थी । उस दुर्घटना में अंतर्वलित यान (मारूति-800, जिसका रजिस्ट्रीकरण नं. डी एल 3सीसी 3684 था) प्रथम प्रत्यर्थी, विजय कुमार के नाम में रजिस्ट्रीकृत था । प्रथम प्रत्यर्थी के अनुसार, उसने उस यान का विक्रय दुर्घटना से पूर्व तारीख 12 जुलाई, 2007 को द्वितीय प्रत्यर्थी को कर दिया था तथा सुसंगत कागजपत्रों सहित, जिसमें रजिस्ट्रीकरण प्रमाणपत्र और यान के अंतरण के लिए प्ररूप 29 और प्ररूप 30 भी है, यान का कब्ज़ा सौंप दिया था । द्वितीय प्रत्यर्थी ने अधिकरण के समक्ष यह कथन किया कि उसने उस यान का विक्रय तारीख 18 सितम्बर, 2008 को तृतीय प्रत्यर्थी को कर दिया था । इसके बाद, तृतीय प्रत्यर्थी ने अधिकरण के समक्ष यान का विक्रय याची को किए जाने का दावा किया ।

याची ने लिखित कथन के अनुक्रम में यह दावा किया कि उसने उस यान का विक्रय मीर सिंह को कर दिया था । इस दावे की प्रतिरक्षा के रूप में उत्तरोत्तर अंतरण संबंधी दलील पेश की गई ।

2. अधिकरण ने तारीख 6 अक्तूबर, 2012 के अपने अधिनिर्णय द्वारा श्रीमती जय देवी को 10,000/- रुपए की रकम का और नितिन की मृत्यु होने के कारण उसके माता-पिता को 3,75,000/- रुपए की रकम का प्रतिकर अनुदत्त किया । अधिकरण ने यह उल्लेख किया कि उल्लंघनकारी यान का रजिस्ट्रीकरण प्रमाणपत्र प्रथम प्रत्यर्थी के नाम में बना रहा । अधिकरण ने प्रथम प्रत्यर्थी को यान के चालक सहित संयुक्त रूप से और पृथक्तः दायी ठहराया । वह यान दुर्घटना की तारीख को बीमाकृत नहीं था ।

3. अधिकरण के अधिनिर्णय को प्रथम प्रत्यर्थी द्वारा पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय के समक्ष अपील में चुनौती दी गई थी । उच्च न्यायालय के विद्वान् एकल न्यायाधीश ने तारीख 25 जनवरी, 2016 को इस आधार पर अपील मंजूर कर ली कि अधिकरण के पास रजिस्ट्रीकृत स्वामी के विरुद्ध अधिनिर्णय पारित करने के लिए कोई न्यायौचित्य नहीं था जबकि इस संबंध में साक्ष्य मौजूद था कि उसने यान का अंतरण कर दिया था और अंतिम स्वीकृत स्वामी इस मामले में अपीलार्थी था । उच्च न्यायालय की राय में, अधिकरण को स्वामी के रूप में केवल अपीलार्थी के विरुद्ध अधिनिर्णय पारित करना चाहिए था । उच्च न्यायालय ने यह निष्कर्ष निकालने के लिए इस न्यायालय के दो विनिश्चयों का अवलंब लिया **एच.डी.एफ.सी. बैंक लिमिटेड** बनाम **रेशमा**[1] और **पूर्णया कला देवी** बनाम **असम राज्य**[2] ।

4. अपीलार्थी की ओर से यह दलील दी गई है कि उच्च न्यायालय ने स्पष्ट रूप से विधिक स्थिति के गलत अर्थान्वयन के आधार पर कार्यवाही की है । यह दलील दी गई है कि मोटर यान अधिनियम, 1988 की धारा 2(30) से यह उपदर्शित होता है कि वही व्यक्ति, जिसके नाम में कोई मोटर यान रजिस्ट्रीकृत है, स्वामी है और उस सिद्धांत के केवल ये दो अपवाद है, कि जहां ऐसा व्यक्ति अवयस्क है या वादगत यान अवक्रय करार के अधीन है । यह दलील दी गई है कि **पूर्णया कला देवी** (उपर्युक्त) वाले मामले में इस न्यायालय का विनिश्चय ऐसी स्थिति के संबंध में है

---

[1] (2015) 3 एस. सी. सी. 679.

[2] (2014) 14 एस. सी. सी. 142.

जहां उल्लंघनकारी यान की अध्यपेक्षा एक राज्य सरकार द्वारा की गई थी । इसी प्रकार, **रेशमा** (उपर्युक्त) वाला विनिश्चय ऐसी स्थिति के संबंध में था जहां यान का एक आडमान करार के अधीन वित्तपोषण किया गया था । इस न्यायालय ने इसी पृष्ठभूमि में यह अभिनिर्धारित किया कि किसी आडमान करार के अधीन यान का कब्ज़ा रखने वाले व्यक्ति को स्वामी माना जाना था । धारा 2(30) में अंतर्विष्ट परिभाषा को ध्यान में रखते हुए, यह दलील दी गई थी कि उच्च न्यायालय ने अपीलार्थी पर दायित्व डालकर गलती की थी, जो कि यान का रजिस्ट्रीकृत स्वामी नहीं है । अपीलार्थी की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् काउन्सेल ने यह दलील दी कि **पुष्पा उर्फ लीला** बनाम **शकुन्तला**[1] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित करते हुए स्थिति को स्पष्ट किया गया है कि जहां, यान का विक्रय किए जाने के बावजूद, न तो अंतरक और न ही अंतरिती ने रजिस्ट्रीकरण प्रमाणपत्र में स्वामी के नाम में परिवर्तन कराने के लिए कोई कदम उठाया है वहां उस व्यक्ति के बारे में, जिसके नाम में रजिस्ट्रीकरण विद्यमान है, यह समझा जाना चाहिए कि वह अधिनियम के प्रयोजनों के लिए यान का स्वामी है ।

5. दूसरी ओर, प्रथम प्रत्यर्थी की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् काउन्सेल ने यह दलील देते हुए अधिकरण के निर्णय का समर्थन किया कि अपीलार्थी, यान का भौतिक कब्ज़ा और नियंत्रण रखने वाले व्यक्ति के रूप में दायी था । प्रथम प्रत्यर्थी की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् काउन्सेल ने **पूर्णया कला देवी** (उपर्युक्त) और **रेशमा** (उपर्युक्त) वाले मामलों में इस न्यायालय के विनिश्चयों का भी अवलंब लिया । विद्वान् काउन्सेल ने यह निवेदन किया :-

> "(i) किसी यान के विक्रय के परिणामस्वरूप यान के विक्रेता की ओर से यान के भौतिक कब्जे और नियंत्रण का संभावित परिवर्तन भी होता है । यान के विक्रय के पश्चात् रजिस्ट्रीकृत स्वामी को अधिक से अधिक यान के दृश्यमान स्वामी न कि वास्तविक स्वामी के रूप में समझा जा सकता है भले ही यान के रजिस्ट्रीकरण प्रमाणपत्र में उसका नाम मौजूद हो ;
>
> (ii) अधिनियम की धारा 2(30) में स्वामी की परिभाषा एक पूर्ण संहिता नहीं है और उसमें अंतर्विष्ट अपवाद निःशेष नहीं हैं ;
>
> (iii) न्यायालय/अधिकरण को यह कसौटी लागू करनी चाहिए

[1] (2011) 2 एस. सी. सी. 240.

कि रजिस्ट्रीकृत स्वामी ने विधिसम्मत माध्यमों से यान पर अपने कब्ज़े और नियंत्रण का पूर्ण रूप से त्याग कर दिया है अथवा नहीं । यदि इसका उत्तर सकारात्मक है तो उसे दायी नहीं ठहराया जा सकता और उस व्यक्ति को, जिसके पास यान का भौतिक कब्ज़ा और नियंत्रण है, दायी ठहराया जाना चाहिए ; और

(iv) धारा 50 में रजिस्ट्रीकरण प्रमाणपत्र में नाम में परिवर्तन कराने का भार अंतरक तथा अंतरिती दोनों पर डाला गया है और इसलिए अंतरक (रजिस्ट्रीकृत स्वामी) को दायी नहीं ठहराया जा सकता और अंतरिती, जिसका यान के प्रयोग पर नियंत्रण है, दायी ठहराया जाना चाहिए ।"

6. 1988 के अधिनियम की धारा 2(30) में "स्वामी" अभिव्यक्ति की परिभाषा निम्नलिखित रूप में दी गई है :–

"2(30) 'स्वामी' से वह व्यक्ति अभिप्रेत है जिसके नाम में मोटर यान रजिस्टर है और जहां ऐसा व्यक्ति अवयस्क है, वहां उस अवयस्क का संरक्षक अभिप्रेत है और उस मोटर यान के संबंध में जो अवक्रय करार या पट्टे पर या आडमान के करार पर लिया गया है, वह व्यक्ति अभिप्रेत है जिसका उस यान पर उस करार के अधीन कब्ज़ा है ।"

अधिनियम के प्रयोजनों के लिए वह व्यक्ति, जिसके नाम में कोई मोटर यान रजिस्ट्रीकृत है, यान का स्वामी है । "अभिप्रेत" अभिव्यक्ति का प्रयोग करना इस स्थिति का स्पष्ट द्योतक है कि रजिस्ट्रीकृत स्वामी को ही संसद् द्वारा यान का स्वामी समझा गया है । 1939 के पूर्ववर्ती अधिनियम में, 'स्वामी' अभिव्यक्ति की परिभाषा धारा 2(19) में निम्नलिखित रूप में दी गई थी :–

"....2(19) 'स्वामी' से, जहां वह व्यक्ति जिसका मोटर यान पर कब्ज़ा है, अवयस्क है, वहां उस अवयस्क का संरक्षक अभिप्रेत है और उस मोटर यान के संबंध में, जो अवक्रय करार के अध्यधीन है, वह व्यक्ति अभिप्रेत है जिसका उस करार के अधीन कब्ज़ा है ।"

स्पष्ट रूप से संसद् ने, मोटर यान अधिनियम, 1988 अधिनियमित करते समय पूर्ववर्ती परिभाषा को नया रूप देकर विनिर्दिष्ट परिवर्तन किए । पूर्ववर्ती अधिनियम की धारा 2(19) में यह अनुबद्ध था कि जहां वह व्यक्ति

जिसका किसी मोटर यान पर कब्ज़ा है, अवयस्क है वहां अवयस्क का संरक्षक स्वामी होगा और जहां मोटर यान किसी अवक्रय करार के अध्यधीन था वहां वह व्यक्ति स्वामी होगा, जिसका उस करार के अधीन यान पर कब्ज़ा है । 1988 के अधिनियम की धारा 2(30) के प्रथम भाग में यह उपबंध किया गया है कि स्वामी वह व्यक्ति होगा जिसके नाम में मोटर यान रजिस्टर है । जहां ऐसा व्यक्ति अवयस्क है वहां उस अवयस्क का संरक्षक स्वामी होगा । ऐसे किसी मोटर यान के संबंध में, जो अवक्रय करार या पट्टे पर या आडमान के करार के अध्यधीन है, वह व्यक्ति स्वामी होगा, जिसका उस यान पर उस करार के अधीन कब्ज़ा है । परिभाषा का पश्चात्वर्ती भाग एक अपवाद की प्रकृति का है जो वहां लागू होता है जहां मोटर यान अवक्रय करार या किसी पट्टे या आडमान के करार के अध्यधीन है । अन्यथा परिभाषा में यह अनुबद्ध है कि इस अधिनियम के प्रयोजनों के लिए, उस व्यक्ति को, जिसके नाम में मोटर यान रजिस्टर है, स्वामी के रूप में माना गया है ।

7. धारा 50 स्वामित्व के अंतरण की प्रक्रिया के संबंध में है और उसमें निम्नलिखित रूप में उपबंधित है :–

"50. स्वामित्व का अंतरण – (1) जब इस अध्याय के अधीन रजिस्ट्रीकृत किसी मोटर यान का स्वामित्व अंतरित किया जाता है तब, –

(क) अंतरक –

(i) उसी राज्य के भीतर रजिस्ट्रीकृत यान की दशा में, अंतरण के चौदह दिन के भीतर अंतरण के तथ्य की रिपोर्ट ऐसे प्ररूप में और ऐसे दस्तावेज़ों सहित और ऐसी रीति से, जो केन्द्रीय सरकार द्वारा विहित की जाए, उस रजिस्ट्रीकर्ता प्राधिकारी को देगा जिसकी अधिकारिता के भीतर वह अंतरण किया जाने वाला है और उसी समय उक्त रिपोर्ट की एक प्रति अंतरिती को भेजेगा; और

(ii) राज्य के बाहर रजिस्ट्रीकृत यान की दशा में, अंतरण के पैंतालीस दिन के भीतर, उपखंड (i) में निर्दिष्ट रजिस्ट्रीकर्ता प्राधिकारी को –

(अ) धारा 48 के अधीन प्राप्त आक्षेप न होने का प्रमाणपत्र भेजेगा ; या

(आ) ऐसे मामले में, जहां ऐसा प्रमाणपत्र प्राप्त नहीं किया गया है, –

(1) धारा 48 की उपधारा (2) के अधीन प्राप्त रसीद, या

(2) यदि उसने धारा 48 में निर्दिष्ट रजिस्ट्रीकर्ता प्राधिकारी को इस निमित्त आवेदन रसीदी रजिस्ट्री-डाक द्वारा भेजा है तो अंतरक द्वारा प्राप्त डाक रसीद, भेजेगा जिसके साथ यह घोषणा होगी कि उसे ऐसे प्राधिकारी से ऐसी कोई संसूचना प्राप्त नहीं हुई है जिसमें ऐसा प्रमाणपत्र दिए जाने से इनकार किया गया है या ऐसे किसी निदेश का पालन करने की उससे अपेक्षा की गई है जिसके अधीन ऐसा प्रमाणपत्र दिया जा सकेगा ;

(ख) अंतरिती उस अंतरण की रिपोर्ट अंतरण के तीस दिन के अंदर उस रजिस्ट्रीकर्ता प्राधिकारी को देगा जिसकी अधिकारिता के भीतर, यथास्थिति, उसका निवास-स्थान या कारबार का स्थान है जहां यान सामान्यतया रखा जाता है, और रजिस्ट्रीकरण प्रमाणपत्र विहित फीस तथा उसके द्वारा अंतरक से प्राप्त रिपोर्ट की एक प्रति के साथ उस रजिस्ट्रीकर्ता प्राधिकारी को भेजेगा जिससे स्वामित्व के अंतरण की विशिष्टियां रजिस्ट्रीकरण प्रमाणपत्र में प्रविष्ट की जा सकें ।

(2) जहां –

(क) उस व्यक्ति की जिसके नाम में मोटर यान रजिस्ट्रीकृत है, मृत्यु हो जाती है, या

(ख) मोटर यान सरकार द्वारा या उसकी ओर से की गई किसी सार्वजनिक नीलामी में क्रय या अर्जित किया गया है,

वहां यान के कब्ज़े को उत्तराधिकार में प्राप्त करने वाला व्यक्ति या, यथास्थिति, वह व्यक्ति जिसने मोटर यान क्रय या अर्जित किया है, अपने नाम में यान के स्वामित्व का अंतरण कराने के प्रयोजन के लिए उस रजिस्ट्रीकर्ता प्राधिकारी को, जिसकी अधिकारिता में, यथास्थिति, उसका निवास स्थान या कारबार का स्थान है, जहां यान सामान्यतया

रखा जाता है, ऐसी रीति में ऐसी विहित फीस सहित और ऐसी अवधि के भीतर, जो केन्द्रीय सरकार द्वारा विहित की जाए, आवेदन करेगा ।

(3) यदि अंतरक या अंतरिती रजिस्ट्रीकर्ता प्राधिकारी को अंतरण के तथ्य की रिपोर्ट, यथास्थिति, उपधारा (1) के खंड (क) या खंड (ख) में विनिर्दिष्ट अवधि के भीतर करने में असफल रहता है, या यदि वह व्यक्ति जिससे उपधारा (2) के अधीन आवेदन करने की अपेक्षा की जाती है (जिसे इस धारा में इसके पश्चात् अन्य व्यक्ति कहा गया है) विहित अवधि के भीतर ऐसा आवेदन करने में असफल रहता है तो रजिस्ट्रीकर्ता प्राधिकारी मामले की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए, यथास्थिति, अंतरक या अंतरिती या अन्य व्यक्ति से ऐसी कार्रवाई के बदले में जो धारा 177 के अधीन उसके विरुद्ध की जाए, एक सौ रुपए से अनधिक उतनी रकम का, जो उपधारा (5) के अधीन विहित की जाए, संदाय करने की अपेक्षा कर सकेगा :

परन्तु धारा 177 के अधीन कोई कार्रवाई, यथास्थिति, अंतरक या अंतरिती या अन्य व्यक्ति के विरुद्ध वहां की जाएगी जहां वह उक्त रकम का संदाय करने में असफल रहता है ।

(4) जहां किसी व्यक्ति ने उपधारा (3) के अधीन रकम का संदाय कर दिया है, वहां उसके विरुद्ध धारा 177 के अधीन कोई कार्रवाई नहीं की जाएगी ।

(5) उपधारा (3) के प्रयोजनों के लिए, राज्य सरकार, मोटर यान के स्वामित्व के अंतरण के तथ्य की रिपोर्ट देने में अंतरक या अंतरिती या उपधारा (2) के अधीन आवेदन करने में अन्य व्यक्ति की ओर से किए गए विलंब की अवधि को ध्यान में रखते हुए भिन्न-भिन्न रकमें विहित कर सकेंगी ।

(6) उपधारा (1) के अधीन रिपोर्ट की या उपधारा (2) के अधीन आवेदन की प्राप्ति पर रजिस्ट्रीकर्ता प्राधिकारी स्वामित्व के अंतरण को रजिस्ट्रीकरण प्रमाणपत्र में प्रविष्ट करा सकेगा ।

(7) रजिस्ट्रीकर्ता प्राधिकारी, जो ऐसी कोई प्रविष्टि करता है, स्वामित्व के अंतरण की संसूचना अंतरक को और यदि वह मूल रजिस्ट्रीकर्ता प्राधिकारी नहीं है तो मूल रजिस्ट्रीकर्ता प्राधिकारी को देगा ।"

8. **पुष्पा** उर्फ **लीला** (उपर्युक्त) वाले मामले में इस न्यायालय के दो न्यायाधीशों की न्यायपीठ का विनिश्चय ऐसे मामले में किया गया था जहां उल्लंघनकारी यान "जे" नामक व्यक्ति के नाम में रजिस्ट्रीकृत था, जिसने उसका विक्रय तारीख 2 फरवरी, 1993 को 'एस' नामक व्यक्ति को कर दिया था और अंतरिती को कब्ज़ा दे दिया था । अंतरण की तारीख को ट्रक एक विधिमान्य बीमा पालिसी के अंतर्गत आता था । यान के विक्रय के बावजूद रजिस्ट्रीकरण प्रमाणपत्र में स्वामित्व में परिवर्तन प्रतिबिंबित नहीं किया गया था । बीमा पालिसी का अवसान 24 फरवरी, 1993 को हो गया । इसके पश्चात् 'एस' ने रजिस्ट्रीकृत स्वामी के नाम में बीमा पालिसी ली और जब तारीख 7 मई, 1994 को दुर्घटना घटी तब वह पालिसी विधिमान्य थी और अस्तित्व में थी । अधिकरण ने यह अभिनिर्धारित किया कि प्रतिकर संदत्त करने का कोई भी दायित्व 'जे' का नहीं था चूंकि यान का 2 फरवरी, 1993 को विक्रय कर दिए जाने के पश्चात् वह उसका स्वामी नहीं रहा था । दावेदारों को प्रतिकर का संदाय करने के लिए केवल 'एस' को दायी ठहराया गया था । इन तथ्यों के आधार पर, इस न्यायालय के दो न्यायाधीशों की न्यायपीठ ने निम्नलिखित रूप में अभिनिर्धारित किया :–

> "11. इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है कि यान का विक्रय हो जाने के बावजूद, न तो अंतरक जितेन्द्र गुप्ता और न ही अंतरिती सालिग राम ने यान के रजिस्ट्रीकरण प्रमाणपत्र में स्वामी के नाम में परिवर्तन कराने के लिए कोई कदम उठाया । इस लोप के कारण जितेन्द्र गुप्ता के बारे में यह समझा जाना चाहिए कि वह इस अधिनियम के प्रयोजनों के लिए यान का स्वामी बना रहा हालांकि सिविल विधि के अधीन वह तारीख 2 फरवरी, 1993 को उसके विक्रय के पश्चात् उसका स्वामी नहीं रहा था ।" (पृष्ठ 244)

दो न्यायाधीशों की न्यायपीठ ने अपने विनिश्चय के अनुक्रम में, **डा. टी. वी. जोज़** बनाम **चाको पी. एम.**[1] वाले पूर्ववर्ती विनिश्चय के प्रति निर्देश किया जो कि मोटर यान अधिनियम, 1939 के अधीन उद्‌भूत हुआ था । इस न्यायालय ने उस संदर्भ में इस प्रकार अभिनिर्धारित किया था :–

> "12.... कार के प्रतिफल का संदाय करने और उसका परिदान करने पर हक का अंतरण किया जा सकता है । अभिलेख पर मौजूद साक्ष्य से यह दर्शित होता है कि कार के स्वामित्व का अंतरण हो गया

[1] (2001) 8 एस. सी. सी. 748.

था । तथापि, अपीलार्थी अब भी पर-व्यक्तियों के लिए दायी बना रहा क्योंकि क्षेत्रीय परिवहन कार्यालय के अभिलेख में उसका नाम स्वामी के रूप में बना रहा । अपीलार्थी इन अपीलों में श्री राय थॉमस से मिलने मात्र से उस दायित्व से बच नहीं सकता था ।" (पृष्ठ 244)

डा. टी. वी. जोज़ (उपर्युक्त) वाले विनिश्चय का **पी. पी. मोहम्मद** बनाम **के. राजाप्पन**[1] वाले मामले में अनुसरण किया गया था । इस न्यायालय ने यह अवेक्षा करने पर कि **डा. टी. वी. जोज़** (उपर्युक्त) वाले मामले में का विनिश्चय मोटर यान अधिनियम, 1939 के अधीन दिया गया था, **पुष्पा** (उपर्युक्त) वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया कि धारा 2(30) और धारा 50 के उपबंधों को ध्यान में रखते हुए यह विनिश्चयाधार, "1988 के अधिनियम के अंतर्गत उद्भूत होने वाले मामलों के तथ्यों पर भी समान बल से लागू होगा" । परिणामस्वरूप, इस न्यायालय का मत यह था कि वह व्यक्ति, जिसका नाम रजिस्ट्रीकर्ता प्राधिकारी के अभिलेख में यान के स्वामी के रूप में बना हुआ है, बीमाकर्ता के साथ समान रूप से दायी है ।

9. **पूर्णया कला देवी** (उपर्युक्त) वाले मामले में इस न्यायालय के तीन न्यायाधीशों की न्यायपीठ के विनिश्चय में ऐसी स्थिति अंतर्वलित थी जहां एक दुर्घटना में अंतर्ग्रस्त यान के रजिस्ट्रीकृत स्वामी ने मृत आहत व्यक्ति के विधिक वारिसों को प्रतिकर देने के अपने दायित्व से इस आधार पर इनकार कर दिया कि राज्य सरकार ने यान का अधिग्रहण कर लिया था । दुर्घटना की तारीख को वह यान असम यान अधिग्रहण और नियंत्रण अधिनियम, 1968 के अधीन अधिग्रहण में था । राज्य यह स्थापित करने में असफल रहा था कि स्वामी को राज्य अधिनियम की धारा 5(1) की अपेक्षानुसार यान का परिदान लेने संबंधी लिखित सूचना की तामील के पश्चात् यान को अधिग्रहण से निर्मुक्त कर दिया गया था । असम अधिनियम के अधीन, उस आशय की सूचना की तामील करने के पश्चात् ही अधिग्रहण प्राधिकारी का प्रतिकर के लिए दायित्व उद्भूत नहीं होगा । उच्च न्यायालय ने मोटर यान अधिनियम, 1988 की धारा 2(30) में "स्वामी" अभिव्यक्ति की परिभाषा के आधार पर राज्य सरकार को दायित्व से मुक्त कर दिया । इस न्यायालय ने उस निर्णय को उलटते हुए इस प्रकार अभिनिर्धारित किया :–

"16. उच्च न्यायालय ने असम अधिनियम की धारा 5 का

[1] (2008) 17 एस. सी. सी. 624.

उल्लेख किए बिना मात्र 1988 के अधिनियम की धारा 2(30) में अंतर्विष्ट "स्वामी" की परिभाषा के आधार पर यान के स्वामी द्वारा संदेय अधिनिर्णय का अपकर्तन किया । उच्च न्यायालय इस बात का मूल्यांकन करने में असफल रहा कि सुसंगत समय पर उल्लंघनकारी यान असम अधिनियम के उपबंधों के अधीन प्रत्यर्थी सं. 1 असम राज्य के अधिग्रहण के अधीन था । अतः, प्रत्यर्थी सं. 1 उचित रूप से 1988 के अधिनियम की धारा 2(30) में यथा-अंतर्विष्ट "स्वामी" की परिभाषा के अंतर्गत आता था । उच्च न्यायालय, "स्वामी" की परिभाषा में ऐसे व्यक्ति को, जिसका किसी यान पर पट्टा करार या आडमान के करार के अधीन या अवक्रय करार के अधीन कब्ज़ा है, सम्मिलित करते समय इस अंतर्निहित विधायी आशय का मूल्यांकन करने में असफल रहा कि ऐसे व्यक्ति का, जिसका यान पर नियंत्रण और कब्ज़ा है, न कि केवल रजिस्ट्रीकृत स्वामी का, "स्वामी" के रूप में अर्थान्वयन किया जाना चाहिए । इसके अलावा, उच्च न्यायालय इस विधायी आशय का मूल्यांकन करने में असफल रहा कि यान के रजिस्ट्रीकृत स्वामी को तब दायी नहीं ठहराया जाना चाहिए यदि यान उसके कब्ज़े या नियंत्रण में नहीं है । उच्च न्यायालय इस बात का मूल्यांकन करने में भी असफल रहा कि 1988 के अधिनियम की धारा 146 में यह अपेक्षित है कि कोई व्यक्ति, ऐसी किसी बीमा पालिसी के बिना, जो 1988 के अधिनियम के अध्याय 11 की अपेक्षाओं को पूरा करती है, किसी मोटर यान का सार्वजनिक स्थान में उपयोग नहीं करेगा या किसी अन्य व्यक्ति से नहीं कराएगा या करने की अनुज्ञा नहीं देगा और राज्य सरकार ने 1988 के अधिनियम के कानूनी उपबंधों का अतिक्रमण किया है । अधिकरण ने प्रत्यर्थी सं. 2 के इस अभिकथन को किसी साक्ष्य के बिना स्वीकार करके भी गलती की है कि यान को दुर्घटना की तारीख को 10.30 बजे पूर्वाह्न में निर्मुक्त किया गया था और दुर्घटना 10.30 बजे पूर्वाह्न में घटित हुई थी यद्यपि दावा याचिका में यह कथन किया गया था कि दुर्घटना 10.15 बजे पूर्वाह्न में घटित हुई थी ।" (पृष्ठ 147)

10. उपर्युक्त मताभिव्यक्तियों से यह उपदर्शित होगा कि इस न्यायालय ने संचयी रूप से कई परिस्थितियों के संयोजन को महत्व दिया । महत्वपूर्ण रूप से, प्रस्तुत विचार-विमर्श के प्रयोजनों के लिए उपर्युक्त निर्णय से जो कुछ उद्भूत होता है वह यह परिस्थिति है कि दुर्घटना की

तारीख को मोटर यान राज्य सरकार द्वारा अधिग्रहण कर लिया गया था । जहां तक उस व्यक्ति का संबंध है जिसकी संपत्ति का अधिग्रहण किया जाता है, अधिग्रहण अपने स्वरूप में ही अस्वैच्छिक है । इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि ऐसे व्यक्ति का, जिसका ऐसे किसी यान पर नियंत्रण और कब्ज़ा है जो कि पट्टे, आडमान या अवक्रय के करार के अधीन है, न कि रजिस्ट्रीकृत स्वामी का अर्थान्वयन स्वामी के रूप में किया जाता है । यही समरूपता यह अभिनिर्धारित करने के लिए अपनाई गई थी कि जहां यान का अधिग्रहण कर लिया गया था वहां राज्य न कि रजिस्ट्रीकृत स्वामी के पास कब्ज़ा और नियंत्रण था और इसलिए वह प्रतिकर के लिए दायी ठहराया जाएगा । **पूर्णया कला देवी** (उपर्युक्त) वाले मामले में यह अभिनिर्धारित नहीं किया गया है कि ऐसे व्यक्ति को, जो यान का किसी अन्य व्यक्ति को अंतरण करता है किन्तु रजिस्ट्रीकर्ता प्राधिकारी के अभिलेख में धारा 2(30) के अधीन रजिस्ट्रीकृत स्वामी बना रहता है, दायित्व से मुक्त किया जाता है । उस मामले में न्यायालय के समक्ष जो स्थिति उद्भूत हुई, उसे ध्यान में रखा जाना चाहिए क्योंकि राज्य द्वारा अधिग्रहण करने की अनिवार्य कार्रवाई के संदर्भ में ही इस न्यायालय ने, तर्काधार की सादृश्यता में यह अभिनिर्धारित किया कि रजिस्ट्रीकृत स्वामी दायी नहीं था ।

11. **एच. डी. एफ. सी. बैंक लिमिटेड** बनाम **रेशमा** (उपर्युक्त) वाले मामले में इस न्यायालय के तीन न्यायाधीशों की न्यायपीठ के पश्चात्वर्ती विनिश्चय में आडमान का करार अंतर्वलित था । अधिकरण ने यान के स्वामी के साथ-साथ उसके वित्तदाता को इस आधार पर उचित रूप से दायी ठहराया कि वह यह सुनिश्चित करने के लिए बाध्यताधीन था कि उधार लेने वाले ने यान का बीमा कराने में उपेक्षा नहीं बरती थी । उच्च न्यायालय ने बैंक द्वारा अधिकरण के आदेश के विरुद्ध फाइल की गई अपील यह अभिनिर्धारित करते हुए खारिज कर दी थी कि स्वामी के साथ-साथ वह भी दायी है । इस न्यायालय के समक्ष अपील में, न्यायमूर्ति दीपक मिश्रा (जैसे कि विद्वान् मुख्य न्यायमूर्ति तब थे) ने निर्णय के अनुक्रम में. इस न्यायालय द्वारा अनेक पूर्ववर्ती विनिश्चयों द्वारा, जिनमें इस न्यायालय के निर्णय भी आते हैं, अधिकथित सिद्धांतों का उल्लेख किया । [**मोहन बेनेफिट (प्रा.) लिमिटेड** बनाम **कचराजी रेमलजी**[1], **राजस्थान राज्य सड़क**

[1] (1997) 9 एस. सी. सी. 103 = (1997) एस. सी. सी. (क्रि.) 610.

परिवहन निगम बनाम **कैलाश नाथ कोठारी**[1], **नेशनल इंश्योरेंस कंपनी लिमिटेड** बनाम **दीपा देवी**[2], **मुकेश कुमार त्रिपाठी** बनाम **भारतीय जीवन बीमा निगम**[3], **रमेश मेहता** बनाम **सांवल चन्द सिंघवी**[4], **महाराष्ट्र राज्य** बनाम **इंडियन मेडिकल एसोसिएशन**[5], **पांडेय एंड कंपनी बिल्डर्स (प्रा.) लिमिटेड** बनाम **बिहार राज्य**[6], **नेशनल इंश्योरेंस कंपनी लिमिटेड** बनाम **दुरदादहया कुमार सामल**[7], **भावनगर नगरपालिका** बनाम **बचूभाई अर्जनभाई**[8], **गोदावरी फाइनेंस कंपनी** बनाम **डेगला सत्यनारायणम्मा**[9], **पुष्पा** बनाम **शकुन्तला**[10], **टी. वी. जोज़**[11], **उत्तर प्रदेश राज्य सड़क परिवहन निगम** बनाम **कुलसुम**[12], **पूर्णया कला देवी** बनाम **असम राज्य**[13] वाले मामले देखिए|

इस न्यायालय ने यह अवेक्षा करते हुए कि न्यायालय के समक्ष जो मामला है उसमें आडमान का करार अंतर्वलित है, निम्न प्रकार अभिनिर्धारित किया :–

> "22. प्रस्तुत मामले में, जैसा कि तथ्यों को उजागर किया गया है, अपीलार्थी बैंक ने यान का क्रय करने के लिए स्वामी का वित्तपोषण किया था और स्वामी ने बैंक के साथ आडमान करार किया था । उधार लेने वाले की यह आरंभिक बाध्यता थी कि वह यान का बीमा कराए किन्तु उसने बीमे के बिना वह यान सड़क पर

---

1 (1997) 7 एस. सी. सी. 481.

2 (2008) 1 एस. सी. सी. 414 = (2008) 1 एस. सी. सी. (सि.) 270 = (2008) 1 एस. सी. सी. (क्रि.) 209.

3 (2004) 8 एस. सी. सी. 387 = (2004) एस. सी. सी. (एल. एंड एस.) 1128.

4 (2004) 5 एस. सी. सी. 409.

5 (2002) 1 एस. सी. सी. 589 = 5 एस. सी. ई. सी. 217.

6 (2007) 1 एस. सी. सी. 467.

7 (1988) 1 ए. सी. सी. 204 = (1988) 2 टी. ए. सी. 25 (उड़ीसा).

8 (1995) एस. सी. सी. आनलाइन गुजरात 167= ए. आई. आर. 1996 गुजरात 51.

9 (2008) 5 एस. सी. सी. 107 = (2008) 2 एस. सी. सी. (क्रि.) 531.

10 (2011) 2 एस. सी. सी. 240 = (2011) 1 एस. सी. सी. (सि.) 399 = (2011) 1 एस. सी. सी. (क्रि.) 682.

11 (2001) 8 एस. सी. सी. 748 = (2002) एस. सी. सी. (क्रि.) 94.

12 (2011) 8 एस. सी. सी. 142 = (2011) 4 एस. सी. सी. (सि.) 66 = (2011) 3 एस. सी. सी. (क्रि.) 376.

13 (2014)14 एस. सी. सी. 142 = (2015) 1 एस. सी. सी. (क्रि.) 304 = (2015) 1 एस. सी. सी. (सि.) 251.

> चलाया और दुर्घटना घटी । यदि यान का बीमा कराया गया होता तो बीमा कंपनी दायी होती न कि स्वामी । इस तथ्य की बाबत कोई आपत्ति नहीं है कि यान आडमान के करार के अधीन था और वह प्रत्यर्थी सं. 2 के कब्ज़े और नियंत्रण में था ।" (पृष्ठ 693)

चूंकि यान का नियंत्रण और कब्ज़ा द्वितीय प्रत्यर्थी के पास था इसलिए इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि उच्च न्यायालय ने वित्तदाता पर दायित्व डालकर गलती की थी । बीमा कवर प्राप्त करने के लिए पूर्ण संदाय करने में द्वितीय प्रत्यर्थी की असफलता के बारे में न तो वित्तदाता को जानकारी थी और न ही उसकी ओर से कोई दुरभिसंधि की गई थी । परिणामस्वरूप, उच्च न्यायालय के बारे में यह अभिनिर्धारित किया गया कि उसने वित्तदाता पर दायित्व डालकर गलती की थी ।

12. उपर्युक्त विनिश्चयों से तर्काधार की जो संगत कड़ी उद्‌भूत होती है वह यह है कि धारा 2(30) में "स्वामी" अभिव्यक्ति की परिभाषा को ध्यान में रखते हुए, वही व्यक्ति, जिसके नाम में मोटर यान रजिस्ट्रीकृत बना हुआ है, अधिनियम के प्रयोजनों के लिए "स्वामी" माना जाएगा । तथापि, जहां वह व्यक्ति अवयस्क है वहां उस अवयस्क के संरक्षक को स्वामी माना जाएगा । जहां कोई मोटर यान अवक्रय, पट्टे या आडमान के किसी करार के अधीन है वहां वह व्यक्ति, जिसका उस करार के अधीन यान पर कब्ज़ा है, स्वामी माना जाता है । ऐसी स्थिति में, जैसी कि वर्तमान में है, जहां रजिस्ट्रीकृत स्वामी का तात्पर्य यान का अंतरण करना है किन्तु वह रजिस्ट्रीकर्ता प्राधिकारी के अभिलेख में यान के स्वामी के रूप में प्रतिबिंबित बना हुआ है वहां वह दायित्व से मुक्त नहीं हो जाएगा । संसद् ने सोच समझकर 1939 के पूर्ववर्ती अधिनियम में धारा 2(19) के उपबंधों से विचलन करते हुए, धारा 2(30) में "स्वामी" अभिव्यक्ति की परिभाषा पुरःस्थापित की है । धारा 2(30) के उपबंधों में अंतर्निहित सिद्धांत यह है कि मोटर दुर्घटना का शिकार व्यक्ति या मृत्यु की दशा में मृत आहत व्यक्ति के विधिक वारिसों को अनिश्चितता की अवस्था में नहीं छोड़ा जाना चाहिए । प्रतिकर के दावेदार को ऐसे उत्तरवर्ती अंतरणों का, जो रजिस्ट्रीकर्ता प्राधिकारी के पास रजिस्ट्रीकृत नहीं हैं, पीछा करने का भार नहीं डाला जाना चाहिए । इससे भिन्न अभिनिर्धारित करना इस अधिनियम के हितकारी उद्देश्य और प्रयोजन को विफल करना होगा । अतः, जो

निर्वचन किया जाए उससे विधि के उद्देश्य की पूर्ति सुकर होनी चाहिए । प्रस्तुत मामले में, प्रथम प्रत्यर्थी धारा 2(30) के अर्थान्तर्गत दुर्घटना में अंतर्वलित यान का "स्वामी" था । प्रतिकर संदत्त करने का दायित्व उसके ऊपर डाला जाता है । स्वीकृततः, यान बीमाकृत नहीं था । उच्च न्यायालय ने **रेशमा** (उपर्युक्त) और **पूर्णया कला देवी** (उपर्युक्त) वाले मामलों में इस न्यायालय के निर्णयों के गलत अर्थान्वयन के आधार पर कार्यवाही की है ।

13. याची की दलील यह है कि अंतरण की सूचना देने में असफल रहने के परिणामस्वरूप धारा 50(3) के अधीन केवल जुर्माना लगाया जा सकता किन्तु इससे यान का अंतरण अविधिमान्य नहीं हो जाएगा । **डा. टी. वी. जोज़** (उपर्युक्त) वाले मामले में, इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि प्रतिफल का संदाय करके और कार का परिदान करके हक का अंतरण हो सकता है । किन्तु अधिनियम के प्रयोजनों के लिए वह व्यक्ति, जिसका नाम रजिस्ट्रीकर्ता प्राधिकारी के अभिलेख में प्रतिबिंबित होता है, स्वामी है । धारा 2(30) के अर्थान्तर्गत स्वामी प्रतिकर के लिए दायी है । विधि की आज्ञा का पालन अवश्य ही किया जाना चाहिए ।

14. उपर्युक्त कारणों से, हम अपील मंजूर करते हैं और यह निदेश देते हैं कि अधिकरण के निर्णय के निबंधनानुसार दावेदारों को प्रतिकर देने का दायित्व प्रथम प्रत्यर्थी पर आ जाएगा । उच्च न्यायालय का निर्णय अपास्त किया जाता है । मामले की परिस्थितियों में, खर्चे के बारे में कोई आदेश नहीं किया जाता है ।

अपील मंजूर की गई ।

ग्रो.

[2018] 3 उम. नि. प. 199

दाताराम सिंह

बनाम

उत्तर प्रदेश राज्य और एक अन्य

6 फरवरी, 2018

न्यायमूर्ति मदन बी. लोकुर और न्यायमूर्ति दीपक गुप्ता

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2) – धारा 436 – जमानत का अधिकार – जमानत मंजूर करने या उससे इनकार करने के लिए कारक – संदिग्ध व्यक्ति को रिमांड पर भेजने या अभियुक्त व्यक्ति को पुलिस अभिरक्षा या न्यायिक अभिरक्षा में भेजने संबंधी किसी आवेदन पर विचार करते समय मानवीय रुख अपनाने की आवश्यकता – यदि अभियुक्त को अन्वेषण के दौरान और आरोप पत्र फाइल करने के पश्चात् भी गिरफ्तार नहीं किया जाता है तो इसका यह अभिप्राय होगा कि अभियुक्त के फरार होने या विचारण में बाधा पहुंचाने की आशंका नहीं है, इसलिए, विचारण न्यायाधीश को जमानत मंजूर करने या उससे इनकार करने संबंधी अपने विवेकाधिकार का प्रयोग न्यायसम्मत रीति में और मानवीय तरीके से तथा सहानुभूतिपूर्वक करना चाहिए ।

प्रस्तुत मामले में, परिवादी ने यह अभिकथन करते हुए प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज कराई कि अपीलार्थी ने उसके साथ 37 लाख रुपए से अधिक की रकम का छल किया था और इसलिए उसने भारतीय दंड संहिता की धारा 419, 420, 406 और 506 के अधीन दंडनीय अपराध कारित किया था । यह भी अभिकथन किया गया था कि अपीलार्थी ने परिवादी के पक्ष में 18 लाख रुपए का एक चैक जारी किया था (जिसके द्वारा 37 लाख रुपए की रकम का एक भाग लौटाया गया) किन्तु उसने परक्राम्य लिखत अधिनियम, 1881 की धारा 138 का अतिक्रमण करते हुए उस चैक का भुगतान रुकवा दिया था । इसके पश्चात्, परिवादी ने अपीलार्थी द्वारा परक्राम्य लिखत अधिनियम, 1881 की धारा 138 के अधीन अपराध कारित किए जाने का अभिकथन करते हुए परिवाद मामला फाइल किया । इस परिवाद मामले में संबंधित मजिस्ट्रेट द्वारा संज्ञान लिया गया और अपीलार्थी को समन जारी किए गए । अन्वेषक अधिकारी ने अपीलार्थी के विरुद्ध एक आरोप पत्र फाइल किया । ऐसा प्रतीत होता है कि अपीलार्थी को अन्वेषण

के दौरान गिरफ्तार नहीं किया गया था । अपीलार्थी ने, अपने विरुद्ध आरोप पत्र फाइल किए जाने के पश्चात् गिरफ्तारी के डर से उच्च न्यायालय में अपने विरुद्ध दर्ज प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को अभिखंडित करने के लिए समावेदन किया । उच्च न्यायालय ने प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को अभिखंडित करने से इनकार कर दिया किन्तु अपीलार्थी को विचारण न्यायालय के समक्ष हाजिर होने के लिए दो मास का समय अनुदत्त किया । संभवतः, यह निदेश दिया गया था कि अपीलार्थी को इस अवधि के दौरान गिरफ्तार नहीं किया जाना चाहिए । अपीलार्थी ने एक बार विचारण न्यायालय के समक्ष उपस्थित होने के लिए दो सप्ताह की अतिरिक्त अवधि की मांग करते हुए उच्च न्यायालय में फिर से समावेदन किया । ऐसा प्रतीत होता है कि यथा-प्रार्थित समय अनुदत्त कर दिया गया और अंततः, जब अपीलार्थी विचारण न्यायाधीश के समक्ष हाजिर हुआ और उसे न्यायिक अभिरक्षा में ले लिया गया था । अपीलार्थी तब से न्यायिक अभिरक्षा में है । अपीलार्थी द्वारा फाइल किया गया जमानत संबंधी आवेदन विचारण न्यायाधीश और उच्च न्यायालय द्वारा नामंजूर कर दिया गया, जिसे उच्चतम न्यायालय में चुनौती दी गई है । अपील मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित – दांडिक न्यायशास्त्र की मूलभूत अभिधारणा निर्दोषिता की उपधारणा है, जिसका अर्थ यह है कि जब तक किसी व्यक्ति को दोषी नहीं पाया जाता तब तक उसके बारे में यह विश्वास किया जाता है कि वह निर्दोष है । तथापि, हमारी दंड विधि में ऐसे उदाहरण भी हैं जहां कुछ विनिर्दिष्ट अपराधों के संबंध में किसी अभियुक्त पर विपरीत भार डाला गया है किन्तु यह एक अलग विषय है और इससे अन्य अपराधों की बाबत मूलभूत अभिधारणा का अपकर्षण नहीं होता है । फिर भी, हमारे दांडिक न्यायशास्त्र का एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू यह है कि जमानत मंजूर करना एक साधारण नियम है और किसी व्यक्ति को जेल या किसी कारागार में या किसी सुधार-गृह में डालना (कोई भी किसी भी अभिव्यक्ति का प्रयोग कर सकता है) एक अपवाद है । दुर्भाग्यवश, ऐसा प्रतीत होता है कि इन मूलभूत सिद्धांतों में कुछ सिद्धांतों की अनदेखी की गई है जिसके परिणामस्वरूप अधिक से अधिक व्यक्तियों को लंबी-लंबी अवधियों के लिए बन्दी बनाया जा रहा है । इससे हमारे दांडिक न्यायशास्त्र या हमारे समाज को कोई फायदा नहीं होता है । इस संबंध में कोई संदेह नहीं है कि जमानत मंजूर करना या उससे इनकार करना संपूर्णतः उस न्यायाधीश के विवेकाधिकार पर निर्भर करता है जो मामले पर विचार कर रहा है किन्तु

फिर भी न्यायिक विवेकाधिकार के प्रयोग को इस न्यायालय द्वारा और देश के प्रत्येक उच्च न्यायालय द्वारा दिए गए अनेक विनिश्चयों द्वारा परिसीमित किया गया है । तथापि, कभी-कभी इस संबंध में आत्मनिरीक्षण करने की आवश्यकता होती है कि किसी मामले के तथ्यों और उसकी परिस्थितियों के आधार पर किसी अभियुक्त व्यक्ति को जमानत देने से इनकार करना सही है अथवा नहीं । इस प्रकार आत्मनिरीक्षण करते समय जिन कारकों पर विचार करना आवश्यक होता है वे ये हैं कि क्या अभियुक्त को अन्वेषण के दौरान तब गिरफ्तार किया गया था जब उस व्यक्ति के पास साक्ष्य के साथ छेड़छाड़ करने या साक्षियों को प्रभावित करने का संभवतः सर्वोत्तम अवसर था । यदि अन्वेषक अधिकारी किसी अभियुक्त को अन्वेषण के दौरान गिरफ्तार करना आवश्यक नहीं समझता है तो आरोप पत्र फाइल किए जाने के पश्चात् उस व्यक्ति को न्यायिक अभिरक्षा में रखने का ठोस मामला साबित किया जाना चाहिए । इसी प्रकार, यह अभिनिश्चित करना महत्वपूर्ण है कि क्या अभियुक्त अन्वेषक अधिकारी के समाधानप्रद रूप में अन्वेषण में भाग ले रहा था और फरार नहीं हो गया था या जब अन्वेषक अधिकारी द्वारा अपेक्षा की गई थी, उपस्थित नहीं हो रहा था । निश्चित रूप से, यदि कोई अभियुक्त अन्वेषक अधिकारी से बच नहीं रहा है या पीड़ित किए जाने संबंधी किसी वास्तविक और अभिव्यक्त भय के कारण छिप रहा है तो यह एक ऐसा कारक होगा जिस पर किसी न्यायाधीश के लिए समुचित मामले में विचार करना आवश्यक होगा । न्यायाधीश के लिए इस बात पर विचार करना भी आवश्यक है कि क्या अभियुक्त का यह प्रथम अपराध है या वह अन्य अपराधों के लिए भी अभियुक्त रहा है और यदि ऐसा है तो ऐसे अपराधों की प्रकृति और उसका साधारण आचरण कैसा था । किसी अभियुक्त की गरीबी या मानित दीनहीन हैसियत भी एक अत्यंत महत्वपूर्ण कारक है और संसद् ने भी दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 436 में स्पष्टीकरण सम्मिलित करते समय इस बात को ध्यान में रखा है । संसद् ने दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 में धारा 436क अंतःस्थापित करके बन्दी बनाने के संबंध में उदार दृष्टिकोण अपनाया है । संक्षेप में, किसी न्यायाधीश से, किसी संदिग्ध व्यक्ति को रिमांड पर भेजने या किसी अभियुक्त व्यक्ति को पुलिस अभिरक्षा या न्यायिक अभिरक्षा में भेजने संबंधी किसी आवेदन पर विचार करते समय मानवीय रुख अपनाने की अपेक्षा होती है । इसके लिए अनेक कारण हैं, जिनके अंतर्गत अभियुक्त व्यक्ति की, चाहे वह कितना ही निर्धन क्यों न हो, गरिमा बनाए रखना, संविधान

के अनुच्छेद 21 की अपेक्षाएं और यह तथ्य भी शामिल है कि कारागारों में अपराधियों की संख्या अत्यधिक है जिसके परिणामस्वरूप सामाजिक और अन्य समस्याएं पैदा हो रही हैं । (पैरा 2, 3, 4 और 5)

जमानत मंजूर करना नियम है और उससे इनकार करना अपवाद है । अतः जमानत से संबंधित उपबंध प्राचीन है और जमानत से संबंधित उपबंध का उदार निर्वचन करना लगभग एक शताब्दी पुराना है जो कि औपनिवेशिक काल का है । जमानत मंजूर करना या उससे इनकार करना संपूर्णतः उस न्यायाधीश के विवेकाधिकार के भीतर आता है जो मामले की सुनवाई कर रहा है और यद्यपि वह विवेकाधिकार निरंकुश है तथापि, इसका प्रयोग न्यायसम्मत रूप से और मानवीय रीति में और सहानुभूतिपूर्वक किया जाना चाहिए । इसके अलावा, जमानत मंजूर करने से संबंधित शर्तें इतनी कठोर नहीं होनी चाहिए जिससे कि उनका अनुपालन करना अक्षम हो, जिससे जमानत मंजूर करना अवास्तविक हो जाए । (पैरा 6 और 7)

अपीलार्थी के विरुद्ध लगाए गए अभिकथनों की शुद्धता या अन्यथा के बारे में परीक्षा करना आवश्यक नहीं है । यह एक ऐसा मामला है जिस पर निसंदिग्ध रूप से विचारण न्यायाधीश द्वारा कार्यवाही की जाएगी । तथापि, जो कुछ महत्वपूर्ण है वह यह है कि अन्वेषण की संपूर्ण अवधि के दौरान, अपीलार्थी को अन्वेषक अधिकारी द्वारा गिरफ्तार नहीं किया गया था । तब भी जब अपीलार्थी को यह आशंका थी कि उसके विरुद्ध आरोप पत्र फाइल किए जाने के पश्चात् उसे गिरफ्तार किया जा सकता है, उसे काफी समय तक गिरफ्तार नहीं किया गया था । जब उसने अपने विरुद्ध दर्ज की गई प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को अभिखंडित करने के लिए इलाहाबाद उच्च न्यायालय में समावेदन किया तब उसे विचारण न्यायाधीश के समक्ष हाजिर होने के लिए दो मास का समय अनुदत्त किया गया था । ये सभी तथ्य इस बात के सूचक हैं कि इस बात की कोई आशंका नहीं थी कि अपीलार्थी फरार हो जाएगा या विचारण में किसी रीति में बाधा पहुंचाएगा । इस स्थिति को ध्यान में रखते हुए, विचारण न्यायाधीश तथा उच्च न्यायालय को अपने विवेकाधिकार का प्रयोग न्यायसम्मत रूप से करना चाहिए था और अपीलार्थी को जमानत मंजूर करनी चाहिए थी । इन सभी बातों और अन्य कारकों पर विचार करते हुए, यह उचित होगा यदि अपीलार्थी को उन शर्तों पर, जो कि विचारण न्यायाधीश द्वारा युक्तिसंगत रूप से नियत की जाएं, जमानत मंजूर की जाए । (पैरा 17 और 18)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[2017]	(2017) 10 एस. सी. सी. 658 : **इन रि-इनह्यूमेन कंडीशन्स इन 1382 प्रिज़न्स** ;	5
[2017]	(2017) 13 स्केल 609 : **नीकेश ताराचंद शाह** बनाम **भारत संघ** ;	6
[1980]	(1980) 2 एस. सी. सी. 565 : **गुरबख्श सिंह सिब्बिया** बनाम **पंजाब राज्य** ;	6
[1931]	ए. आई. आर. 1931 इलाहाबाद 356 : **एम्परर** बनाम **हचिन्सन** ;	6
[1924]	ए. आई. आर. 1924 कलकत्ता 476 : **नागेन्द्र** बनाम **किंग एम्परर** ।	6

अपीली (दांडिक) अधिकारिता : 2018 की दांडिक अपील सं. 227.

2017 के दांडिक प्रकीर्ण जमानत आवेदन सं. 18235 में इलाहाबाद उच्च न्यायालय के तारीख 21 सितम्बर, 2017 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील ।

अपीलार्थी की ओर से — सर्वश्री धरनीधर झा, ज्येष्ठ अधिवक्ता, रजनीश कुमार झा, रमन कुमार सिंह और महेन्द्र कुमार

प्रत्यर्थियों की ओर से — सुश्री ऐश्वर्या भाटी, अपर महान्यायवादी, सर्वश्री डी. पी. चतुर्वेदी, रवि पंवार, अनुव्रत शर्मा और (सुश्री) अलका सिन्हा

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति मदन बी. लोकुर ने दिया ।

न्या. लोकुर – इजाजत दी जाती है ।

2. दांडिक न्यायशास्त्र की मूलभूत अभिधारणा निर्दोषिता की उपधारणा है, जिसका अर्थ यह है कि जब तक किसी व्यक्ति को दोषी नहीं पाया जाता तब तक उसके बारे में यह विश्वास किया जाता है कि वह निर्दोष है । तथापि, हमारी दंड विधि में ऐसे उदाहरण भी हैं जहां कुछ विनिर्दिष्ट अपराधों के संबंध में किसी अभियुक्त पर विपरीत भार डाला गया है किन्तु यह एक अलग विषय है और इससे अन्य अपराधों की बाबत

मूलभूत अभिधारणा का अपकर्षण नहीं होता है । फिर भी, हमारे दांडिक न्यायशास्त्र का एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू यह है कि जमानत मंजूर करना एक साधारण नियम है और किसी व्यक्ति को जेल या किसी कारागार में या किसी सुधार-गृह में डालना (कोई भी किसी भी अभिव्यक्ति का प्रयोग कर सकता है) एक अपवाद है । दुर्भाग्यवश, ऐसा प्रतीत होता है कि इन मूलभूत सिद्धांतों में कुछ सिद्धांतों की अनदेखी की गई है जिसके परिणामस्वरूप अधिक से अधिक व्यक्तियों को लंबी-लंबी अवधियों के लिए बन्दी बनाया जा रहा है । इससे हमारे दांडिक न्यायशास्त्र या हमारे समाज को कोई फायदा नहीं होता है ।

3. इस संबंध में कोई संदेह नहीं है कि जमानत मंजूर करना या उससे इनकार करना संपूर्णतः उस न्यायाधीश के विवेकाधिकार पर निर्भर करता है जो मामले पर विचार कर रहा है किन्तु फिर भी न्यायिक विवेकाधिकार के प्रयोग को इस न्यायालय द्वारा और देश के प्रत्येक उच्च न्यायालय द्वारा दिए गए अनेक विनिश्चयों द्वारा परिसीमित किया गया है । तथापि, कभी-कभी इस संबंध में आत्मनिरीक्षण करने की आवश्यकता होती है कि किसी मामले के तथ्यों और उसकी परिस्थितियों के आधार पर किसी अभियुक्त व्यक्ति को जमानत देने से इनकार करना सही है अथवा नहीं ।

4. इस प्रकार आत्मनिरीक्षण करते समय जिन कारकों पर विचार करना आवश्यक होता है वे ये हैं कि क्या अभियुक्त को अन्वेषण के दौरान तब गिरफ्तार किया गया था जब उस व्यक्ति के पास साक्ष्य के साथ छेड़छाड़ करने या साक्षियों को प्रभावित करने का संभवतः सर्वोत्तम अवसर था । यदि अन्वेषक अधिकारी किसी अभियुक्त को अन्वेषण के दौरान गिरफ्तार करना आवश्यक नहीं समझता है तो आरोप पत्र फाइल किए जाने के पश्चात् उस व्यक्ति को न्यायिक अभिरक्षा में रखने का ठोस मामला साबित किया जाना चाहिए । इसी प्रकार, यह अभिनिश्चित करना महत्वपूर्ण है कि क्या अभियुक्त अन्वेषक अधिकारी के समाधानप्रद रूप में अन्वेषण में भाग ले रहा था और फरार नहीं हो गया था या जब अन्वेषक अधिकारी द्वारा अपेक्षा की गई थी, उपस्थित नहीं हो रहा था । निश्चित रूप से, यदि कोई अभियुक्त अन्वेषक अधिकारी से बच नहीं रहा है या पीड़ित किए जाने संबंधी किसी वास्तविक और अभिव्यक्त भय के कारण छिप रहा है तो यह एक ऐसा कारक होगा जिस पर किसी न्यायाधीश के लिए समुचित मामले में विचार करना आवश्यक होगा । न्यायाधीश के लिए इस बात पर विचार करना भी आवश्यक है कि क्या अभियुक्त का यह प्रथम अपराध है या वह

अन्य अपराधों के लिए भी अभियुक्त रहा है और यदि ऐसा है तो ऐसे अपराधों की प्रकृति और उसका साधारण आचरण कैसा था । किसी अभियुक्त की गरीबी या मानित दीनहीन हैसियत भी एक अत्यंत महत्वपूर्ण कारक है और संसद् ने भी दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 436 में स्पष्टीकरण सम्मिलित करते समय इस बात को ध्यान में रखा है । संसद् ने दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 में धारा 436क अंतःस्थापित करके बन्दी बनाने के संबंध में उदार दृष्टिकोण अपनाया है ।

5. संक्षेप में, किसी न्यायाधीश से, किसी संदिग्ध व्यक्ति को रिमांड पर भेजने या किसी अभियुक्त व्यक्ति को पुलिस अभिरक्षा या न्यायिक अभिरक्षा में भेजने संबंधी किसी आवेदन पर विचार करते समय मानवीय रुख अपनाने की अपेक्षा होती है । इसके लिए अनेक कारण हैं, जिनके अंतर्गत अभियुक्त व्यक्ति की, चाहे वह कितना ही निर्धन क्यों न हो, गरिमा बनाए रखना, संविधान के अनुच्छेद 21 की अपेक्षाएं और यह तथ्य भी शामिल है कि कारागारों में अपराधियों की संख्या अत्यधिक है जिसके परिणामस्वरूप सामाजिक और अन्य समस्याएं पैदा हो रही हैं, जैसा कि इस न्यायालय ने **इन रि-इनह्यूमेन कंडीशन्स इन 1382 प्रिज़न्स**[1] (1382 कारागारों में अमानवीय दशाएं) वाले मामले में अपेक्षा की है ।

6. जमानत से संबंधित उपबंध की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को **नीकेश ताराचंद शाह** बनाम **भारत संघ**[2] वाले मामले में दिए गए हाल ही के विनिश्चय में विस्तृत और सुबोधगम्य रूप से स्पष्ट किया गया है, जिसमें मैग्ना कार्टा के काल का उल्लेख भी किया गया है । उस विनिश्चय में, **गुरबख्श सिंह सिब्बिया** बनाम **पंजाब राज्य**[3] वाले मामले के प्रति निर्देश किया गया है, जिसमें यह मत व्यक्त किया गया है कि बहुत पहले **नागेन्द्र** बनाम **किंग एम्परर**[4] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि जमानत को दंड के रूप में रोका नहीं जाना है । **एम्परर** बनाम **हचिन्सन**[5] वाले मामले के प्रति भी निर्देश किया गया था जिसमें यह मत व्यक्त किया गया था कि जमानत मंजूर करना नियम है और उससे इनकार करना अपवाद है । अतः जमानत से संबंधित उपबंध प्राचीन है और जमानत से

---

[1] (2017) 10 एस. सी. सी. 658.
[2] (2017) 13 स्केल 609.
[3] (1980) 2 एस. सी. सी. 565.
[4] ए. आई. आर. 1924 कलकत्ता 476.
[5] ए. आई. आर. 1931 इलाहाबाद 356.

संबंधित उपबंध का उदार निर्वचन करना लगभग एक शताब्दी पुराना है जो कि औपनिवेशिक काल का है ।

7. तथापि, हमारे कहने का यह अर्थ नहीं लगाया जाना चाहिए कि जमानत प्रत्येक मामले में मंजूर की जानी चाहिए । जमानत मंजूर करना या उससे इनकार करना संपूर्णतः उस न्यायाधीश के विवेकाधिकार के भीतर आता है जो मामले की सुनवाई कर रहा है और यद्यपि वह विवेकाधिकार निरंकुश है तथापि, इसका प्रयोग न्यायसम्मत रूप से और मानवीय रीति में और सहानुभूतिपूर्वक किया जाना चाहिए । इसके अलावा, जमानत मंजूर करने से संबंधित शर्तें इतनी कठोर नहीं होनी चाहिए जिससे कि उनका अनुपालन करना अक्षम हो, जिससे जमानत मंजूर करना अवास्तविक हो जाए ।

8. हम प्रस्तुत अपील में ये मताभिव्यक्तियां करने के लिए बाध्य हुए हैं, जिसमें जमानत मंजूर करने का राज्य द्वारा विरोध नहीं किया गया है किन्तु परिवादी की ओर से जोरदार विरोध किया गया है ।

9. परिवादी ने तारीख 13 जनवरी, 2016 को पुलिस थाना सहजनवा, गोरखपुर, उत्तर प्रदेश में यह अभिकथन करते हुए 2016 की प्रथम इत्तिला रिपोर्ट सं. 16 दर्ज कराई कि अपीलार्थी ने उसके साथ 37 लाख रुपए से अधिक की रकम का छल किया था और इसलिए उसने भारतीय दंड संहिता की धारा 419, 420, 406 और 506 के अधीन दंडनीय अपराध कारित किया था । यह भी अभिकथन किया गया था कि अपीलार्थी ने परिवादी के पक्ष में 18 लाख रुपए का एक चैक जारी किया था (जिसके द्वारा 37 लाख रुपए की रकम का एक भाग लौटाया गया) किन्तु उसने परक्राम्य लिखत अधिनियम, 1881 की धारा 138 का अतिक्रमण करते हुए उस चैक का भुगतान रुकवा दिया था ।

10. इसके पश्चात्, परिवादी ने तारीख 21 जनवरी, 2016 को या उसके आसपास अपीलार्थी द्वारा परक्राम्य लिखत अधिनियम, 1881 की धारा 138 के अधीन अपराध कारित किए जाने का अभिकथन करते हुए 2016 का परिवाद मामला सं. 206 फाइल किया । इस परिवाद मामले में संबंधित मजिस्ट्रेट द्वारा संज्ञान लिया गया और अपीलार्थी को समन जारी किए गए ।

11. अन्वेषक अधिकारी ने, काफी समय पश्चात्, तारीख 15 अगस्त, 2016 को या उसके आसपास अपीलार्थी के विरुद्ध एक आरोप पत्र फाइल

किया जो कि 2017 का मामला अपराध सं. 18 है । यह स्पष्ट नहीं है कि अपराध मामला इतनी देर से क्यों रजिस्ट्रीकृत किया गया (यह मुद्रण संबंधी गलती भी हो सकती है) किन्तु चाहे कुछ भी हो, ऐसा प्रतीत होता है कि अपीलार्थी को अन्वेषण के दौरान गिरफ्तार नहीं किया गया था ।

12. अपीलार्थी ने, अपने विरुद्ध आरोप पत्र फाइल किए जाने के पश्चात् गिरफ्तारी के डर से इलाहाबाद उच्च न्यायालय में अपने विरुद्ध दर्ज प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को अभिखंडित करने के लिए समावेदन किया । मामले के अभिलेख से यह प्रकट होता है कि उच्च न्यायालय ने तारीख 7 फरवरी, 2017 को प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को अभिखंडित करने से इनकार कर दिया किन्तु अपीलार्थी को विचारण न्यायालय के समक्ष हाजिर होने के लिए दो मास का समय अनुदत्त किया । संभवतः, यह निदेश दिया गया था कि अपीलार्थी को इस अवधि के दौरान गिरफ्तार नहीं किया जाना चाहिए । अपीलार्थी ने तारीख 11 अप्रैल, 2011 को एक बार फिर से इलाहाबाद उच्च न्यायालय में समावेदन किया और इस बार उसने विचारण न्यायालय के समक्ष उपस्थित होने के लिए दो सप्ताह की अतिरिक्त अवधि की मांग की । ऐसा प्रतीत होता है कि यथा-प्रार्थित समय अनुदत्त कर दिया गया और अंततः, तारीख 24 अप्रैल, 2017 को अपीलार्थी विचारण न्यायाधीश के समक्ष हाजिर हुआ और उसे न्यायिक अभिरक्षा में ले लिया गया था । अपीलार्थी तब से न्यायिक अभिरक्षा में है ।

13. अपीलार्थी द्वारा फाइल किया गया जमानत संबंधी आवेदन विचारण न्यायाधीश द्वारा तारीख 27 अप्रैल, 2017 को नामंजूर कर दिया गया था और जमानत के लिए एक अन्य आवेदन इलाहाबाद उच्च न्यायालय द्वारा तारीख 21 सितम्बर, 2017 को नामंजूर कर दिया गया था (इसे हमारे समक्ष चुनौती दी गई है) ।

14. तारीख 23 जनवरी, 2018 को, जब यह अपील हमारे समक्ष सूचीबद्ध की गई थी तब परिवादी का प्रतिनिधित्व विद्वान् काउन्सेल ने किया था हालांकि वह कार्यवाहियों में पक्षकार नहीं था । तथापि, परिवादी को अपीलार्थी के विद्वान् काउन्सेल के मौखिक अनुरोध पर पक्षकार प्रत्यर्थी के रूप में शामिल कर लिया गया था । इसके बाद, उत्तर प्रदेश राज्य को सूचना जारी की गई थी जबकि परिवादी की ओर से उसके विद्वान् काउन्सेल ने सूचना अभिग्रहण की थी । विशेष इजाजत याचिका का उत्तर फाइल करने के लिए अनुरोध किया गया था और चूंकि अपीलार्थी काफी

लंबी अवधि से न्यायिक अभिरक्षा में था इसलिए इस प्रयोजन के लिए दो दिन का समय मंजूर किया गया था ।

15. यद्यपि उत्तर प्रदेश राज्य को अपील में तामील की गई थी तथापि, उसकी ओर से कोई भी हाजिर नहीं हुआ । जहां तक परिवादी का संबंध है, उस समय तक कोई उत्तर फाइल नहीं किया गया था जब कि मामले पर 29 जनवरी, 2018 को विचार किया गया था । तद्नुसार, मामले को तारीख 2 फरवरी, 2018 तक स्थगित कर दिया गया था और उस तारीख तक भी परिवादी द्वारा कोई उत्तर फाइल नहीं किया गया था । जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, अपीलार्थी को जमानत प्रदान करने का विरोध करने के लिए उत्तर प्रदेश राज्य की ओर से कोई भी हाजिर नहीं हुआ है ।

16. परिवादी की ओर से विद्वान् काउन्सेल ने प्रबल रूप से यह दलील दी कि अपीलार्थी ने उससे पर्याप्त धनराशि ठगी है और उसके विरुद्ध लगाए गए अभिकथनों की गंभीरता को ध्यान में रखते हुए, यह ऐसा मामला नहीं है जिसमें अपीलार्थी को इस न्यायालय द्वारा जमानत मंजूर की जानी चाहिए । विद्वान् काउन्सेल ने विचारण न्यायाधीश तथा इलाहाबाद उच्च न्यायालय द्वारा अपनाए गए मत का समर्थन किया । उसने यह तर्क दिया कि अपीलार्थी के इस आचरण को देखते हुए कि उसने न केवल परिवादी के साथ धोखा किया है और उसे पर्याप्त धनराशि से वंचित किया है बल्कि इसके पश्चात् ऐसा चैक जारी किया जिसका भुगतान रुकवा दिया गया, यह खारिज किए जाने का समुचित मामला है ।

17. हमारी राय में, अपीलार्थी के विरुद्ध लगाए गए अभिकथनों की शुद्धता या अन्यथा के बारे में परीक्षा करना आवश्यक नहीं है । यह एक ऐंसा मामला है जिस पर निसंदिग्ध रूप से विचारण न्यायाधीश द्वारा कार्यवाही की जाएगी । तथापि, जहां तक हमारा संबंध है, जो कुछ महत्वपूर्ण है वह यह है कि अन्वेषण की संपूर्ण अवधि के दौरान, जो कि ऐसा प्रतीत होता है कि सात मास से अधिक थी । अपीलार्थी को अन्वेषक अधिकारी द्वारा गिरफ्तार नहीं किया गया था । तब भी जब अपीलार्थी को यह आशंका थी कि उसके विरुद्ध आरोप पत्र फाइल किए जाने के पश्चात् उसे गिरफ्तार किया जा सकता है, उसे काफी समय तक गिरफ्तार नहीं किया गया था । जब उसने अपने विरुद्ध दर्ज की गई प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को अभिखंडित करने के लिए इलाहाबाद उच्च न्यायालय में समावेदन

किया तब उसे विचारण न्यायाधीश के समक्ष हाजिर होने के लिए दो मास का समय अनुदत्त किया गया था । ये सभी तथ्य इस बात के सूचक हैं कि इस बात की कोई आशंका नहीं थी कि अपीलार्थी फरार हो जाएगा या विचारण में किसी रीति में बाधा पहुंचाएगा । इस स्थिति को ध्यान में रखते हुए, विचारण न्यायाधीश तथा उच्च न्यायालय को अपने विवेकाधिकार का प्रयोग न्यायसम्मत रूप से करना चाहिए था और अपीलार्थी को जमानत मंजूर करनी चाहिए थी । किसी भी पक्षकार का यह पक्षकथन नहीं है कि अपीलार्थी का चरित्र संदेहास्पद है और अभिलेख में यह उपदर्शित करने के लिए कोई सामग्री नहीं है कि अपीलार्थी इससे पूर्व किसी अस्वीकार्य गतिविधि में अंतर्वलित रहा था, चाहे वह कोई अभिकथित अवैध क्रियाकलाप ही क्यों न हो ।

18. हमारी राय में, इन सभी बातों और अन्य कारकों पर विचार करते हुए, यह उचित होगा यदि अपीलार्थी को उन शर्तों पर, जो कि विचारण न्यायाधीश द्वारा युक्तिसंगत रूप से नियत की जाएं, जमानत मंजूर की जाए । हम तद्नुसार आदेश करते हैं ।

19. हमारे कहने का यह अर्थ नहीं लगाया जाना चाहिए कि हमने आरोप पत्र तथा परिवाद मामला, दोनों में अपीलार्थी के विरुद्ध लगाए गए अभिकथनों के बारे में कोई राय अभिव्यक्त की है ।

20. अपील मंजूर की जाती है ।

अपील मंजूर की गई ।

ग्रो.

[2018] 3 उम. नि. प. 210

सुंदरम् फाइनेंस लि., तिलक ज्येष्ठ प्रबंधक (विधिक) द्वारा प्रतिनिधित्व

बनाम

अब्दुल समद और एक अन्य

15 फरवरी, 2018

न्यायमूर्ति जे. चेलामेश्वर और न्यायमूर्ति संजय किशन कौल

माध्यस्थम् और सुलह अधिनियम, 1996 (1996 का 26) – धारा 36, 42 और 32 [सपठित सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 39, 47, आदेश 21, नियम 27] – माध्यस्थम् के अधिनिर्णय का प्रवर्तन – माध्यस्थम् के अधिनिर्णय का प्रवर्तन कराने के लिए देश में कहीं भी ऐसे सक्षम न्यायालय में आवेदन फाइल किया जा सकता है और उसे निष्पादित कराया जा सकता है, जहां निर्णीत-ऋणी की परिसंपत्तियां स्थित हैं और इसके निमित्त उस न्यायालय से डिक्री का अंतरण अभिप्राप्त करने की आवश्यकता नहीं है जिसकी अधिकारिता में माध्यस्थम् कार्यवाहियां हुई थीं ।

अपील के तथ्यों के अनुसार, प्रथम प्रत्यर्थी ने एक टाटा लॉरी खरीदने के लिए सुदंरम फाइनेंस लि. – अपीलार्थी से, ऋण के करार में विनिर्दिष्ट निबंधनों और शर्तों पर, ऋण लिया था । प्रत्यर्थी सं. 2 ने कथित रूप से उसी तारीख को एक अलग प्रत्याभूत पत्र निष्पादित करके ऋण के प्रतिसंदाय के लिए प्रत्याभूति दी । ऋण का प्रतिसंदाय किश्तों में किया जाना था । प्रत्यर्थी सं. 1 ने 20वीं किश्त से आगे संदाय करने में व्यतिक्रम किया । ऋण के करार में अंतर्विष्ट माध्यस्थम् खंड के निबंधनों के अनुसार माध्यस्थम् कार्यवाहियां आरंभ की गईं । मध्यस्थ के समक्ष दावा कथन फाइल किया गया किंतु प्रत्यर्थियों पर इसकी तामीली नहीं हुई । प्रकाशन के माध्यम से सूचना तामील की गई किंतु चूंकि प्रत्यर्थियों की ओर से कोई हाजिर नहीं हुआ, इसलिए एकपक्षीय माध्यस्थम् पंचाट पारित किया गया । मध्य प्रदेश स्थित न्यायालय की अधिकारिता में निष्पादन कार्यवाहियां फाइल की गईं । जिला न्यायाधीश, मुरैना ने अधिकारिता की कमी के कारण निष्पादन आवेदन को सक्षम अधिकारिता के न्यायालय में प्रस्तुत किए जाने के लिए वापस कर दिया । इस निर्णय का प्रभाव यह था कि अपीलार्थी के लिए यह अपेक्षित था कि वह पहले तमिलनाडु में सक्षम अधिकारिता के न्यायालय के समक्ष निष्पादन कार्यवाहियां फाइल करे, फिर डिक्री का

अंतरण अभिप्राप्त करे और केवल इसके पश्चात् मुरैना स्थित विचारण न्यायालय में कार्यवाहियां फाइल की जा सकती थीं । इस विषय पर विचारण न्यायालय द्वारा अपनाया गया मत मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय और कर्नाटक उच्च न्यायालय की राय पर आधारित था, जबकि यह अभिवाक् किया गया कि राजस्थान उच्च न्यायालय और दिल्ली उच्च न्यायालय के मत इसके प्रतिकूल हैं । आवेदक द्वारा विचारण न्यायालय के उक्त आदेश के विरुद्ध उच्च न्यायालयों की राय में विरोध होने के कारण पहले ही व्यक्त किए गए मत को ध्यान में रखते हुए मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय में समावेदन नहीं किया अपितु सीधे उच्चतम न्यायालय में विशेष इजाजत याचिका के माध्यम से सिविल अपील फाइल की गई । उच्चतम न्यायालय द्वारा अपील मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित – पंचाट को सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 के उपबंधों के अनुसार उसी रीति में प्रवर्तित किया जाना चाहिए मानो यह डिक्री हो । इस प्रकार, यह प्रवर्तन की क्रियाविधि है, जो डिक्री के प्रवर्तन के समान है किंतु पंचाट स्वयं में सिविल न्यायालय की डिक्री नहीं है क्योंकि सिविल न्यायालय द्वारा ऐसी कोई डिक्री पारित नहीं की जाती है । माध्यस्थम् अधिकरण ही पंचाट देता है और अधिकरण को डिक्री के निष्पादन की शक्ति नहीं होती है । डिक्री के निष्पादन के प्रयोजनों के लिए पंचाट को उसी रीति में प्रवर्तित किया जाना चाहिए मानो यह उक्त संहिता के अधीन डिक्री है । इस प्रकार, न्यायालय का बेहिचक यह मत है कि पंचाट का निष्पादन के माध्यम से प्रवर्तन देश में कहीं भी जहां ऐसी डिक्री निष्पादित की जा सकती है, फाइल किया जा सकता है और उस न्यायालय से डिक्री का अंतरण अभिप्राप्त करना अपेक्षित नहीं है जिसकी माध्यस्थम् कार्यवाहियों पर अधिकारिता थी । (पैरा 15 और 22)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[2015]	ए. आई. आर. 2015 (1) कर्नाटक 261 : **श्री चन्द्रशेखर** बनाम **टाटा मोटर फाइनेंस लि. और अन्य** ;	5
[2013]	2013 का सीएमपीएमओ सं. 56, तारीख 17 सितंबर, 2013 को विनिश्चित : **जसविंदर कौर और एक अन्य** बनाम **टाटा मोटर फाइनेंस लिमिटेड** ;	5

[2013] (2013) 10 जे. टी. एस. सी. 35 :
स्वास्तिक गैसेज प्राइवेट लिमिटेड बनाम
इंडियन ऑयल कारपोरेशन लिमिटेड ; 5

[2013] (2013) 100 ए. एल. आर. 766 =
2013 एस. सी. सी. इला. 13365:
जीई मनी फाइनेंशियल सर्विसेज लि. बनाम
मोहम्मद अज़ाज़ और एक अन्य ; 5

[2012] (2012) 1 आर. एल. डब्ल्यू. 960 :
कोटक महिन्द्रा बैंक लि. बनाम **रामशरण गुर्जर**
और एक अन्य ; 5

[2012] 2012 मनु/पीएच/2896 :
इंडस्ट्रियल बैंक लिमिटेड बनाम
भूल्लर ट्रांसपोर्ट कंपनी ; 5

[2011] (2011) 4 के. एल. जे. 475 :
महाराष्ट्र एपेक्स कारपोरेशन लि. बनाम
वी. बालाजी जी. और एक अन्य ; 5

[2011] (2011) 4 एल. डब्ल्यू. 745 :
कोटक महिन्द्रा बैंक लि. बनाम
शिवकामा सुंदरी और अन्य ; 5, 21

[2009] (2009) 159 डी. एल. टी. 579 :
दालिम इंडस्ट्रियल कंपनी लि. बनाम
नुमालीगढ़ रिफाइनरी लि. ; 5, 20

[2006] ए. आई. आर. 2006 मध्य प्रदेश 34 :
कम्प्यूटर सांइसिज कारपोरेशन इंडिया प्राइवेट लि.
बनाम **हरीश चन्द्र लोडवाल और एक अन्य** ; 5

[2001] ए. आई. आर. 2001 कर्नाटक 364 :
आई. सी. डी. एस. लि. बनाम **मंगला बिल्डर्स प्रा. लि.**
और अन्य । 5

अपीली (सिविल) अधिकारिता : 2018 की सिविल अपील सं. 1650.

2011/13 के निष्पादन मामला सं. 108 में जिला न्यायाधीश, मुरैना, मध्य प्रदेश के तारीख 20 मार्च, 2014 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध

संविधान के अनुच्छेद 133 के अधीन अपील ।

अपीलार्थी की ओर से	सर्वश्री बालाजी श्रीनिवासन, (सुश्री) प्रतीक्षा मिश्रा, मयंक खिरसागर, वैष्णवी सुब्रह्मण्यम् और अभिषेक भारती
प्रत्यर्थियों की ओर से	सर्वश्री प्रशांत शुक्ला, पशुपति नाथ राजदान, ओसामा अहमद अब्बासी और (सुश्री) अनुश्री मिश्रा

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति संजय किशन कौल ने दिया ।

न्या. कौल – वर्तमान अपील में विभिन्न उच्च न्यायालयों की इस प्रश्न पर विधिक राय की भिन्नता को स्थिर किया जाना अपेक्षित है कि माध्यस्थम् और सुलह अधिनियम, 1996 (जिसे इसमें इसके पश्चात् "उक्त अधिनियम" कहा गया है) के अधीन पंचाट को निष्पादन के लिए क्या पहले उस न्यायालय में फाइल किया जाना अपेक्षित है जिसकी माध्यस्थम् कार्यवाहियों पर अधिकारिता है और फिर डिक्री का अंतरण अभिप्राप्त किया जाए या क्या पंचाट को सीधे तौर पर उस न्यायालय में फाइल और निष्पादित किया जा सकता है जहां आस्तियां अवस्थित हैं ।

तथ्य

2. अपीलार्थी का यह दावा है कि प्रथम प्रत्यर्थी एक टाटा लॉरी-एचसीवी 2005 माडल खरीदने के लिए ऋण प्रदान करने हेतु अपीलार्थी के पास आया और अपीलार्थी द्वारा तारीख 18 अगस्त, 2005 के ऋण करार में विनिर्दिष्ट निबंधनों और शर्तों पर उसके द्वारा ऋण प्रदान किया गया । प्रत्यर्थी सं. 2 ने कथित रूप से उसी तारीख को एक अलग प्रत्याभूत पत्र निष्पादित करके ऋण के प्रतिसंदाय के लिए प्रत्याभूति दी । ऋण का प्रतिसंदाय तारीख 3 सितंबर, 2005 से आरंभ होकर तारीख 3 जनवरी, 2009 तक किश्तों में किया जाना था ।

3. अपीलार्थी का यह अभिकथन है कि प्रत्यर्थी सं. 1 ने 20वीं किश्त से आगे संदाय करने में व्यतिक्रम किया । तथापि, यान को पुनः कब्जे में नहीं लिया जा सका और ऋण वसूल करने के लिए ऋण के करार में अंतर्विष्ट माध्यस्थम् खंड के निबंधनों के अनुसार माध्यस्थम् कार्यवाहियां आरंभ की गईं । श्री एस. शांतनकृष्णनन्, अधिवक्ता को तारीख 3 मई, 2011 को एकल मध्यस्थ के रूप में नियुक्त किया गया और मध्यस्थ के समक्ष दावा कथन फाइल किया गया किंतु प्रत्यर्थियों पर इसकी तामीली

नहीं हुई । प्रकाशन के माध्यम से सूचना तामील की गई किंतु चूंकि प्रत्यर्थियों की ओर से कोई हाजिर नहीं हुआ, इसलिए तारीख 22 अक्तूबर, 2011 को 12,69,420/- रुपए की राशि का तारीख 4 अप्रैल, 2011 से लेकर वसूली होने तक 18 प्रतिशत वार्षिक ब्याज़ और खर्चे सहित एकपक्षीय माध्यस्थम् पंचाट किया गया ।

4. अपीलार्थी का पक्षकथन यह है कि पंचाट उक्त अधिनियम की धारा 36 के अधीन डिक्री के रूप में प्रवर्तनीय होने के कारण सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 (जिसे इसमें इसके पश्चात् "उक्त संहिता" कहा गया है) की धारा 151 के साथ पठित धारा 47 और आदेश 21, नियम 27 के अधीन मुरैना, मध्य प्रदेश स्थित न्यायालयों की अधिकारिता में निष्पादन कार्यवाहियां फाइल की गईं । प्रत्यर्थियों ने कार्यवाहियों का अन्य बातों के साथ-साथ इस आधार पर प्रतिवाद करने की ईप्सा की कि जिस यान के विरुद्ध ऋण दिया गया था वह चोरी हो गया था । कार्यवाहियों के अधिक विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है, किंतु यह कहना पर्याप्त है कि विचारण न्यायालय ने तारीख 20 मार्च, 2014 के आदेश द्वारा अधिकारिता की कमी के कारण निष्पादन आवेदन को सक्षम अधिकारिता के न्यायालय में प्रस्तुत किए जाने के लिए वापस कर दिया । इस निर्णय का प्रभाव यह था कि अपीलार्थी के लिए यह अपेक्षित था कि वह पहले तमिलनाडु में सक्षम अधिकारिता के न्यायालय के समक्ष निष्पादन कार्यवाहियां फाइल करता, डिक्री का अंतरण अभिप्राप्त करता और केवल इसके पश्चात् मुरैना स्थित विचारण न्यायालय में कार्यवाहियां फाइल की जा सकती थीं । इस पर विचारण न्यायालय द्वारा अपनाया गया मत मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय के निर्णय और कर्नाटक उच्च न्यायालय की राय पर आधारित था, जबकि यह अभिवाक् किया गया कि राजस्थान उच्च न्यायालय और दिल्ली उच्च न्यायालय के मत इसके प्रतिकूल हैं । याची ने विचारण न्यायालय के उक्त आदेश के विरुद्ध उच्च न्यायालय में समावेदन नहीं किया अपितु सीधे इस न्यायालय में विशेष इजाजत याचिका फाइल करके इस आधार पर समावेदन किया कि इस न्यायालय द्वारा कुछ अन्य उच्च न्यायालयों की राय में विरोध होने के कारण पहले ही व्यक्त किए गए मत को ध्यान में रखते हुए मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय में समावेदन करने से कोई उपयोगी प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा ।

विरोधी मत

क. उस न्यायालय के समक्ष निष्पादन आवेदन फाइल करने से पूर्व,

जहां आस्तियां अवस्थित हैं, पहले डिक्री का अंतरण अभिप्राप्त करना चाहिए ।

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया)

5. पूर्वोक्त दृष्टिकोण मध्य प्रदेश और हिमाचल प्रदेश उच्च न्यायालय द्वारा अपनाया गया है :

(i) **कम्प्यूटर सांइसिज कारपोरेशन इंडिया प्राइवेट लि.** बनाम **हरीश चन्द्र लोडवाल और एक अन्य**[1] – मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय के विद्वान् एकल न्यायाधीश ने माध्यस्थम् करार की बाबत अधिकारिता के विवाद्यक पर विचार करने के लिए उक्त अधिनियम की धारा 2(ड़), जिसमें "न्यायालय" को परिभाषित किया गया है, के साथ पठित धारा 42 के उपबंधों का अवलंब लिया है । उक्त अधिनियम की धारा 36, जिसमें पंचाट के प्रवर्तन के संबंध में उपबंध है और उसमें यह विहित किया गया है कि "पंचाट सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 (1908 का 5) के अधीन उसी रीति में प्रवर्तित किया जाएगा मानो यह न्यायालय की डिक्री हो", के संदर्भ में यह मत व्यक्त किया गया कि यही सिद्धांत किसी डिक्री को प्रवर्तित करने के लिए भी लागू होगा । चूंकि संहिता की धारा 37 में उस न्यायालय को परिभाषित किया गया है जो डिक्री पारित करता है और धारा 39 में डिक्री के अंतरण की प्रक्रिया अधिकथित की गई है, इसलिए यह राय व्यक्त की गई की पंचाट के निष्पादन के लिए डिक्री का अंतरण आज्ञापक है ।

(ii) **जसविंदर कौर और एक अन्य** बनाम **टाटा मोटर फाइनेंस लिमिटेड**[2] वाले मामले में हिमाचल प्रदेश उच्च न्यायालय, शिमला का दृष्टिकोण – विद्वान् एकल न्यायाधीश ने इस तथ्य पर विचार किया कि माध्यस्थम् कार्यवाहियां उक्त अधिनियम के अनुसार मुम्बई में तय की गई हैं और पंचाट मुम्बई में दिया गया है । इसके पश्चात्, विद्वान् एकल न्यायाधीश ने **स्वास्तिक गैसेज प्राइवेट लिमिटेड** बनाम **इंडियन ऑयल कारपोरेशन लिमिटेड**[3] वाले मामले में इस न्यायालय के निर्णय से भरपूर मात्रा में उद्धृत किया । इसके पश्चात्, विद्वान् न्यायाधीश एक बार पुनः कर्नाटक उच्च न्यायालय के **आई. सी. डी. एस. लि.** बनाम **मंगला बिल्डर्स प्रा. लि. और अन्य**[4] वाले मामले से तत्समय प्रचलित मत से भरपूर मात्रा में उद्धृत किया,

---

[1] ए. आई. आर. 2006 मध्य प्रदेश 34.

[2] 2013 का सीएमपीएमओ सं. 56, तारीख 17 सितंबर, 2013 को विनिश्चित.

[3] (2013) 10 जे. टी. एस. सी. 35.

[4] ए. आई. आर. 2001 कर्नाटक 364.

जिसमें विद्वान् एकल न्यायाधीश ने पूर्वोक्त मत के समर्थन में राय व्यक्त की थी ।

(ख) पंचाट उक्त संहिता के उपबंधों के अनुसार उसी रीति में प्रवर्तित किया जाना चाहिए मानो यह उक्त अधिनियम की धारा 36 के अनुसार एक डिक्री है, इससे यह विवक्षित नहीं है कि पंचाट किसी विशिष्ट न्यायालय की डिक्री है तथा यह केवल एक कल्पना है । इस प्रकार, पंचाट निष्पादन के लिए उस न्यायालय के समक्ष फाइल किया जा सकता है जहां निर्णीत ऋणी की आस्तियां अवस्थित हैं ।

(बल देने के लिए रेखांकन किया गया)

(i) **दालिम इंडस्ट्रियल कंपनी लि.** बनाम **नुमालीगढ़ रिफाइनरी लि.**[1] (दिल्ली उच्च न्यायालय) – दिल्ली उच्च न्यायालय के विद्वान् एकल न्यायाधीश ने इस दलील को खारिज कर दिया कि उक्त अधिनियम की अधिकारिता विषयक धारा 42, जिसमें उक्त अधिनियम की धारा 34 के अधीन आवेदन उसी न्यायालय में फाइल किए जाने की अपेक्षा की गई है, उसका विस्तार डिक्री के निष्पादन पर नहीं होगा । निष्पादन के लिए आवेदन "माध्यस्थम् संबंधी कार्यवाहियां" नहीं हैं । उक्त संहिता की धारा 38 उस डिक्री पर लागू होती है जो न्यायालय द्वारा यह विहित करते हुए पारित की गई है कि डिक्री उस न्यायालय द्वारा निष्पादित की जा सकेगी जिस न्यायालय ने उसे पारित किया है, या उस न्यायालय द्वारा निष्पादित की जा सकेगी जिस न्यायालय को यह निष्पादन के लिए भेजी जाती है । पंचाट के मामले में कोई न्यायालय डिक्री पारित नहीं करता है ।

विद्वान् एकल न्यायाधीश ने कंपनी अधिनियम, 1956 की धारा 635(4) के उपबंधों, जिनमें कंपनी लॉ बोर्ड के आदेश को कतिपय परिस्थितियों में न्यायालय द्वारा प्रवर्तित किए जाने का उपबंध है, के प्रभाव की उनसे समरूपता करने के लिए चर्चा की ।

(ii) **महाराष्ट्र एपेक्स कारपोरेशन लि.** बनाम **वी. बालाजी जी. और एक अन्य**[2] (केरल उच्च न्यायालय) – विद्वान् एकल न्यायाधीश ने यह मत व्यक्त किया कि न्यायालय निष्पादन आवेदन प्राप्त करने के लिए अपनी फाइल पर डिक्री हेतु जोर नहीं दे सकता है और इस प्रकार, डिक्री के अंतरण का प्रश्न ही नहीं था । निष्पादन न्यायालय को पंचाट की प्रमाणित

[1] (2009) 159 डी. एल. टी. 579.

[2] (2011) 4 के. एल. जे. 475.

प्रति के साथ, जहां कहीं भी यह फाइल किया जाता है, निष्पादन आवेदन को स्वीकार करना चाहिए ।

(iii) **कोटक महिन्द्रा बैंक लि.** बनाम **शिवकामा सुंदरी और अन्य**[1] (मद्रास उच्च न्यायालय) – संहिता की धारा 39 उस न्यायालय को, जिसने डिक्री पारित की है, इसे किसी अधीनस्थ न्यायालय को डिक्रीदार द्वारा आवेदन किए बिना स्वयं अपनी प्रेरणा से ही इसे अंतरित करने के लिए समर्थ बनाती है । मद्रास उच्च न्यायालय के विद्वान् एकल न्यायाधीश ने उक्त अधिनियम और उक्त संहिता के उपबंधों की परीक्षा की और इस प्रक्रिया में उक्त संहिता की धारा 41 के प्रति निर्देश किया जिसमें निष्पादन करने वाले न्यायालय पर उस न्यायालय को, जिसने डिक्री पारित की है, डिक्री के निष्पादन के पूर्ण होने के बारे में या डिक्री निष्पादन करने में असफल रहने के बारे में विद्यमान परिस्थितियों सहित सूचित करने की बाध्यता अधिरोपित की गई है । उक्त अधिनियम की धारा 46 के प्रति एक सरसरी निर्देश किया गया जिसमें आज्ञा-पत्र का उपबंध है । संक्षेप में, जो निष्कर्ष निकाला गया वह यह था कि किसी सिविल न्यायालय की प्रत्येक डिक्री प्राथमिक तौर पर उस न्यायालय द्वारा निष्पादित की जानी चाहिए जिसने डिक्री पारित की है । दूसरी ओर, पंचाट के मामले में, इसे उक्त अधिनियम की धारा 36 के अधीन उसी रीति में प्रवर्तित किया जाना चाहिए मानो यह न्यायालय की डिक्री हो और इस प्रकार पारित किया गया पंचाट केवल निष्पादन के प्रयोजनों के लिए न्यायालय की डिक्री के समतुल्य है । पंचाट के निष्पादन के लिए माध्यस्थम् अधिनियम, 1940 के उपबंधों से यथा सुभिन्न सिविल न्यायालय द्वारा अनुमोदन की मोहर लगाने की आवश्यकता नहीं होती है । पंचाट उस माध्यस्थम् अधिकरण के माध्यम से निष्पादित नहीं किया जा सकता है, जिसने पंचाट पारित किया है और इस प्रकार उस माध्यस्थम् अधिकरण के लिए, जिसने डिक्री (या पंचाट) पारित किया है, डिक्री को इसके निष्पादन के लिए किसी अन्य न्यायालय को अंतरित करने के लिए कोई परिस्थिति परिकल्पित नहीं है । न तो संहिता में और न ही कहीं और उस न्यायालय को, जिसकी अधिकारिता में माध्यस्थम् कार्यवाहियां हुई थीं, ऐसे न्यायालय के रूप में समझने का कोई उपबंध है जिसने डिक्री पारित की है ।

इस प्रकार यह राय व्यक्त की गई कि :–

---

[1] (2011) 4 एल. डब्ल्यू. 745.

"19. माध्यस्थम् अधिकरण द्वारा पारित किया गया पंचाट 1996 की धारा 36 के अधीन सिविल न्यायालय की एक डिक्री समझा जाता है, जबकि यह अभिनिर्धारित करने के लिए कहीं कोई गृहीत कल्पना नहीं है कि जिस न्यायालय की अधिकारिता के भीतर माध्यस्थम् पंचाट पारित किया गया था उसे वह न्यायालय समझा जाना चाहिए जिसमें डिक्री पारित की है । अतः, उस न्यायालय के समक्ष जिसकी अधिकारिता के भीतर माध्यस्थम् पंचाट पारित किया गया था, निष्पादन आवेदन इसलिए फाइल करना क्योंकि यह वह न्यायालय है जिसने डिक्री पारित की है, अफसोसजनक रूप से भ्रामक है ।"

* * * * *

"21. अतः, यह स्पष्ट है कि कोई भी न्यायालय, जिसमें पंचाट के निष्पादन के लिए आवेदन फाइल किया जाता है, निष्पादन या आवेदन को पहले किसी अन्य न्यायालय के समक्ष फाइल करने और बाद में उसके समक्ष भेजने की बात पर जोर नहीं दे सकता है । यह प्रतीत होता है कि बंबई उच्च न्यायालय ने भी यही दृष्टिकोण, हालांकि अति विस्तृत आदेश द्वारा नहीं, अपनाया है ।"

एक अन्य परिपेक्ष्य में यह मत व्यक्त किया गया कि उक्त अधिनियम की धारा 21 को देखते हुए पक्षकार माध्यस्थम् स्थान का अवधारण कर सकते हैं और इस प्रकार अधिनियम में सभी क्षेत्रीय बाधाओं को दूर किया गया है ।

(iv) **कोटक महिन्द्रा बैंक लि.** बनाम **रामशरण गुर्जर और एक अन्य**[1] (राजस्थान उच्च न्यायालय) – राजस्थान उच्च न्यायालय के विद्वान् एकल न्यायाधीश ने दिल्ली उच्च न्यायालय द्वारा अपनाए गए मत से सहमति व्यक्त की है ।

(v) **जीई मनी फाइनेंशियल सर्विसेज लि.** बनाम **मोहम्मद अज़ाज़ और एक अन्य**[2] (इलाहाबाद उच्च न्यायालय, लखनऊ पीठ) – विद्वान् एकल न्यायाधीश ने यह मत व्यक्त किया कि मध्यस्थ को न्यायालय के रूप में नहीं माना जा सकता है, यद्यपि उसके द्वारा दिया गया पंचाट एक डिक्री के रूप में निष्पादित होगा । इस प्रकार, उक्त संहिता की धारा 38

[1] (2012) 1 आर. एल. डब्ल्यू. 960.

[2] (2013) 100 ए. एल. आर. 766 = 2013 एस. सी. सी. इला. 13365.

और 39 का कोई उपयोजन नहीं होगा और इस प्रकार पंचाट को निष्पादन के लिए सिविल न्यायालय के डिक्री के रूप में वहां फाइल किया जा सकता है जहां निर्णीत-ऋणी निवास करता है या कारबार करता है या उक्त न्यायालय की अधिकारिता के भीतर उसकी संपत्तियां हैं ।

(vi) **इंडस्ट्रियल बैंक लिमिटेड** बनाम **भूल्लर ट्रांसपोर्ट कंपनी**[1] (पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय) – दिल्ली उच्च न्यायालय का उपर्युक्त निर्दिष्ट मत अपनाया गया था ।

(vii) **श्री चन्द्रशेखर** बनाम **टाटा मोटर फाइनेंस लि. और अन्य**[2] (कर्नाटक उच्च न्यायालय) – कर्नाटक उच्च न्यायालय के विद्वान् एकल न्यायाधीश ने यह राय व्यक्त की कि उस न्यायालय के समक्ष निष्पादन आवेदन फाइल करने जिसने डिक्री पारित की है और फिर उस न्यायालय में डिक्री का अंतरण करने, जहां आस्तियां अवस्थित हैं, की ईप्सा करने का प्रश्न उत्पन्न नहीं होता ।

हमारा मत

6. संविवाद का मूल्यांकन करने के लिए हम पहले उक्त संहिता और उक्त अधिनियम के उपबंधों पर विचार करना चाहेंगे ।

7. उक्त संहिता का भाग 2 निष्पादन कार्यवाहियों के संबंध में है । उक्त संहिता की धारा 37 में डिक्री पारित करने वाले "न्यायालय" को परिभाषित किया गया है । उक्त संहिता की धारा 38 उस न्यायालय के संबंध में है, जिसके द्वारा डिक्री निष्पादित की जा सकेगी, जो निम्नलिखित प्रकार से है :–

> 38. **वह न्यायालय जिसके द्वारा डिक्री निष्पादित की जा सकेगी** – डिक्री या तो उसे पारित करने वाले न्यायालय द्वारा या उस न्यायालय द्वारा, जिसे वह निष्पादन के लिए भेजी गई है, निष्पादित की जा सकेगी ।

8. उक्त संहिता की धारा 39 में डिक्री के अंतरण के लिए उपबंध किया गया है, जो निम्नलिखित है :–

> "39. **डिक्री का अंतरण** – (1) डिक्री पारित करने वाला

---

[1] 2012 मनु/पीएच/2896.

[2] ए. आई. आर. 2015 (1) कर्नाटक 261.

न्यायालय डिक्रीदार के आवेदन पर उसे सक्षम अधिकारिता वाले अन्य न्यायालय को निष्पादन के लिए भेजेगा –

(क) यदि वह व्यक्ति, जिसके विरुद्ध डिक्री पारित की गई है, ऐसे अन्य न्यायालय की अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के भीतर वास्तव में और स्वेच्छा से निवास करता है या कारबार करता है या अभिलाभ के लिए स्वयं काम करता है ; अथवा

(ख) यदि ऐसे व्यक्ति की सम्पत्ति जो ऐसी डिक्री की तुष्टि के लिए पर्याप्त हो, डिक्री पारित करने वाले न्यायालय की अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के भीतर नहीं है और ऐसे अन्य न्यायालय की अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के भीतर है ; अथवा

(ग) यदि डिक्री उसे पारित करने वाले न्यायालय की अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के बाहर स्थित स्थावर सम्पत्ति के विक्रय या परिदान का निदेश देती है ; अथवा

(घ) यदि डिक्री पारित करने वाला न्यायालय किसी अन्य कारण से जिसे वह लेखबद्ध करेगा, यह विचार करता है कि डिक्री का निष्पादन ऐसे अन्य न्यायालय द्वारा किया जाना चाहिए ।

(2) डिक्री पारित करने वाला न्यायालय स्वप्रेरणा से उसे सक्षम अधिकारिता वाले किसी भी अधीनस्थ न्यायालय को निष्पादन के लिए भेज सकेगा ।

(3) इस धारा के प्रयोजनों के लिए, किसी न्यायालय को सक्षम अधिकारिता वाला न्यायालय समझा जाएगा यदि, उस न्यायालय को डिक्री के अंतरण के लिए आवेदन करने के समय, ऐसे न्यायालय को उस वाद का विचारण करने की अधिकारिता होती जिसमें ऐसे डिक्री पारित की गई थी ।

(4) इस धारा की कोई बात डिक्री पारित करने वाले न्यायालय को उसकी अधिकारिता की स्थानीय सीमाओं के बाहर किसी व्यक्ति या संपत्ति के विरुद्ध ऐसी डिक्री पारित करने के लिए प्राधिकृत करने वाली नहीं समझी जाएगी ।"

9. एक सुसंगत उपबंध, जिसके प्रभाव की वास्तव में ऊपर निर्दिष्ट

किसी निर्णय में चर्चा नहीं की गई है, वह उक्त संहिता की धारा 46 है जिसमें आज्ञा-पत्र को परिभाषित किया गया है । यह निम्नलिखित प्रकार से है :–

> "46. **आज्ञा-पत्र** – (1) जब कभी डिक्री पारित करने वाला न्यायालय डिक्रीदार के आवेदन पर ठीक समझे तब वह किसी ऐसे अन्य न्यायालय को जो उस डिक्री के निष्पादन के लिए सक्षम है, यह आज्ञा-पत्र निकाल सकेगा कि वह निर्णीत-ऋणी की उसी आज्ञा-पत्र में विनिर्दिष्ट कोई भी सम्पत्ति कुर्क कर ले ।
>
> (2) वह न्यायालय, जिसे आज्ञा-पत्र भेजा जाता है, उस सम्पत्ति को ऐसी रीति से कुर्क करने के लिए कार्यवाही करेगा जो डिक्री के निष्पादन में सम्पत्ति की कुर्की के लिए विहित है :
>
> (3) परंतु जब तक कि कुर्की की अवधि डिक्री पारित करने वाले न्यायालय के आदेश द्वारा बढ़ा न दी गई हो या जब तक कि कुर्की के अवसान के पूर्व कुर्की करने वाले न्यायालय को अंतरित न कर दी गई हो और डिक्रीदार ने ऐसी सम्पत्ति के विक्रय के आदेश के लिए आवेदन न कर दिया हो, आज्ञा-पत्र के अधीन कोई भी कुर्की दो मास से अधिक चालू नहीं रहेगी ।"

10. पूर्वोक्त उपबंध की सुसंगतता यह है कि डिक्रीदार का आवेदन उस न्यायालय को किया जाता है जिसने डिक्री पारित की है और जो उक्त डिक्री का निष्पादन करने में सक्षम किसी अन्य न्यायालय को आज्ञा-पत्र जारी करता है । जैसा कि उल्लेख किया गया है, "न्यायालय जिसने डिक्री पारित की है" अभिव्यक्ति उक्त संहिता की धारा 37 के अनुसार है । हम इस प्रक्रम पर ही यह उल्लेख कर सकते हैं कि पंचाट के मामले में कोई डिक्री पारित नहीं की जाती है अपितु पंचाट ही काल्पनिक रूप से एक डिक्री के रूप में निष्पादित किया जाता है । उक्त अधिनियम के उपबंध माध्यस्थम् अधिनियम, 1940 के उपबंधों से भिन्न हैं, जिनमें यह अपेक्षा की गई है कि दिया गया पंचाट न्यायालय में फाइल किया जाए और उस पर डिक्री पारित की जाए और उसके उपरांत यह निष्पादनीय होगा ।

11. अब उक्त संहिता के आदेश 21 के उपबंधों पर विचार करते हैं, जो डिक्रियों और आदेशों के निष्पादन के संबंध में है । यदि कोई न्यायालय यह चाहता है कि उसकी स्वयं की डिक्री किसी अन्य न्यायालय द्वारा निष्पादित की जाए, तो ऐसा करने की रीति नियम 6 में उपबंधित है, जो

निम्नलिखित है :–

"आदेश 21 – डिक्रियों और आदेशों का निष्पादन

* * * * *

6. **जहां न्यायालय यह चाहता है कि उसकी अपनी डिक्री किसी अन्य न्यायालय द्वारा निष्पादित की जाए वहां प्रक्रिया** – डिक्री को निष्पादन के लिए भेजने वाला न्यायालय निम्नलिखित भेजेगा, अर्थात् –

(क) डिक्री की प्रति;

(ख) यह उपवर्णित करने वाला प्रमाणपत्र कि डिक्री की तुष्टि उस न्यायालय की अधिकारिता के भीतर जिसने उसे पारित किया था निष्पादन द्वारा अभिप्राप्त नहीं की गई है या जहां डिक्री का निष्पादन भागतः हुआ है वहां वह विस्तार जिस तक तुष्टि अभिप्राप्त कर ली गई है और डिक्री का जो भाग अतुष्ट रहा है वह भाग उपवर्णित करने वाला प्रमाणपत्र; तथा

(ग) डिक्री के निष्पादन के किसी आदेश की प्रति या यदि ऐसा कोई भी आदेश नहीं किया गया है तो उस भाव का प्रमाणपत्र ।"

12. आवेदन प्रस्तुत करने की रीति आदेश 21 के नियम 11(2) में अंतर्विष्ट है, जो निम्नलिखित है :–

"आदेश 21 – डिक्रियों और आदेशों का निष्पादन

* * * * *

11(2) लिखित आवेदन – उसके सिवाय जैसा उपनियम (1) द्वारा उपबंधित है, डिक्री के निष्पादन के लिए हर आवेदन लिखा हुआ और आवेदक या किसी अन्य ऐसे व्यक्ति द्वारा, जिसके बारे में न्यायालय को समाधानप्रद रूप में साबित कर दिया गया है कि वह मामले के तथ्यों से परिचित है, हस्ताक्षरित और सत्यापित होगा और उसमें सारणीबद्ध रूप से निम्न विशिष्टियां होंगी, अर्थात् –

(क) वाद का संख्यांक ;

(ख) पक्षकारों के नाम ;

(ग) डिक्री की तारीख ;

(घ) क्या डिक्री के विरुद्ध कोई अपील की गई है ;

(ङ) क्या डिक्री के पश्चात् पक्षकारों के बीच कोई संदाय या विवादग्रस्त बात का कोई अन्य समायोजन हुआ है और (यदि कोई हुआ है तो) कितना या क्या ;

(च) क्या डिक्री के निष्पादन के लिए कोई आवेदन पहले किए गए हैं और (यदि कोई किए गए हैं तो) कौन से हैं और ऐसे आवेदनों की तारीखें और उनके परिणाम ;

(छ) डिक्री मद्धे शोध्य रकम, यदि कोई ब्याज हो तो उसके सहित, या उसके द्वारा अनुदत्त अन्य अनुतोष, किसी प्रति-डिक्री की विशिष्टियों के सहित चाहे वह उस डिक्री के तारीख के पूर्व या पश्चात् की गई हो जिसका निष्पादन चाहा गया है ;

(ज) अधिनिर्णीत खर्चों की (यदि को हों) रकम ;

(झ) उस व्यक्ति का नाम जिसके विरुद्ध डिक्री का निष्पादन चाहा गया है ; तथा

(ञ) वह ढंग जिसमें न्यायालय की सहायता अपेक्षित है अर्थात् क्या –

(i) किसी विनिर्दिष्टतः डिक्रीत सम्पत्ति के परिदान द्वारा ;

(ii) किसी सम्पत्ति की कुर्की द्वारा या कुर्की और विक्रय द्वारा या कुर्की के बिना विक्रय द्वारा ;

(iii) किसी व्यक्ति की गिरफ्तारी और कारागार में निरोध द्वारा ;

(iv) रिसीवर की नियुक्ति द्वारा ;

(v) अन्यथा, जो अनुदत्त अनुतोष की प्रकृति से अपेक्षित है ।

(3) जिस न्यायालय से उपनियम (2) के अधीन आवेदन किया गया है, वह आवेदक से यह अपेक्षा कर सकेगा कि वह डिक्री की एक प्रमाणित प्रति पेश करे ।"

13. पूर्वोक्त के परिशीलन से यह दर्शित होता है कि जिस बात को प्रकट किया जाना होता है वह वादों की संख्या, डिक्री के विरुद्ध अपील, आदि जैसा ब्यौरा होता है, जिसकी सुसंगतता वास्तव में पंचाट को

निष्पादन के प्रयोजनों के लिए न्यायालय की डिक्री के रूप में समझे जाने की कल्पना से नहीं है ।

14. अब हम उक्त अधिनियम के उपबंधों, विशिष्टतया धारा 36(1) के उपबंधों को निर्दिष्ट करना चाहेंगे, जो पंचाट के प्रवर्तन के संबंध में है :–

> "**36. प्रवर्तन** – (1) जहां धारा 36 के अधीन माध्यस्थम् पंचाट को अपास्त करने के लिए आवेदन करने की अवधि समाप्त हो गई है, तब उपधारा (2) के उपबंधों के अधीन रहते हुए उक्त पंचाट सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 (1908 का 5) के उपबंधों के अनुसार उसी रीति में प्रवर्तित किया जाएगा मानो यह न्यायालय की डिक्री हो ।"

15. पूर्वोक्त उपबंध से यह दर्शित होता है कि पंचाट को उक्त संहिता के उपबंधों के अनुसार उसी रीति में प्रवर्तित किया जाना चाहिए मानो यह डिक्री हो । इस प्रकार, यह प्रवर्तन की क्रियाविधि है, जो डिक्री के प्रवर्तन के समान है किंतु पंचाट स्वयं में सिविल न्यायालय की डिक्री नहीं है क्योंकि सिविल न्यायालय द्वारा ऐसी कोई डिक्री पारित नहीं की जाती है । माध्यस्थम् अधिकरण ही पंचाट देता है और अधिकरण को डिक्री के निष्पादन की शक्ति नहीं होती है । डिक्री के निष्पादन के प्रयोजनों के लिए पंचाट को उसी रीति में प्रवर्तित किया जाना चाहिए मानो यह उक्त संहिता के अधीन डिक्री है ।

16. उक्त अधिनियम की धारा 2 (ङ) में "न्यायालय" को निम्न प्रकार से परिभाषित किया गया है :–

> "2. परिभाषाएं ....
>
> *   *   *   *   *
>
> (ङ) 'न्यायालय' से अभिप्रेत है –
>
> (i) अंतरराष्ट्रीय वाणिज्यिक माध्यस्थम् के मामले में किसी जिले में आरंभिक अधिकारिता वाला प्रधान सिविल न्यायालय अभिप्रेत है और इसके अंतर्गत अपनी मामूली आरंभिक सिविल अधिकारिता का प्रयोग करने वाला उच्च न्यायालय भी है, जो माध्यस्थम् की विषय-वस्तु होने वाले प्रश्नों का, यदि वे वाद की विषयवस्तु होते तो, विनिश्चय करने की अधिकारिता रखता किंतु, ऐसे प्रधान सिविल न्यायालय से अवर श्रेणी का कोई सिविल न्यायालय या कोई लघु वाद न्यायालय इसके अंतर्गत नहीं आता है ;

(ii) अंतरराष्ट्रीय वाणिज्यिक माध्यस्थम् के मामले में, अपनी मामूली आरंभिक सिविल अधिकारिता का प्रयोग करने वाला उच्च न्यायालय है, जिसे वाद की विषयवस्तु और अन्य मामलों का भाग बनने वाले प्रश्नों का विनिश्चय करने की अधिकारिता है, ऐसा उच्च न्यायालय जिसे उस उच्च न्यायालय से अधीनस्थ न्यायालयों की डिक्रियों की अपीलों को सुनने की अधिकारिता है ।"

17. पंचाट को तथाकथित सक्षम अधिकारिता वाले न्यायालय में फाइल किए जाने और इसके पश्चात् इसके अंतरण की डिक्री अभिप्राप्त करने की बात का समर्थन करने वाला तर्काधार मुख्य रूप से धारा 42 में पाए जाने वाले अधिकारिता खंड पर आधारित है, जो निम्नलिखित है :–

"42. **अधिकारिता** – इस भाग में अन्यत्र या तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि में किसी बात के होते हुए भी, जहां किसी माध्यस्थम् करार की बाबत इस भाग के अधीन कोई आवेदन किसी न्यायालय में किया गया है तो वहां ऐसी माध्यस्थम् कार्यवाहियों तथा उक्त करार से उद्भूत होने वाले सभी पश्चात्वर्ती आवेदनों पर उसी न्यायालय की अधिकारिता होगी और माध्यस्थम् कार्यवाहियां उसी न्यायालय में की जाएंगी और अन्य किसी न्यायालय में नहीं की जाएंगी ।"

18. तथापि, पूर्वोक्त उपबंध उस आवेदन के संबंध में लागू होता है, जो न्यायालय में भाग 1 के अधीन फाइल किया गया है । अधिकारिता माध्यस्थम् कार्यवाहियों पर होती है । उस करार और माध्यस्थम् कार्यवाहियों से उद्भूत पश्चात्वर्ती आवेदन केवल उसी न्यायालय में किए जाने चाहिएं । तथापि, जिस उपबंध की अनदेखी की गई है वह उक्त अधिनियम की धारा 32 है, जो निम्नलिखित है :–

"**32. कार्यवाहियों का समापन** – (1) माध्यस्थम् कार्यवाहियों का समापन, अंतिम माध्यस्थम् पंचाट द्वारा या उपधारा (2) के अधीन माध्यस्थम् अधिकरण के आदेश द्वारा होगा ।

(2) माध्यस्थम् अधिकरण, माध्यस्थम् कार्यवाहियों के समापन का वहां आदेश देगा, जहां –

(क) दावेदार अपने दावे को, जब तक कि प्रत्यर्थी आदेश पर आक्षेप नहीं करता है और विवाद का अंतिम परिनिर्धारण अभिप्राप्त करने में, माध्यस्थम् अधिकरण उसके विधिसम्मत हितों

को मान्यता नहीं देता है, प्रत्याहृत कर लेता है ;

(ख) पक्षकार कार्यवाहियों के समापन के लिए सहमत हो जाते हैं ; या

(ग) माध्यस्थम् अधिकरण का यह निष्कर्ष है कि कार्यवाहियों का जारी रखना, अन्य किसी कारण से अनावश्यक या असंभव हो गया है ।

(3) धारा 33 और धारा 34 की उपधारा (4) के अधीन रहते हुए, माध्यस्थम् अधिकरण की आज्ञा का, माध्यस्थम् कार्यवाहियों के समापन के साथ, अंत हो जाएगा ।"

19. पूर्वोक्त उपबंध अंतिम माध्यस्थम् पंचाट द्वारा माध्यस्थम् कार्यवाहियों का समापन किए जाने के संबंध में है । इस प्रकार, जिस पंचाट के निष्पादन की ईप्सा की गई है, जब वह पहले ही किया गया है, तो अंतिम पंचाट करने पर माध्यस्थम् कार्यवाहियों का पहले ही समापन हो जाता है । इस प्रकार, यह बात समर्थनीय नहीं है कि उक्त अधिनियम की धारा 42 की कैसे कोई सुसंगतता है, जो माध्यस्थम् कार्यवाहियों के बारे में अधिकारिता के विवाद्यक के संबंध में है । यह प्रतीत होता है कि उक्त संहिता और उक्त अधिनियम के उपबंधों का घालमेल किया गया है ।

20. पूर्वोक्त संदर्भ में ही **दालिम इंडस्ट्रियल कंपनी लि.** बनाम **नुमालीगढ़ रिफाइनरी लि.** (उपर्युक्त) वाले मामले में दिल्ली उच्च न्यायालय द्वारा अपनाए गए दृष्टिकोण में यह अभिलिखित किया गया है कि अधिनियम की धारा 42 निष्पादन आवेदन पर लागू नहीं होगी, जो कि माध्यस्थम् कार्यवाही नहीं है और संहिता की धारा 38 न्यायालय द्वारा पारित डिक्री पर लागू होगी, जबकि पंचाट के मामले में किसी न्यायालय ने डिक्री पारित नहीं की है ।

21. **कोटक महिन्द्रा बैंक लि.** बनाम **शिवकामा सुंदरी और अन्य** (उपर्युक्त) वाले मामले में मद्रास उच्च न्यायालय ने उक्त संहिता की धारा 46 को निर्दिष्ट किया जो आज्ञा-पत्र के संबंध में है, किंतु यहीं तक अपनी बात समाप्त कर दी गई । इस प्रकार, संहिता के संदर्भ में अपनाया गया दृष्टिकोण यह है कि किसी सिविल न्यायालय की डिक्री प्राथमिक तौर पर उस न्यायालय द्वारा निष्पादित की जानी चाहिए, जो डिक्री पारित करता है और वहां प्रथम बार में निष्पादन आवेदन फाइल किया जाना चाहिए । उक्त अधिनियम की धारा 36 के अधीन पंचाट निष्पादन के प्रयोजनों के लिए

और केवल उसी प्रयोजन के लिए न्यायालय की डिक्री के समान होता है । इस प्रकार, यह ठीक ही मत व्यक्त किया गया है कि माध्यस्थम् अधिकरण द्वारा पारित किया गया पंचाट उक्त अधिनियम की धारा 36 के अधीन डिक्री समझा जाना चाहिए, जबकि यह अभिनिर्धारित करने के लिए कहीं कोई गृहीत कल्पना नहीं है कि जिस न्यायालय की अधिकारिता के भीतर माध्यस्थम् पंचाट पारित किया गया था, उसे डिक्री पारित करने वाले न्यायालय के रूप में समझा जाना चाहिए । वास्तव में, उक्त अधिनियम में सभी क्षेत्रीय बाधाओं को पार किया गया है ।

निष्कर्ष

22. इस प्रकार, हमारा बेहिचक यह मत है कि पंचाट का निष्पादन के माध्यम से प्रवर्तन देश में कहीं भी जहां ऐसी डिक्री निष्पादित की जा सकती है, फाइल किया जा सकता है और उस न्यायालय से डिक्री का अंतरण अभिप्राप्त करना अपेक्षित नहीं है जिसकी माध्यस्थम् कार्यवाहियों पर अधिकारिता थी ।

23. पूर्वोक्त का प्रभाव यह है कि मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय और हिमाचल प्रदेश उच्च न्यायालय द्वारा अपनाए गए दृष्टिकोण को विधि की दृष्टि में उचित नहीं ठहराया जा सकता है, जबकि दिल्ली उच्च न्यायालय, केरल उच्च न्यायालय, मद्रास उच्च न्यायालय, राजस्थान उच्च न्यायालय, इलाहाबाद उच्च न्यायालय, पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय तथा कर्नाटक उच्च न्यायालय के दृष्टिकोणों से, हमारे द्वारा पूर्वोक्त अभिलिखित कारणों से, सही विधिक स्थिति प्रतिबिंबित होती है ।

24. तद्नुसार, यह अपील मंजूर की जाती है और अपीलार्थी द्वारा मुरैना स्थित न्यायालय के समक्ष फाइल किए गए निष्पादन आवेदन को प्रत्यावर्तित करते हुए तारीख 20 मार्च, 2014 का आक्षेपित आदेश अपास्त किया जाता है । पक्षकार अपना-अपना खर्च स्वयं वहन करेंगे ।

अपील मंजूर की गई ।

जस.

[2018] 3 उम. नि. प. 228

जी. सरस्वती और एक अन्य

बनाम

रतीनाम्मल और अन्य

15 फरवरी, 2018

न्यायमूर्ति आर. के. अग्रवाल और न्यायमूर्ति अभय मनोहर सप्रे

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 (1908 का 5) – धारा 100 और आदेश 41, नियम 31 – लैटर्स पेटेंट अपील – लैटर्स पेटेंट अपील का निपटारा करते समय न्यायालयों को अपने निर्णय में पक्षकारों द्वारा स्थापित मामले के तथ्यात्मक वर्णन, निचले दोनों न्यायालयों के निष्कर्षों, मामले को लागू विधिक सिद्धांतों के प्रकाश में, पक्षकारों द्वारा दी गई दलीलों का उल्लेख करके न्यायिक विवेकबुद्धि का प्रयोग करते हुए, सकारण आदेश पारित करना चाहिए ।

प्रस्तुत मामले में, अपीलार्थियों ने प्रत्यर्थियों के विरुद्ध करार के विनिर्दिष्ट पालन के लिए एक सिविल वाद फाइल किया था । प्रत्यर्थियों ने अपने लिखित कथन फाइल किए और वादपत्र में स्थापित अपीलार्थियों के दावे से संबंधित तात्विक प्रकथनों से इनकार किया । विचारण न्यायालय ने अभिवचनों के आधार पर विवाद्यक विरचित किए । पक्षकारों ने अपने-अपने साक्ष्य पेश किए । विचारण न्यायालय ने अपीलार्थियों के वाद को डिक्री कर दिया । प्रत्यर्थियों ने व्यथित महसूस करते हुए उच्च न्यायालय की एकल न्यायपीठ के समक्ष अपील फाइल की । एकल न्यायाधीश ने प्रत्यर्थियों की अपील मंजूर कर ली और विचारण न्यायालय के निर्णय/डिक्री को अपास्त करते हुए अपीलार्थियों के वाद को खारिज कर दिया । अपीलार्थी ने इससे व्यथित महसूस करते हुए खंड न्यायपीठ के समक्ष लैटर्स पेटेंट अपील फाइल की । खंड न्यायपीठ ने आक्षेपित आदेश द्वारा अपील खारिज कर दी जिससे विशेष इजाजत लेकर इस न्यायालय के समक्ष यह अपील फाइल की गई । उच्चतम न्यायालय द्वारा अपील मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित – पक्षकारों की ओर से विद्वान् काउन्सेलों की सुनवाई करने और मामले के अभिलेख का परिशीलन करने के पश्चात् न्यायालय इस अपील को मंजूर करने, आक्षेपित आदेश को अपास्त करने और लैटर्स पेटेंट अपील को विधि के अनुसार गुणागुण के आधार पर नए सिरे से विनिश्चित

करने के लिए मामले को उच्च न्यायालय की खंड न्यायपीठ को प्रतिप्रेषित करने के लिए बाध्य है । (पैरा 10)

इस मामले को उच्च न्यायालय को प्रतिप्रेषित करने की आवश्यकता इस कारण उत्पन्न हुई क्योंकि खंड न्यायपीठ ने अपीलार्थियों (वादियों) द्वारा फाइल की गई अपील को सरसरी तौर पर और उस मामले में उद्‌भूत होने वाले किसी भी विवाद्यक और पक्षकारों द्वारा अपने-अपने समर्थन में दी गई दलीलों पर विचार किए बिना खारिज कर दिया था । वास्तव में, अपील में अंतर्वलित तथ्यात्मक और विधिक संविवाद पर न्यायिक विवेकबुद्धि का प्रयोग न करने और इसके अतिरिक्त, पक्षकारों द्वारा स्थापित मामले के तथ्यात्मक वर्णन, दोनों न्यायालयों के उन निष्कर्षों का कि उन्होंने मामले में उद्‌भूत होने वाले विवाद्यकों पर अपनी-अपनी अधिकारिता के भीतर किस प्रकार कार्यवाही की, का भी उल्लेख किए बिना और विवाद्यकों के संबंध में तथा मामले को लागू विधिक सिद्धांतों के प्रकाश में पक्षकारों की दलीलों पर विचार करते समय इस बारे में कोई चर्चा, मूल्यांकन, तर्कणा और सुस्पष्ट निष्कर्ष निकाले बिना कि निचले दोनों न्यायालयों के निष्कर्ष क्यों कायम रखे जाने या उलटे जाने चाहिए, इस न्यायालय के लिए खंड न्यायपीठ के ऐसे आदेश को कायम रखना कठिन है । उच्च न्यायालय की खंड न्यायपीठ द्वारा लैटर्स पेटेंट अपील के निपटारे के बारे में यह नहीं कहा जा सकता है कि वह सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 के आदेश 41, नियम 31 की अपेक्षाओं के अनुरूप है । इस न्यायालय ने समय-समय पर न्यायालयों को प्रत्येक मामले में सकारण आदेश पारित करने की आवश्यकता पर बल दिया है, जिसमें मुकदमे के पक्षकारों के मामले के स्पष्ट तथ्यों का वर्णन, मामले में उद्‌भूत विवाद्यकों, पक्षकारों द्वारा दी गई दलीलों, अंतर्वलित विवाद्यकों को लागू विधिक सिद्धांतों तथा अपने निष्कर्ष के समर्थन में सभी विवाद्यकों के संबंध में निष्कर्षों के समर्थन में कारणों का उल्लेख अवश्य होना चाहिए । यह वास्तव में दुर्भाग्यपूर्ण है कि खंड न्यायपीठ ने अपील का निपटारा करते समय इस सिद्धांत को ध्यान में नहीं रखा और एक अस्पष्ट और अकारण आदेश पारित किया । निसंदिग्ध रूप से, ऐसे आदेश से पक्षकारों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा क्योंकि इससे वे उन कारणों को जानने से वंचित हो गए कि एक पक्षकार विजयी क्यों हुआ और दूसरा पक्षकार पराजित क्यों हुआ । कभी भी उस रीति का अनुमोदन नहीं किया जा सकता है, जिसमें उच्च न्यायालय द्वारा ऐसा आदेश पारित किया गया था, जिसने अपील का गुणागुण के आधार पर नए सिरे से विनिश्चय करने के लिए मामले को उच्च न्यायालय को प्रतिप्रेषित करने के

लिए बाध्य किया । (पैरा 12, 13 और 14)

सिविल अपीली अधिकारिता : 2018 की सिविल अपील सं. 2112.

2000 की लैटर्स पेटेंट अपील सं. 32 में मद्रास उच्च न्यायालय के तारीख 21 अप्रैल, 2004 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील ।

अपीलार्थियों की ओर से	सर्वश्री पी. वी. योगेश्वरन, आशीष कुमार उपाध्याय और भुवन जयंत
प्रत्यर्थियों की ओर से	सुश्री ज्योति पराशर, श्री एन. जे. रामचन्द्र और श्रीमती रेवती राघवन

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति अभय मनोहर सप्रे ने दिया ।

न्या. सप्रे – इजाजत दी जाती है ।

2. यह अपील 2000 की लैटर्स पेटेंट अपील सं. 32 में मद्रास उच्च न्यायालय द्वारा पारित तारीख 21 अप्रैल, 2004 के उस अंतिम निर्णय और आदेश से उद्भूत हुई है जिसके द्वारा उच्च न्यायालय की खंड न्यायपीठ ने अपील खारिज कर दी थी और 1984 के अपील वाद सं. 630 में उच्च न्यायालय के एकल न्यायाधीश द्वारा पारित तारीख 30 अक्तूबर, 1998 के निर्णय और डिक्री को अभिपुष्ट कर दिया था ।

3. इस मामले के तथ्य बहुत संक्षिप्त हैं और यह इसमें इसके नीचे कथित तथ्यों से स्पष्ट हो जाएगा ।

4. अपीलार्थी उस सिविल वाद में, जिससे यह अपील उद्भूत हुई है, वादी हैं जबकि प्रत्यर्थी प्रतिवादी हैं ।

5. अपीलार्थियों ने प्रत्यर्थियों के विरुद्ध करार के विनिर्दिष्ट पालन के लिए एक सिविल वाद फाइल किया था । प्रत्यर्थियों ने अपने लिखित कथन फाइल किए और वादपत्र में स्थापित अपीलार्थियों के दावे से संबंधित तात्विक प्रकथनों से इनकार किया । विचारण न्यायालय ने अभिवचनों के आधार पर विवाद्यक विरचित किए । पक्षकारों ने अपने-अपने साक्ष्य पेश किए । विचारण न्यायालय ने तारीख 3 जुलाई, 1984 के निर्णय/डिक्री द्वारा अपीलार्थियों के वाद को डिक्री कर दिया ।

6. प्रत्यर्थियों ने इससे व्यथित महसूस किया और उन्होंने उच्च न्यायालय की एकल न्यायपीठ के समक्ष अपील फाइल की । एकल न्यायाधीश ने तारीख 30 अक्तूबर, 1998 के अपने निर्णय/डिक्री द्वारा

प्रत्यर्थियों की अपील मंजूर कर ली और विचारण न्यायालय के निर्णय/डिक्री को अपास्त करते हुए अपीलार्थियों के वाद को खारिज कर दिया ।

7. अपीलार्थी ने व्यथित महसूस करते हुए खंड न्यायपीठ के समक्ष लैटर्स पेटेंट अपील फाइल की । खंड न्यायपीठ ने आक्षेपित आदेश द्वारा अपील खारिज कर दी जिससे विशेष इजाजत लेकर इस न्यायालय के समक्ष यह अपील फाइल की गई ।

8. इस अपील में विचारार्थ उद्‌भूत होने वाले संक्षिप्त प्रश्न यह है कि क्या उच्च न्यायालय की खंड न्यायपीठ का अपीलार्थियों की लैटर्स पेटेंट अपील को खारिज करना न्यायोचित था ।

9. अपीलार्थियों की ओर से विद्वान् काउन्सेल श्री पी. वी. योगेश्वरन और प्रत्यर्थियों की ओर से विद्वान् काउन्सेल सुश्री ज्योति पराशर की सुनवाई की गई ।

10. हम पक्षकारों की ओर से विद्वान् काउन्सेलों की सुनवाई करने और मामले के अभिलेख का परिशीलन करने के पश्चात् इस अपील को मंजूर करने, आक्षेपित आदेश को अपास्त करने और लैटर्स पेटेंट अपील को विधि के अनुसार गुणागुण के आधार पर नए सिरे से विनिश्चित करने के लिए मामले को उच्च न्यायालय की खंड न्यायपीठ को प्रतिप्रेषित करने के लिए बाध्य हैं ।

11. आक्षेपित आदेश निम्नलिखित रूप में है :–

> "यह लैटर्स पेटेंट अपील तारीख 15 अप्रैल, 2004, बृहस्पतिवार को सुनवाई के लिए प्रस्तुत की गई और अपील के आधारों, माननीय न्यायमूर्ति पी. थंगावेल के तारीख 30 अक्तूबर, 1998 के उस आदेश का, जो कि 1984 के अपील वाद सं. 630 में उच्च न्यायालय की विशेष अपीली अधिकारिता का प्रयोग करते हुए किया गया था और इस मामले के लिए तात्विक सभी कागजपत्रों का परिशीलन करने और अपीलार्थियों की ओर से श्री टी. एम. हरीहरण, अधिवक्ता और प्रथम प्रत्यर्थी की ओर से श्री के. रघुनाथन, अधिवक्ता की दलीलों को सुनने के पश्चात् और यह अवेक्षा करने पर कि प्रत्यर्थी सं. 3 से 5 को नोटिस की तामील करने के लिए कोई कदम नहीं उठाया गया है तथा आज तक विचार करने के लिए नजर रखने के पश्चात्, यह न्यायालय निम्नलिखित रूप में आदेश और डिक्री पारित करता है –

(i) यह कि तारीख 30 अक्तूबर, 1998 का निर्णय और आदेश, जो कि 1984 के अपील वाद सं. 630 में माननीय उच्च न्यायालय की अपीली अधिकारिता का प्रयोग करते हुए किया गया था, पुष्ट होगा और एतद्द्वारा पुष्ट किया जाता है; और लैटर्स पेटेंट अपील खारिज की जाती है; और

(ii) यह कि इस लैटर्स पेटेंट अपील में खर्चे के बारे में कोई आदेश नहीं किया जाता है ।"

12. इस मामले को उच्च न्यायालय को प्रतिप्रेषित करने की आवश्यकता इस कारण उत्पन्न हुई क्योंकि खंड न्यायपीठ ने अपीलार्थियों (वादियों) द्वारा फाइल की गई अपील को सरसरी तौर पर और उस मामले में उद्भूत होने वाले किसी भी विवाद्यक और पक्षकारों द्वारा अपने-अपने समर्थन में दी गई दलीलों पर विचार किए बिना खारिज कर दिया था ।

13. वास्तव में, अपील में अंतर्वलित तथ्यात्मक और विधिक संविवाद पर न्यायिक विवेकबुद्धि का प्रयोग न करने और इसके अतिरिक्त, पक्षकारों द्वारा स्थापित मामले के तथ्यात्मक वर्णन, दोनों न्यायालयों के उन निष्कर्षों का कि उन्होंने मामले में उद्भूत होने वाले विवाद्यकों पर अपनी-अपनी अधिकारिता के भीतर किस प्रकार कार्यवाही की, का भी उल्लेख किए बिना और विवाद्यकों के संबंध में तथा मामले को लागू विधिक सिद्धांतों के प्रकाश में पक्षकारों की दलीलों पर विचार करते समय इस बारे में कोई चर्चा, मूल्यांकन, तर्कणा और सुस्पष्ट निष्कर्ष निकाले बिना कि निचले दोनों न्यायालयों के निष्कर्ष क्यों कायम रखे जाने या उलटे जाने चाहिए, इस न्यायालय के लिए खंड न्यायपीठ के ऐसे आदेश को कायम रखना कठिन है । हमारी राय में, उच्च न्यायालय की खंड न्यायपीठ द्वारा लैटर्स पेटेंट अपील के निपटारे के बारे में यह नहीं कहा जा सकता है कि वह सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 (जिसे इसमें इसके पश्चात् "संहिता" कहा गया है) के आदेश 41, नियम 31 की अपेक्षाओं के अनुरूप है ।

14. इस न्यायालय ने समय-समय पर न्यायालयों को प्रत्येक मामले में सकारण आदेश पारित करने की आवश्यकता पर बल दिया है, जिसमें मुकदमे के पक्षकारों के मामले के स्पष्ट तथ्यों का वर्णन, मामले में उद्भूत विवाद्यकों, पक्षकारों द्वारा दी गई दलीलों, अंतर्वलित विवाद्यकों को लागू विधिक सिद्धांतों तथा अपने निष्कर्ष के समर्थन में सभी विवाद्यकों के संबंध में निष्कर्षों के समर्थन में कारणों का उल्लेख अवश्य होना चाहिए । यह वास्तव में दुर्भाग्यपूर्ण है कि खंड न्यायपीठ ने अपील का निपटारा करते

समय इस सिद्धांत को ध्यान में नहीं रखा और एक अस्पष्ट और अकारण आदेश पारित किया । निस्संदिग्ध रूप से, ऐसे आदेश से पक्षकारों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा क्योंकि इससे वे उन कारणों को जानने से वंचित हो गए कि एक पक्षकार विजयी क्यों हुआ और दूसरा पक्षकार पराजित क्यों हुआ । हम कभी भी उस रीति का अनुमोदन नहीं कर सकते, जिसमें उच्च न्यायालय द्वारा ऐसा आदेश पारित किया गया था, जिसने हमें अपील का गुणागुण के आधार पर नए सिरे से विनिश्चय करने के लिए मामले को उच्च न्यायालय को प्रतिप्रेषित करने के लिए बाध्य किया ।

15. पूर्वगामी चर्चा को ध्यान में रखते हुए, हम अपील मंजूर करते हैं, आक्षेपित आदेश को अपास्त करते हैं और हमारे द्वारा ऊपर की गई मताभिव्यक्तियों को ध्यान में रखते हुए अपील का विधि के अनुसार गुणागुण के आधार पर नए सिरे से विनिश्चय करने के लिए मामले को उच्च न्यायालय की खंड न्यायपीठ को प्रतिप्रेषित करते हैं ।

16. तथापि, हम यह स्पष्ट करते हैं कि हम मामले को ऊपर उल्लिखित कारणों से उच्च न्यायालय को प्रतिप्रेषित करने की राय बनाते समय संविवाद के गुणागुण पर कोई मताभिव्यक्ति करने से विरत रहे हैं । अतः, उच्च न्यायालय अपील का विनिश्चय हमारी किसी भी मताभिव्यक्ति से प्रभावित हुए बिना, यथार्थ रूप से विधि के अनुसार करेगा । चूंकि यह अपील काफी पुरानी है इसलिए हम उच्च न्यायालय से यह अनुरोध करते हैं कि वह इस अपील का शीघ्र निपटारा सुनिश्चित करे ।

17. तद्नुसार, अपील मंजूर की जाती है । आक्षेपित आदेश, उपर्युक्त निदेशों सहित अपास्त किया जाता है ।

अपील मंजूर की गई ।

ग्रो.

[2018] 3 उम. नि. प. 234

सुनील सामदरिया

बनाम

भारत संघ मार्फत सचिव, विधि और न्याय मंत्रालय और अन्य

23 फरवरी, 2018

न्यायमूर्ति ए. के. सीकरी और न्यायमूर्ति अशोक भूषण

संविधान, 1950 – अनुच्छेद 217(2)(क) और 224 – उच्च न्यायालय में अपर न्यायाधीशों की नियुक्ति – अर्हता – अनुच्छेद 217(2)(क) में यह उपबंधित है कि अपर न्यायाधीश के पद पर नियुक्ति के लिए अभ्यर्थी द्वारा कम से कम 10 वर्ष तक न्यायिक पद 'धारण किया गया हो', से यह उपदर्शित नहीं होता है कि अभ्यर्थी दस वर्ष से कोई न्यायिक पद धारण करने के अतिरिक्त अनुच्छेद 224 के अधीन नियुक्ति की अधिसूचना जारी होने के समय भी न्यायिक पद धारण कर रहा हो ।

संविधान, 1950 – अनुच्छेद 224 – उच्च न्यायालय में अपर न्यायाधीशों की नियुक्ति – पदावधि – दो वर्ष से कम अवधि के लिए नियुक्ति – जब अपर न्यायाधीश के रूप में नियुक्त व्यक्ति दो वर्ष की पदावधि से पूर्व 62 वर्ष की अधिवर्षिता की आयु प्राप्त कर लेने के पश्चात् सेवानिवृत्त हो रहा हो, तो ऐसी नियुक्ति को अनुच्छेद 224 के प्रतिकूल नहीं कहा जा सकता है ।

इस रिट याचिका के तथ्य इस प्रकार हैं कि प्रत्यर्थी सं. 2 और 3 की राजस्थान उच्च न्यायालय के अपर न्यायाधीशों के रूप में नियुक्ति करते हुए तारीख 12 मई, 2017 को एक अधिसूचना जारी की गई थी । प्रत्यर्थी सं. 2 और 3 राजस्थान राज्य की न्यायिक सेवा के सदस्य थे, जो 60 वर्ष की अधिवर्षिता की आयु प्राप्त करने के पश्चात् जिला न्यायाधीश के पद से क्रमशः तारीख 30 सितंबर, 2016 और 31 जुलाई, 2016 को सेवानिवृत्त हुए थे । याची, जो राजस्थान उच्च न्यायालय में एक व्यवसायरत अधिवक्ता है, द्वारा भारत के संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन प्रत्यर्थी सं. 2 और 3 की नियुक्ति को इस आधार पर चुनौती देते हुए कि जिस दिन अर्थात् 12 मई, 2017 को अधिसूचना जारी की गई थी, दोनों व्यक्ति न्यायिक पद

धारण नहीं करने के कारण उच्च न्यायालय के अपर न्यायाधीशों के रूप में नियुक्ति के लिए पात्र नहीं थे और प्रत्यर्थी सं. 2 और 3 की नियुक्ति दो वर्ष की अवधि से कम होने के कारण भारत के संविधान के अनुच्छेद 224 के विपरीत है, उच्चतम न्यायालय में रिट याचिका फाइल की । उच्चतम न्यायालय द्वारा रिट याचिका खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित – संविधान के अनुच्छेद 217(2)(क) में यथा प्रयुक्त शब्द "धारण कर चुका है" से यह उपदर्शित होता है कि उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति के लिए जो विहित अर्हता है वह यह है कि ऐसा व्यक्ति भारत के राज्यक्षेत्र में कम से कम दस वर्ष कोई न्यायिक पद धारण कर चुका हो । उपरोक्त खंड में 'धारण कर चुका है' शब्द के प्रयोग से यह उपदर्शित नहीं होता है कि इस अर्हता का यह भी अर्थ है कि दस वर्ष कोई न्यायिक पद धारण करने के अतिरिक्त पदधारी अनुच्छेद 224 के अधीन सूचना जारी होने के समय भी न्यायिक पद धारण कर रहा हो । उपरोक्त निष्कर्ष का समर्थन अनुच्छेद 217(2) के स्पष्टीकरण (क) और (कक) से भी होता है । स्पष्टीकरण (क) में यह उपबंधित है कि भारत के राज्यक्षेत्र में न्यायिक पद धारण करने की अवधि की संगणना करने में वह अवधि भी सम्मिलित की जाएगी जिसके दौरान कोई व्यक्ति न्यायिक पद धारण करने के पश्चात् किसी उच्च न्यायालय का अधिवक्ता रहा है या उसने किसी अधिकरण के सदस्य का पद धारण किया है अथवा संघ या राज्य के अधीन कोई ऐसा पद धारण किया है जिसके लिए विधि का विशेष ज्ञान अपेक्षित है । अनुच्छेद 217(2)(क) में यथा उपबंधित पात्रता के पठन मात्र से यह स्पष्ट है कि प्रत्यर्थी सं. 2 और 3 राजस्थान उच्च न्यायालय के अपर न्यायाधीशों के रूप में नियुक्ति के लिए अपात्र नहीं हैं । (पैरा 24, 25 और 26)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[1993]	(1993) 4 एस. सी. सी. 441 : **सुप्रीम कोर्ट एडवोकेट्स-आन रिकार्ड एसोसिएशन और अन्य** बनाम **भारत संघ** ;	28
[1992]	[1992] 2 उम. नि. प. 414 = (1992) 2 एस. सी. सी. 428 : **श्री कुमार पदम प्रसाद** बनाम **भारत संघ और अन्य** ;	3,4

[1982] [1982] 4 उम. नि. प. 1 =
(1981) सप्ली. एस. सी. सी. 87 :
एस. पी. गुप्त बनाम **भारत संघ और एक अन्य ;** 3,4

[1966] ए. आई. आर. 1966 एस. सी. 1987 :
चंद्र मोहन बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य ।** 17

आरंभिक (सिविल) अधिकारिता : 2017 की रिट याचिका (सिविल) सं. 835.

संविधान, 1950 के अनुच्छेद 131 के अधीन रिट याचिका ।

याची की ओर से श्री सुनील सामदरिया (याची-व्यक्तिगत रूप से)

प्रत्यर्थियों की ओर से सर्वश्री मनिंदर सिंह, अपर महा-सालिसिटर, सुश्री माधवी दीवान, आर. बालसुब्रमण्यन, प्रभास बजाज, अक्षय अमरियांशु, (सुश्री) आरती शर्मा और मुकेश कुमार मरोड़िया

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति अशोक भूषण ने दिया ।

न्या. भूषण – भारत के संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन यह रिट याचिका याची, जो राजस्थान उच्च न्यायालय में एक व्यवसायरत अधिवक्ता है, द्वारा प्रत्यर्थी सं. 2 और 3 की राजस्थान उच्च न्यायालय के अपर न्यायाधीशों के रूप में नियुक्ति करते हुए जारी की गई तारीख 12 मई, 2017 की अधिसूचना को प्रश्नगत करते हुए फाइल की गई है । इस न्यायालय ने तारीख 3 अक्तूबर, 2017 को केवल प्रत्यर्थी सं. 1 को नोटिस जारी किया था । भारत संघ-प्रत्यर्थी सं. 1 द्वारा एक प्रति-शपथपत्र फाइल किया गया है ।

2. हमने याची, जो व्यक्तिगत रूप से हाजिर हुए और भारत के विद्वान् अपर महा-सालिसिटर, श्री मनिंदर सिंह को सुना ।

3. व्यक्तिगत रूप से हाजिर याची ने प्रत्यर्थी सं. 2 और 3 की राजस्थान उच्च न्यायालय के अपर न्यायाधीशों के रूप में नियुक्ति को चुनौती देते हुए निम्नलिखित दो दलीलें दी हैं :–

(1) राजस्थान उच्च न्यायालय के अपर न्यायाधीशों के रूप में प्रत्यर्थी सं. 2 और 3 की नियुक्ति भारत के संविधान के अनुच्छेद 224 के अधीन की गई है । प्रत्यर्थी सं. 2 की नियुक्ति तारीख 1 सितंबर, 2018, जबकि प्रत्यर्थी सं. 3 की नियुक्ति तारीख 2 जुलाई, 2018 तक के लिए की गई है और दोनों नियुक्तियां दो वर्ष से कम अवधि के लिए होने के कारण भारत के संविधान के अनुच्छेद 224 का अतिक्रमण होता है । यह दलील दी गई कि अपर न्यायाधीशों की नियुक्ति दो वर्ष से कम अवधि के लिए नहीं की जानी चाहिए थी, इसलिए नियुक्तियां नास्ति और शून्य हैं । **एस. पी. गुप्त** बनाम **भारत संघ और एक अन्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय की संविधान पीठ के निर्णय का अवलंब लिया गया ।

(2) प्रत्यर्थी सं. 2 और 3 राजस्थान राज्य की न्यायिक सेवा के सदस्य थे, जो 60 वर्ष की अधिवर्षिता की आयु प्राप्त करने के पश्चात् क्रमशः तारीख 30 सितंबर, 2016 और 31 जुलाई, 2016 को जिला न्यायाधीश के पद से सेवानिवृत्त हुए थे । प्रत्यर्थी सं. 2 और 3 की नियुक्ति करते हुए जिस दिन अर्थात् 12 मई, 2017 को जब अधिसूचना जारी की गई थी, दोनों द्वारा न्यायिक पद धारण नहीं करने के कारण वे उच्च न्यायालय के अपर न्यायाधीशों के रूप में नियुक्ति के लिए पात्र नहीं थे । किसी व्यक्ति को उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में नियुक्त किए जाने के लिए अनुच्छेद 217(2) के अधीन यथा उपबंधित पात्रता यह है कि (क) वह राज्य की न्यायिक सेवा का सदस्य होना चाहिए । प्रत्यर्थी सं. 2 और 3 न्यायिक सेवा से काफी पहले सेवानिवृत्त होने के कारण उच्च न्यायालय के अपर न्यायाधीशों के रूप में नियुक्ति के लिए पात्रता नहीं रखते हैं, इसलिए इस आधार पर भी प्रत्यर्थी सं. 2 और 3 की नियुक्तियों को नास्ति और शून्य घोषित किया जाना चाहिए । याची ने **श्री कुमार पदम प्रसाद** बनाम **भारत संघ और अन्य**[2] वाले मामले में इस न्यायालय के निर्णय का अवलंब लिया है ।

4. भारत के विद्वान् अपर महा-सालिसिटर, श्री मनिंदर सिंह ने याची

---

[1] [1982] 4 उम. नि. प. 1 = (1981) सप्ली. एस. सी. सी. 87.

[2] [1992] 2 उम. नि. प. 414 = (1992) 2 एस. सी. सी. 428.

की दलील का खंडन करते हुए यह दलील दी कि प्रत्यर्थी सं. 2 और 3 की नियुक्तियां पूरी तरह से भारत के संविधान के अनुच्छेद 217(2) और अनुच्छेद 224 के अनुसार हैं । प्रत्यर्थी सं. 2 और 3 ने 10 वर्ष की अवधि तक न्यायिक पद धारण किया है, इसलिए वे राजस्थान उच्च न्यायालय के अपर न्यायाधीशों के रूप में नियुक्त किए जाने के लिए पूरी तरह से पात्र हैं । अनुच्छेद 224 के खंड (1) के अधीन उच्च न्यायालय के अपर न्यायाधीश की नियुक्ति की अधिकतम अवधि दो वर्ष होने के कारण प्रत्यर्थी सं. 2 और 3, जो दो वर्ष की अवधि के पर्यवसान से पूर्व 62 वर्ष की अधिवर्षिता की आयु प्राप्त कर लेंगे, जो क्रमशः तारीख 1 सितंबर, 2018 और 2 जुलाई 2018 है, इसलिए अधिवर्षिता की आयु तक उनकी नियुक्ति में कोई अवैधता नहीं है । **श्री कुमार पदम प्रसाद** (उपर्युक्त) वाले मामले में इस न्यायालय का निर्णय लागू नहीं होता है और न ही **एस. पी. गुप्त** (उपर्युक्त) वाले मामले में संविधान पीठ के निर्णय से वर्तमान मामले में याची द्वारा दी गई दलील का समर्थन होता है ।

5. हमने व्यक्तिगत रूप में हाजिर याची और भारत संघ की ओर से विद्वान् अपर महा-सालिसिटर की दलीलों पर विचार किया है ।

6. न्यायिक सेवा, राजस्थान उच्च न्यायालय के अपर न्यायाधीशों के रूप में नियुक्ति की प्रक्रिया और उनकी पदावधि से संबंधित सुसंगत तथ्य विवादग्रस्त नहीं हैं । जब राजस्थान उच्च न्यायालय के कार्यकारी मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा तारीख 28 फरवरी, 2016 के पत्र द्वारा प्रत्यर्थी सं. 2 और 3 के नामों की सिफारिश की गई थी तब वे दोनों राज्य की न्यायिक सेवा के सदस्य थे । जिस तारीख को उनके नामों की सिफारिश की गई थी, वे पूरी तरह से विचार क्षेत्र में थे और जिस रिक्ति के विरुद्ध उनके नामों की सिफारिश की गई थी वे, रिक्ति होने की तारीख को 58½ वर्ष की विहित आयु सीमा के भीतर थे । कार्यकारी मुख्य न्यायमूर्ति ने सिफारिश की प्रक्रिया करते समय विधि और न्याय मंत्री के तारीख 24 सितंबर, 2004 के पत्र द्वारा यथा अधिकथित प्रक्रिया-ज्ञापन का पालन किया था । विधि और न्याय मंत्रालय, भारत सरकार ने सिफारिश पर कार्यवाही करने के पश्चात् उसे तारीख 22 जुलाई, 2016 को भारत के मुख्य न्यायमूर्ति के विचार के लिए प्रेषित किया था । उच्चतम न्यायालय के कालेजियम ने तारीख 1 अगस्त, 2016 के अपने कार्यवृत्त द्वारा प्रत्यर्थी सं. 2 और 3 के नामों की सेवा-स्रोत से होने के रूप में सिफारिश की थी । भारत सरकार ने उच्चतम न्यायालय के कालेजियम की सिफारिश प्राप्त होने के पश्चात् और भारत के

माननीय राष्ट्रपति का अनुमोदन अभिप्राप्त करने के पश्चात् तारीख 12 मई, 2017 को नियुक्ति अधिसूचित की । इस संपूर्ण प्रक्रिया में एक वर्ष और तीन माह का समय लग गया । अनुच्छेद 224(1) के अधीन शक्ति का प्रयोग करते हुए प्रत्यर्थी सं. 2 और 3 की नियुक्ति के लिए तारीख 12 मई, 2017 की जो अधिसूचना जारी की गई थी, उसमें उनकी नियुक्ति उनके द्वारा कार्यभार ग्रहण करने की तारीख से क्रमशः तारीख 1 सितंबर, 2018 और 2 जुलाई, 2018 तक उल्लिखित थी । अधिसूचना में 1 सितंबर, 2018 और 2 जुलाई, 2018 की जो तारीख उल्लिखित हैं, स्पष्ट तौर पर वे तारीखें हैं जब वे उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के रूप में अधिवर्षिता की आयु अर्थात् 62 वर्ष प्राप्त करेंगे । यह उल्लेख करना सुसंगत है कि प्रत्यर्थी सं. 2 और 3 के साथ-साथ तीन और व्यक्तियों को दो वर्ष की अवधि के लिए अपर न्यायाधीशों के रूप में नियुक्त किया गया था और उनकी पदावधि की बाबत दो वर्ष की अवधि उल्लिखित थी । तारीख 12 मई, 2017 की अधिसूचना को उद्धृत करना सुसंगत है, जो निम्नलिखित प्रभाव की है :–

"अधिसूचना

राष्ट्रपति, भारत के संविधान के अनुच्छेद 224 के खंड (1) द्वारा प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए, सर्वश्री (i) अशोक कुमार गौर, (ii) मनोज कुमार गर्ग, (iii) इन्द्रजीत सिंह, (iv) डा. विरेन्द्र कुमार माथुर और (v) श्री रामचन्द्र सिंह झाला को इस ज्येष्ठता क्रम में राजस्थान उच्च न्यायालय के अपर न्यायाधीशों के रूप में नियुक्त करते हैं ।

सर्वश्री अशोक कुमार गौर, मनोज कुमार गर्ग, इन्द्रजीत सिंह की नियुक्ति उनके द्वारा अपने-अपने पद का कार्यभार ग्रहण करने की तारीख से दो वर्ष की अवधि के लिए होगी । तथापि, डा. विरेन्द्र कुमार माथुर और श्री रामचन्द्र सिंह झाला की नियुक्ति की अवधि उनके द्वारा अपने-अपने पद का कार्यभार ग्रहण करने की तारीख से क्रमशः 1 सितंबर, 2018 और 2 जुलाई, 2018 तक होगी ।

हस्ता./-
(एस. सी. बर्मा)
संयुक्त सचिव, भारत सरकार
दूरभाष - 23072142"

7. याची द्वारा दी गई प्रथम दलील यह है कि प्रत्यर्थी सं. 2 और 3 की नियुक्ति दो वर्ष की अवधि से कम होने के कारण भारत के संविधान के अनुच्छेद 224 के विपरीत और **एस. पी. गुप्त** (उपर्युक्त) वाले मामले में अधिकथित विधि के प्रतिकूल है ।

8. भारत के संविधान के अनुच्छेद 224 में अपर और कार्यकारी न्यायधीशों की नियुक्ति के लिए उपबंध किया गया है । अनुच्छेद 224(1) में वर्णित अनुसार, उच्च न्यायालय के अपर न्यायाधीशों की नियुक्ति "ऐसी अवधि के लिए होगी जो दो वर्ष से अनधिक की नहीं" होगी । **एस. पी. गुप्त** (उपर्युक्त) वाले मामले में संविधान पीठ ने संविधान के अनुच्छेद 224, इसके प्रयोजन और उद्देश्य पर विस्तार पूर्वक विचार किया है । अनुच्छेद 224 में, जैसा कि यह मूल संविधान में था, "उच्च न्यायालय की बैठकों में सेवानिवृत्त न्यायाधीशों की हाजिरी" शीर्षक अंतर्विष्ट था, जो निम्नलिखित प्रभाव का था :–

> "**224. उच्च न्यायालय की बैठकों में सेवानिवृत्त न्यायाधीशों की हाजिरी** – इस अध्याय में किसी बात के होते हुए भी, किसी राज्य के उच्च न्यायालय का मुख्य न्यायमूर्ति, किसी भी समय, राष्ट्रपति की पूर्व सहमति से किसी व्यक्ति से, जो उस उच्च न्यायालय या किसी अन्य उच्च न्यायालय के न्यायाधीश का पद धारण कर चुका है, उस राज्य के उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में बैठने और कार्य करने का अनुरोध कर सकेगा और प्रत्येक ऐसा व्यक्ति, जिससे इस प्रकार अनुरोध किया जाता है, इस प्रकार बैठने और कार्य करने के दौरान ऐसे भत्तों का हकदार होगा जो राष्ट्रपति आदेश द्वारा अवधारित करे और उसको उस उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की सभी अधिकारिता, शक्तियां और विशेषाधिकार होंगे, किंतु उसे अन्यथा उस उच्च न्यायालय का न्यायाधीश नहीं समझा जाएगा :
>
> परंतु जब तक यथापूर्वोक्त व्यक्ति उस उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में बैठने और कार्य करने की सहमति नहीं दे देता है तब तक इस अनुच्छेद की कोई बात उससे ऐसा करने की अपेक्षा करने वाली नहीं समझी जाएगी ।"

9. अनुच्छेद 224 ने, जैसा कि यह संविधान में मूलतः अंतर्विष्ट था,

भली-भांति कार्य नहीं किया और इसे न तो पर्याप्त और न ही संतोषजनक पाया गया । संसद् ने उच्च न्यायालयों में मामलों के बढ़ते बकाया का सामना करने के लिए विद्यमान अनुच्छेद 224 में संशोधन करके अपर न्यायाधीशों की नियुक्ति का उपबंध करते हुए अनुच्छेद 224 के स्थान पर एक नया अनुच्छेद प्रतिस्थापित किया । संविधान (सातवां संशोधन) अधिनियम, 1956 द्वारा यथा संशोधित अनुच्छेद 224 निम्नलिखित है :–

> "**224. अपर और कार्यकारी न्यायाधीशों की नियुक्ति** – (1) यदि किसी उच्च न्यायालय के कार्य में किसी अस्थायी वृद्धि के कारण या उसमें कार्य की बकाया के कारण राष्ट्रपति को यह प्रतीत होता है कि उस न्यायालय के न्यायाधीशों की संख्या को तत्समय बढ़ा देना चाहिए तो राष्ट्रपति सम्यक् रूप से अर्हित व्यक्तियों को दो वर्ष से अनधिक की ऐसी अवधि के लिए जो वह विनिर्दिष्ट करे, उस न्यायालय के अपर न्यायाधीश नियुक्त कर सकेगा ।
>
> (2) जब किसी उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति से भिन्न कोई न्यायाधीश अनुपस्थिति के कारण या अन्य कारण से अपने पद के कर्तव्यों का पालन करने में असमर्थ है या मुख्य न्यायमूर्ति के रूप में अस्थायी रूप से कार्य करने के लिए नियुक्त किया जाता है तब राष्ट्रपति सम्यक् रूप से अर्हित किसी व्यक्ति को तब तक के लिए उस न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में कार्य करने के लिए नियुक्त कर सकेगा जब तक स्थायी न्यायाधीश अपने कर्तव्यों को फिर से नहीं संभाल लेता है ।
>
> (3) उच्च न्यायालय के अपर या कार्यकारी न्यायाधीश के रूप में नियुक्त कोई व्यक्ति (62 वर्ष) की आयु प्राप्त कर लेने के पश्चात् पद धारण नहीं करेगा ।"

10. **एस. पी. गुप्त** (उपर्युक्त) वाले मामले में संविधान पीठ द्वारा संविधान के सातवें संशोधन द्वारा यथा उपबंधित अनुच्छेद 224 के उद्देश्य और प्रयोजन पर विचार करते हुए निम्नलिखित मताभिव्यक्ति की है :–

> "37. ..... इसलिए किसी अपर न्यायाधीश को नियुक्त करने की शक्ति का प्रयोग राष्ट्रपति द्वारा तब तक नहीं किया जा सकता जब तक कि या तो उच्च न्यायालय के काम-काज में स्थायी रूप से

वृद्धि हो गई है अथवा उच्च न्यायालय में निलंबित काम-काज इकट्ठा हो गया हो और यद्यपि इन दोनों अवस्थाओं में से कोई एक अवस्था विद्यमान हो तो भी यह आवश्यक हो जाता है कि राष्ट्रपति का इस बारे में भी समाधान हो जाए कि उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की संख्या में अस्थायी रूप से वृद्धि करना आवश्यक है । 'कुछ समय के लिए' शब्दों से स्पष्टतया यह उपदर्शित होता है कि ऐसे न्यायाधीशों की संख्या में वृद्धि, जिसे राष्ट्रपति अपर न्यायाधीशों की नियुक्ति करके कर सकेगा, अस्थायी वृद्धि होगी जिससे कि वे न्यायाधीश उच्च न्यायालय के काम-काज में अस्थायी वृद्धि को निपटाएंगे अथवा उच्च न्यायालय में निलम्बित काम-काज को निष्पादित करेंगे । अनुच्छेद 224 खण्ड (1) में यह अनुध्यात नहीं किया गया है कि न्यायाधीशों की संख्या में वृद्धि किसी अनिश्चित कालावधि के लिए होनी चाहिए । स्पष्ट रूप से उद्देश्य यह है कि किसी अपर न्यायाधीश की नियुक्ति संक्षिप्त कालावधि के लिए की जानी चाहिए ताकि उच्च न्यायालय के काम-काज में जो अस्थायी वृद्धि हो गई है उसे निपटा दिया जाए और/या लंबित मामलों को निपटा दिया जाए । अनुच्छेद 224 के खण्ड (1) में इस बारे में पर्याप्त संकेत है कि अपर न्यायाधीशों की नियुक्तियां संक्षिप्त कालावधि के लिए आशयित हैं और संसद् की यह प्रत्याशा है कि पर्याप्त संख्या में अपर न्यायाधीशों की नियुक्ति की जाएगी जिससे कि काम-काज में अस्थायी वृद्धि को निपटा दिया जाएगा अथवा दो वर्ष या लगभग इस कालावधि के भीतर लंबित मामलों को निष्पादित कर दिया जाएगा । यही कारण है कि अनुच्छेद 224 के खण्ड (1) में यह उपबंध किया गया है कि अपर न्यायाधीशों की पर्याप्त संख्या होनी चाहिए जिससे कि वे प्रसामान्य रूप से संस्थित मामलों पर विचार कर सकें और जहां तक काम-काज में अस्थायी वृद्धि का संबंध है अथवा लंबित पड़े मामलों का संबंध है, अपर न्यायाधीशों की नियुक्ति दो वर्ष से अनधिक की कालावधि के लिए की जाएगी जिससे ऐसे काम-काज को निपटाने में सहायता मिलेगी..... ।"

11. तथापि, संविधान पीठ ने यह उल्लेख और मत व्यक्त किया कि अनुच्छेद 224 के खंड (1) के आशय तथा प्रयोजन को कभी प्रभावशील नहीं बनाया गया और अनुच्छेद 224 का व्यवहारिक रूप से जो प्रयोग किया

गया, उसका संविधान पीठ ने निर्णय के पैरा 38 में निम्नलिखित शब्दों में स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है :–

"38. ..... अनुच्छेद 224 के खंड (1) के पुर:स्थापित किए जाने का समस्त उद्देश्य तथा प्रयोजन विपर्यस्त हो गया और इस अनुच्छेद के अधीन अपर न्यायधीशों की नियुक्ति संक्षिप्त कालावधि के लिए अस्थायी न्यायाधीशों के रूप में नहीं की जाती थी, जिससे कि जैसे ही निलंबित मामलों को निपटा दिया जाता, वे अपनी अवधि के अवसान पर वापस चले जाते किंतु उनकी नियुक्ति ऐसे न्यायाधीशों के रूप में की जाती थी, जिनकी अवधि, हालांकि अपर न्यायाधीश के रूप में प्रत्येक नियुक्ति दो वर्ष से अनधिक कालावधि पर्यन्त सीमित थी, तथापि, उसे समय-समय पर तब तक बहाल कर दिया जाता जब तक कि उनके लिए स्थायी न्यायाधीशों के संवर्ग में रिक्त स्थान प्राप्त नहीं हो जाता । व्यापक रूप से, प्रत्येक व्यक्ति उच्च न्यायालय संबंधी न्यायपालिका में अपर न्यायाधीश के रूप में इस स्पष्ट प्रत्याशा के साथ प्रविष्ट करता था कि जैसे ही उच्च न्यायालय में किसी स्थायी न्यायाधीश का पद रिक्त होगा, उसे उसी उच्च न्यायालय में उपलभ्य हो जाएगा तो उसकी पुष्टि स्थायी न्यायाधीश के रूप में कर दी जाएगी और यदि उसके पद की अवधि के पर्यवसान-पर्यन्त उसे कोई रिक्ति उपलभ्य नहीं होती है तो उसे उसी उच्च न्यायालय में अतिरिक्त अवधि के लिए अपर न्यायाधीश के रूप में पुनः नियुक्त कर दिया जाएगा । इसलिए, न्यायाधीश सर्वथा इस बात से अनभिज्ञ थे कि उनकी अवधि के अवसान पर वे वापस चले जाएंगे क्योंकि उन्हें मात्र अस्थायी न्यायाधीशों के रूप में संक्षिप्त कालावधि के लिए निलंबित पड़े मामलों को निपटाने की दृष्टि से नियुक्त किया गया था – यह स्थिति उस समय होती जब अनुच्छेद 224 के खंड (1) को उसके सही आशय तथा प्रयोजन के अनुसार कार्यान्वित किया जाता – अपर न्यायाधीश उच्च न्यायालय संबंधी न्यायपालिका में इस विधिसम्मत प्रत्याशा सहित प्रविष्ट करते कि उनकी अवधि के पर्यवसित हो जाने पर उन्हें वापस जाना पड़ेगा बल्कि या तो उन्हें अपर न्यायाधीशों के रूप में अतिरिक्त अवधि के लिए पुनः नियुक्त कर दिया जाएगा अथवा यदि इसी बीच स्थायी न्यायाधीश के पद पर कोई रिक्ति उपलभ्य हो जाती है तो स्थायी न्यायाधीशों के रूप में

उनकी पुष्टि कर दी जाएगी । यह प्रत्याशा जो कि विशिष्ट रीति के कारण अपर न्यायाधीशों के मन में प्रज्जनित हुई थी, जिसमें कि अनुच्छेद 224 का खंड (1) को प्रवर्तित किया गया था, उसकी अब सरकार द्वारा उपेक्षा नहीं की जा सकती कि जब किसी अपर न्यायाधीश की अवधि समाप्त हो जाती है तो सरकार अपनी इच्छानुसार उसे हटा सकती है । मन में उद्‌भूत प्रत्याशा के कारण जो कि उस पद्धति के आधार पर उद्‌भूत हुई थी जिसका अनुसरण लगभग 25 वर्षों तक किया जाता रहा, कोई अपर न्यायाधीश इस बात का हकदार है कि उसकी मूल अवधि के पर्यवसित हो जाने पर उस पर अतिरिक्त अवधि के लिए अपर न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति हेतु विचार किया जाए और यदि इसी बीच किसी स्थायी न्यायाधीश के पद पर रिक्ति उसे उपलभ्य हो जाती है जो कि अपर न्यायाधीश में से ज्येष्ठता के आधार पर उसे मिल सकती है तो उसे यह अधिकार होगा कि अपने उच्च न्यायालय में स्थायी न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति के लिए उस पर विचार किया जाए ।"

12. **एस. पी. गुप्त** (उपर्युक्त) वाले मामले में संविधान पीठ द्वारा अधिकथित विनिश्चयाधार पर, जिसका याची द्वारा अवलंब लिया गया है, स्वयं संविधान पीठ द्वारा ऊपर जो कहा गया है उसको ध्यान में रखते हुए विचार किए जाने की आवश्यकता है । अब, उन तथ्यों की पृष्ठभूमि का उल्लेख किए जाने की आवश्यकता है जिनमें संविधान पीठ को पैरा 44 में कतिपय मताभिव्यक्तियां करनी पड़ी । जिस रिट याचिका में अपर न्यायाधीशों की कालावधि का प्रश्न विचार किए जाने के लिए आया था, वह दिल्ली उच्च न्यायालय में फाइल की गई थी और उसे 1981 के अंतरित मामला सं. 20 के रूप में इस न्यायालय में अंतरित किया गया था । उक्त रिट याचिका में संघ के विधि मंत्री द्वारा जारी किए गए तारीख 18 मार्च, 1981 के परिपत्र को चुनौती देने के अतिरिक्त दिल्ली उच्च न्यायालय के तीन अपर न्यायाधीशों अर्थात् श्री ओ. एन. वोहरा श्री एस. एन. कुमार और श्री एस. बी. वाड की अल्पकालिक नियुक्ति के संबंध में एक शिकायत की गई थी । उपरोक्त अपर न्यायाधीशों को मूलतः दो वर्ष की अवधि के लिए अपर न्यायाधीशों के रूप में नियुक्त किया गया था और उनकी कालावधि तारीख 6 मार्च, 1981 की मध्यरात्रि को समाप्त हो रही थी । उन्हें आगे तारीख 7 मार्च, 1981 से केवल तीन माह की अवधि के

लिए अपर न्यायाधीशों के रूप में नियुक्त किया गया था । रिट याचिका में ऐसी अल्पकालिक नियुक्ति की शिकायत की गई थी । यह दलील दी गई कि ऐसी अल्पकालिक नियुक्तियां अनुच्छेद 224 के निबंधनों के अनुसार अनुचित थी और किसी भी स्थिति में न्यायपालिका की स्वतंत्रता की ध्वंसकारी हैं । केन्द्रीय सरकार ने बाद में सर्वश्री ओ. एन. वोहरा और एस. एन. कुमार की पदावधि नहीं बढ़ाई, जबकि एस. बी. वाड तारीख 7 जून, 1981 से एक वर्ष की अवधि के लिए अपर न्यायाधीश के रूप में बने रहे । सर्वश्री ओ. एन. वोहरा और एस. एन. कुमार आगे की अवधि के लिए पद पर जारी नहीं रहे ।

13. याची ने उस बात का जोरदार रूप से अवंलब लिया है जो संविधान पीठ ने पैरा 44 में कही है, जहां उपरोक्त संदर्भ में संविधान पीठ ने यह मत व्यक्त किया था कि जब बकाया लंबित मामले ऐसे हैं कि उन्हें दो वर्ष से कम अवधि के भीतर संभवतः निपटाया नहीं जा सकता है, तो अपर न्यायधीशों को अवश्य ही दो वर्ष की कालावधि के लिए नियुक्त किया जाना चाहिए, इससे कम नहीं । संविधान पीठ द्वारा पैरा 44 में की गई मताभिव्यक्तियां निम्नलिखित प्रभाव की हैं :–

> "44. एक अंतिम दलील अभी यह शेष रहती है कि जब कोई अपर न्यायाधीश नियुक्त किया जाता है तो वह कौन-सी कालावधि होनी चाहिए, जिसके लिए उसकी नियुक्ति की जानी चाहिए । अनुच्छेद 224 का खंड (1) इस बात का उपबंध करता है कि किसी अपर न्यायाधीश की नियुक्ति दो वर्षों से अनधिक कालावधि के लिए की जानी चाहिए । अनुच्छेद 224 के खंड (1) द्वारा विहित यह बाह्य सीमा है और इसलिए विद्वान् अटर्नी जनरल द्वारा दी गई दलील यह थी कि किसी अपर न्यायाधीश की नियुक्ति, किसी भी कालावधि के लिए चाहे वह कितनी भी संक्षिप्त हो, की जा सकती है जहां तक कि यह दो वर्षों से अधिक न हो । ओ. एन. वोहरा, एस. एन. कुमार और एस. बी. वाड की तीन मास के लिए नियुक्तियां इस प्रकार से विद्वान् अटर्नी जनरल द्वारा अनुच्छेद 224 के खंड (1) के विस्तार और प्रविषय के भीतर होने के कारण समर्थित की गई हैं । हम इस दलील को स्वीकार नहीं कर सकते हैं । निस्संदेह, यह बात सत्य है कि अनुच्छेद का खंड (1) उस अवधि के लिए बाह्य सीमा नियत करता है जिसके लिए किसी अपर न्यायाधीश को नियुक्त किया जा सकता

है । किंतु वह इसलिए किया गया है क्योंकि ऐसे मामले हो सकते हैं जहां कि कारबार और अवशिष्ट लंबित मामलों में अस्थायी वृद्धि इतनी कम हो कि उन्हें दो वर्षों से कम कालावधि के लिए अपर न्यायाधीशों को नियुक्त करके उनका निपटान करना संभव हो । यदि कारबार या अवशिष्ट लंबित मामलों में अस्थायी वृद्धि थोड़े समय के भीतर निपटायी जा सकती है तो पूरे दो वर्षों की कालावधि के लिए अपर न्यायाधीशों की नियुक्ति क्यों की जानी चाहिए । यही कारण है कि संसद् ने इस बात का उपबंध किया था कि अपर न्यायाधीश को ऐसी कालावधि के लिए नियुक्त किया जाना चाहिए जो दो वर्षों से अनधिक हो । किंतु जब अवशिष्ट लंबित मामले इतने अधिक हों कि उन्हें 10 वर्षों की कालावधि के भीतर निपटाए जाने की संभावना न हो – और जब हम 10 वर्ष कहते हैं तो हम एक बहुत परिमित अनुमान लगाते हैं – तो उस समय दो वर्षों से कम कालावधि के लिए अपर न्यायाधीश नियुक्त करने के लिए क्या औचित्य है । स्पष्ट रूप से अनुच्छेद 224 के खंड (1) के अधीन प्रदत्त शक्ति के प्रविषय के यह बात बाहर होगी जब कि अवशिष्ट लंबित मामले इतने हैं कि वे संभव रूप से दो वर्षों की कम कालावधि के भीतर निपटाए नहीं जा सकते तो अपर न्यायाधीशों की दो वर्षों की कालावधि के लिए न कि उससे कम नियुक्ति की जानी चाहिए..... ।"

14. इस प्रकार संविधान पीठ द्वारा उपरोक्त मताभिव्यक्तियां उस पृष्ठभूमि में की गईं थी जब यद्यपि तीन अपर न्यायाधीश आरंभ में दो वर्ष की अवधि के लिए नियुक्त किए गए थे किंतु उन्हें आगे केवल तीन माह की अवधि के लिए नियुक्त किया गया था और उसके पश्चात् केवल एक न्यायाधीश एक वर्ष की अवधि के लिए पद पर बना रहा । संविधान पीठ ने अनुच्छेद 224 के प्रयोजनों की परीक्षा करने के पश्चात् यह मत व्यक्त किया कि जब अवशिष्ट लंबित मामलों की संख्या इतनी अधिक हो कि उन्हें संभवतः निपटाया न जा सकता हो तब अपर न्यायाधीशों की नियुक्ति का प्रयोजन और उद्देश्य यह है कि नियुक्ति दो वर्ष के लिए की जानी चाहिए न कि उससे कम । किंतु संविधान पीठ की उपरोक्त मताभिव्यक्ति को उस संदर्भ के प्रतिनिर्देश करते हुए पढ़ा जाना चाहिए, जिस संदर्भ में यह मताभिव्यक्ति की गई थी । संविधान पीठ के समक्ष इस प्रश्न पर कि अपर न्यायाधीश के रूप में नियुक्त किए जाने वाले व्यक्ति की शेष पदावधि

जब दो वर्ष से कम हो तो क्या ऐसी नियुक्ति अनुच्छेद 224 के अनुरूप है या नहीं, न तो विचार किया गया था और न ही कोई राय अभिव्यक्त की गई थी, हालांकि पैरा 32 में एक मताभिव्यक्ति की गई थी जिससे इस मत का समर्थन होता है कि ऐसे मामले में जहां अपर न्यायाधीश दो वर्ष की अवधि के लिए नियुक्त किया गया है, तो वह न्यायाधीश के पद से हट जाएगा यदि वह अपनी दो वर्ष की कालावधि के पर्यवसान से पूर्व 62 वर्ष की आयु प्राप्त कर लेता है । इससे स्पष्ट रूप से इस बात का समर्थन होता है कि ऐसे अपर न्यायाधीशों की नियुक्ति की पदावधि, जिनकी सेवानिवृत्ति होने में दो वर्ष से कम हैं, अनुच्छेद 224 के प्रतिकूल नहीं है । संविधान पीठ द्वारा पैरा 32 में निम्नलिखित मताभिव्यक्तियां की गईं हैं :–

> "32. ...... अनुच्छेद 224 के खंड (3) में अन्य बातों के साथ यह उपबंध किया गया है कि अपर न्यायाधीश के रूप में नियुक्त कोई व्यक्ति 62 वर्ष की आयु प्राप्त करने के पश्चात् उस पद को धारण नहीं करेगा । इसलिए, यदि किसी अपर न्यायाधीश को दो वर्ष की कालावधि के लिए नियुक्त किया गया है, तथापि, वह दो वर्ष की अपनी अवधि के अवसान से पूर्व न्यायाधीश के पक्ष से हट जाएगा यदि वह इस बीच 62 वर्ष की आयु प्राप्त कर लेता है ।"

15. **एस. पी. गुप्ता** (उपर्युक्त) वाले मामले में संविधान पीठ की मताभिव्यक्तियों से, जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है, स्पष्ट तौर पर याची की इस दलील का समर्थन नहीं होता है कि अपर न्यायाधीशों की दो वर्ष से कम अवधि के लिए नियुक्ति तब अनुच्छेद 224 के प्रतिकूल है जब वे दो वर्ष से पूर्व अधिवर्षिता की आयु प्राप्त कर रहे हैं । इस प्रकार, हम याची की प्रथम दलील में कोई गुणागुण नहीं पाते हैं ।

16. अब हम याची की द्वितीय दलील पर आते हैं । याची ने यह दलील दी है कि यद्यपि उस तारीख को जब उच्च न्यायालय द्वारा प्रत्यर्थी सं. 2 और 3 के नामों की अपर न्यायाधीशों के रूप में नियुक्ति के लिए सिफारिशें की गईं थीं, वे राज्य की न्यायिक सेवा के सदस्य थे किंतु जिस दिन उन्हें अनुच्छेद 224 के अधीन नियुक्ति जारी की गई थी, वे पहले ही न्यायिक सेवा से सेवानिवृत्त हो गए थे और इसलिए अपर न्यायाधीशों के रूप में नियुक्ति के लिए पात्र नहीं थे ।

17. याची ने **श्री कुमार पदम प्रसाद** (उपर्युक्त) वाले मामले में इस

न्यायालय के निर्णय का इस दलील के समर्थन में अवलंब लिया है कि जो व्यक्ति न्यायिक सेवा का सदस्य नहीं है, वह अपर न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति के लिए पात्र नहीं है । **श्री कुमार पदम प्रसाद** (उपर्युक्त) वाला ऐसा मामला था जहां याची ने श्री के. एन. श्रीवास्तव की गुवाहाटी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति को इस आधार पर चुनौती दी थी कि वह भारत के संविधान के अनुच्छेद 217 में यथा अंतर्विष्ट नियुक्ति के लिए पात्रता पूरी नहीं करते हैं । श्री के. एन. श्रीवास्तव के नाम की सिफारिश इस आधार पर की गई थी कि उन्होंने कम से कम दस वर्ष न्यायिक पद धारण किया है । रिट याचिका में दी गई चुनौती यह थी कि श्री के. एन. श्रीवास्तव अनुच्छेद 217(2)(क) के अधीन यथा परिभाषित न्यायिक पद अभिव्यक्ति के अंतर्गत नहीं आते हैं । इस न्यायालय ने **चंद्र मोहन** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य**[1] वाले मामले में इस न्यायालय के निर्णय को निर्दिष्ट करने के पश्चात् यह अभिनिर्धारित किया कि अनुच्छेद 217(2)(क) में यथा प्रयुक्त न्यायिक पद अवश्य राज्य की न्यायिक सेवा का अंग होना चाहिए । पैरा 25 में निम्नलिखित अभिनिर्धारित किया गया है :–

> "25. इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि संविधान के अनुच्छेद 217(2)(क) के अधीन 'न्यायिक पद' अभिव्यक्ति का निर्वचन संविधान के भाग 6 के अध्याय 5 और 6 की स्कीम के अनुरूप किया जाना चाहिए । इसलिए हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि संविधान के अनुच्छेद 217(2)(क) में 'न्यायिक पद' अभिव्यक्ति से ऐसा 'न्यायिक पद' अभिप्रेत है जो भारत के संविधान के अनुच्छेद 236(ख) के अधीन यथा परिभाषित न्यायिक सेवा का है । इसलिए संविधान के अनुच्छेद 217(2)(क) के अधीन किसी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति के लिए अर्हता प्राप्त करने के लिए कोई व्यक्ति अवश्य ऐसे न्यायिक पद पर होना चाहिए जो राज्य की न्यायिक सेवा का अंग हो ।"

18. यह अभिनिर्धारित करने के पश्चात् कि न्यायिक पद अवश्य राज्य की न्यायिक सेवा का अंग होना चाहिए, श्री के. एन. श्रीवास्तव द्वारा धारित पदों का विवरण दिया गया और यह न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि श्री के. एन. श्रीवास्तव द्वारा धारित पद एक न्यायिक पद नहीं था और वह

---

[1] ए. आई. आर. 1966 एस. सी. 1987.

उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में अर्हित नहीं थे । इस न्यायालय द्वारा पैरा 36 में निम्नलिखित अभिनिर्धारित किया गया है :–

"36. हम पहले ही यह अभिनिर्धारित कर चुके हैं कि संविधान के अनुच्छेद 217(2)(क) में 'न्यायिक पद' से संविधान के अनुच्छेद 236(ख) में यथा परिभाषित न्यायिक सेवा के एक अंग के रूप में कोई पद अभिप्रेत है । श्रीवास्तव द्वारा करीब छः मास की अवधि के लिए धारित उपायुक्त के सहायक का पद न तो न्यायिक पद था और न ही वह संविधान के अनुच्छेद 217(ख) में यथा परिभाषित न्यायिक सेवा का अंग था । इसलिए, श्री अनिल दीवान और श्री राम जेठमलानी द्वारा दी गई द्वितीय दलील को स्वीकार करते हैं और यह अभिनिर्धारित करते हैं कि श्रीवास्तव भारत के संविधान के अनुच्छेद 217(2)(क) के अधीन किसी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति के लिए अर्हित नहीं थे ।"

19. याची ने **श्री कुमार पदम प्रसाद** (उपर्युक्त) वाले मामले के निर्णय के पैरा 25, 35 और 41 का अवलंब लिया है, जो निम्नलिखित प्रभाव के हैं :–

"25. इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि संविधान के अनुच्छेद 217(2)(क) के अधीन 'न्यायिक पद' अभिव्यक्ति का निर्वचन संविधान के भाग 6 के अध्याय 5 और 6 की स्कीम के अनुरूप किया जाना चाहिए । इसलिए हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि संविधान के अनुच्छेद 217(2)(क) में 'न्यायिक पद' अभिव्यक्ति से ऐसा 'न्यायिक पद' अभिप्रेत है जो भारत के संविधान के अनुच्छेद 236(ख) के अधीन यथा परिभाषित न्यायिक सेवा का है । इसलिए संविधान के अनुच्छेद 217(2)(क) के अधीन किसी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति के लिए अर्हता प्राप्त करने के लिए कोई व्यक्ति अवश्य ऐसे न्यायिक पद पर होना चाहिए जो राज्य की न्यायिक सेवा का अंग हो ।

* * * * *

35. "पद" शब्द के अनेक अर्थ हैं और हमें यह देखना है कि उस संदर्भ में जिसमें यह संविधान में प्रयोग किया गया है, इस शब्द

को दिया जाने वाला उचित अर्थ कौन सा है । हमारी यह राय है कि संविधान निर्माताओं का 'न्यायिक पद' से वह अभिप्राय नहीं था और हो भी नहीं सकता था जो स्वतंत्र रूप से अस्तित्व में नहीं था और जिसके कर्तव्य या कर्तव्यों का कोई भाग किसी व्यक्ति को प्रदान किया जा सकता था चाहे वह प्रशिक्षित हो या न हो अथवा न्याय प्रशासन में हों या न हो । हमारे संविधान के अनुच्छेद 217(2)(क) में 'न्यायिक पद' शब्द से अधिष्ठायी स्थिति के साथ एक अस्तित्वशील पद अभिप्रेत है जिसका अस्तित्व उस व्यक्ति से, जो उस पद पर था, स्वतंत्र है ।

* * * * *

41. हम कुमार पदम प्रसाद की अंतरण रिट याचिका को मंजूर करते हैं और यह घोषणा करते हैं कि के. एन. श्रीवास्तव, भारत के राष्ट्रपति द्वारा नियुक्ति पत्र जारी किए जाने की तारीख को उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में नियुक्त किए जाने हेतु अर्हित नहीं थे । परिणामस्वरूप हम गुवाहाटी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में उसकी नियुक्ति को अभिखंडित करते हैं । हम भारत संघ और हमारे समक्ष उपस्थित अन्य प्रत्यर्थियों को यह निदेश देते हैं कि वे के. एन. श्रीवास्तव को भारत के संविधान के अनुच्छेद 219 के अधीन शपथ न दिलाएं या प्रतिज्ञान न कराएं । हम आगे के. एन. श्रीवास्तव को संविधान के अनुच्छेद 219 के निबंधनों में शपथ लेने या प्रतिज्ञान करने और उच्च न्यायालय के न्यायाधीश का पदभार ग्रहण करने से अवरुद्ध करते हैं । हम रजिस्ट्री कार्यालय को यह निदेश देते हैं कि वह भारत के राष्ट्रपति को हमारे इस निर्णय के अनुसार विचार करने और आवश्यक कार्यवाही करने हेतु इस निर्णय की एक प्रति भेज दें । खर्चों के बारे में कोई आदेश नहीं किया जाएगा ।"

20. इस न्यायालय द्वारा पैरा 25 में की गई इस मताभिव्यक्ति के बारे में कोई विवाद नहीं किया जा सकता है कि अनुच्छेद 217(2)(क) के अधीन उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति के लिए व्यक्ति अवश्य ऐसा पद धारण करता हो, जो अवश्य राज्य की न्यायिक सेवा का अंग होना चाहिए । याची द्वारा पैरा 35 में की गई इस अभिव्यक्ति पर अधिक जोर दिया जा रहा है कि अनुच्छेद 217(2)(क) में 'न्यायिक पद' से अधिष्ठायी

स्थिति के साथ अस्तित्वशील पद अभिप्रेत है जिसका अस्तित्व उस व्यक्ति से स्वतंत्र है जो उस पद पर है । इस न्यायालय द्वारा उपरोक्त मताभिव्यक्ति श्री के. एन. श्रीवास्तव द्वारा राज्य में धारित विभिन्न पदों की प्रकृति के प्रतिनिर्देश करते हुए विशेष रूप से इस दलील पर विचार करते हुए की गई थी कि श्री श्रीवास्तव द्वारा 1937 के नियमों के नियम 9 द्वारा उपायुक्त का पद धारण करने के कारण क्या वह अनुच्छेद 217(2)(क) सपठित स्पष्टीकरण के अधीन अपेक्षा को पूरी करते हैं या नहीं । पैरा 31 में जोरदार रूप से दिए गए तर्क को पैरा 32 में नामंजूर कर दिया गया है, जो निम्नलिखित प्रभाव का है :–

"31. श्री वेणुगोपाल ने यह दलील दी की सिविल और दांडिक दोनों ओर का न्याय-प्रशासन 1937 के नियमों के अधीन अनन्यतः उपायुक्त और उसके सहायकों द्वारा किया जा रहा था । कोई अन्य न्यायालय काम नहीं कर रहे थे । दांडिक और सिविल न्याय करने के अतिरिक्त लुशाई पहाड़ियों के नाम से ज्ञात जिले का संपूर्ण प्रशासन असम के राज्यपाल, लुशाई पहाड़ी के उपायुक्त और उसके सहायकों में निहित था । उपायुक्त 1937 के नियमों के अधीन मृत्यु दंड, उक्त अपराध के लिए उपबंधित अधिकतम निर्वासन या कारावास या किसी रकम के जुर्माने का दंडादेश पारित करने के लिए सक्षम था । उपायुक्त के सहायकों को ऐसी शक्तियों का प्रयोग करना था जो राज्यपाल द्वारा प्रदत्त की गईं थी और जो दंड प्रक्रिया संहिता में यथा परिभाषित किसी प्रथम श्रेणी मजिस्ट्रेट की शक्तियों से अनधिक थी । उसके किसी सहायक द्वारा पारित किसी आदेश के विरुद्ध कोई अपील उपायुक्त को होती थी । इसी प्रकार, नियम 15 के अधीन सिविल न्याय प्रशासन उपायुक्त और उसके सहायकों को सौंपा गया था । श्रीवास्तव ने 23 जून, 1979 से 19 दिसम्बर, 1979 तक उपायुक्त के सहायक की शक्तियों का प्रयोग किया था । श्री वेणुगोपाल के मतानुसार सहायक का पद जिस पर श्रीवास्तव को छह माह की अवधि के लिए नियुक्त किया गया था, एक न्यायिक पद था । उनके मतानुसार, उक्त अवधि जिनके लिए उसने न्यायिक पद धारणा किया था और उक्त पद की गुणवत्ता सुसंगत तथ्य नहीं हैं । इसलिए उन्होंने जोर देकर यह दलील दी कि चूंकि श्रीवास्तव ने 1937 के नियमों के अधीन उपायुक्त के सहायक का न्यायिक पद

धारण किया था, इसलिए वह संविधान के अनुच्छेद 217(2)(क) और साथ में पठित उसके स्पष्टीकरण के खंड (क) के अधीन अर्हताओं को पूरा करता है । उनके मतानुसार, उपायुक्त के सहायक का पद त्यागने के पश्चात् श्रीवास्तव द्वारा धारित सभी पदों के लिए विधि का विशेष ज्ञान अपेक्षित है और इसलिए उक्त संपूर्ण अवधि 10 वर्ष की गणना के लिए सम्मिलित किए जाने के दायित्वाधीन है जिसके दौरान उसने न्यायिक पद धारण किया था । उनके मतानुसार, श्रीवास्तव किसी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति के लिए अर्हित हैं ।

32. हमने श्री वेणुगोपाल द्वारा दी गई दलीलों पर गंभीरता पूर्वक विचार किया है । हम उनसे सहमत होने के लिए तैयार नहीं हैं ।"

21. इस प्रकार, **श्री कुमार पदम प्रसाद** (उपर्युक्त) वाले मामले के पैरा 35 में की गई मताभिव्यक्ति, जो ऊपर उद्धृत की गई है, उपरोक्त संदर्भ में की गई थी । इस न्यायालय का सरोकार उस विवाद्यक से नहीं था जो वर्तमान रिट याचिका में उठाया गया है कि क्या उच्च न्यायालय के अपर न्यायाधीश के रूप में नियुक्त व्यक्ति अपनी नियुक्ति के समय न्यायिक पद धारण कर रहा हो या नहीं, भले ही उसने उस समय राज्य का न्यायिक पद धारण किया हो जब उच्च न्यायालय द्वारा अपर न्यायाधीश के लिए उसके नाम की सिफारिश की गई थी । इस प्रकार, इस न्यायालय द्वारा पैरा 25, 35 और 41 में की गई मताभिव्यक्तियों से उन दलीलों का समर्थन नहीं होता है जो दलीलें याची द्वारा दिए जाने की ईप्सा की गई है ।

22. विद्वान् अपर महा-सालिसिटर, श्री मनिंदर सिंह ने यह दलील दी कि अनुच्छेद 217(2)(क) में न्यायिक पद 'धारण कर चुका है' शब्दों का प्रयोग किया गया है जिससे यह अभिप्रेत है कि ऐसा व्यक्ति जो कम से कम दस वर्ष की अवधि के लिए न्यायिक पद धारण कर चुका है, अपर न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति के लिए पात्र है ।

23. शब्द और वाक्यांश स्थायी संस्करण, वाल्यूम 19 में 'धारण कर चुका है' शब्द को निम्नलिखित प्रकार से परिभाषित किया गया है :–

"धारण कर चुका है" शब्द का कोई प्रथामिक या तकनीकी अर्थ नहीं है और इसका अर्थ व्यापक तौर पर उस संबंध द्वारा अवधारित

किया जाता है जिस संबंध में यह प्रयुक्त होता है । राज्य **बनाम** थॉमसन, 449 पी-2डी, 656, 659, 79 एन. एम. 748.

भूतकालिक शब्द "धारण कर चुका है" का अर्थबोधन समय से नहीं है । हॉलमन ट्रांसफर कंपनी **बनाम** सिटी ऑफ पोर्टलैंड, 350 पी-2डी, 929, 930, 196 ओआर. 551."

24. अनुच्छेद 217(2)(क) में यथा प्रयुक्त शब्द "धारण कर चुका है" से यह उपदर्शित होता है कि उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति के लिए जो विहित अर्हता है वह यह है कि ऐसा व्यक्ति भारत के राज्यक्षेत्र में कम से कम दस वर्ष कोई न्यायिक पद धारण कर चुका हो । उपरोक्त खंड में 'धारण कर चुका है' शब्द के प्रयोग से यह उपदर्शित नहीं होता है कि इस अर्हता का यह भी अर्थ है कि दस वर्ष कोई न्यायिक पद धारण करने के अतिरिक्त पदधारी अनुच्छेद 224 के अधीन सूचना जारी होने के समय भी न्यायिक पद धारण कर रहा हो ।

25. उपरोक्त निष्कर्ष का समर्थन अनुच्छेद 217(2) के स्पष्टीकरण (क) और (कक) से भी होता है । स्पष्टीकरण (क) में यह उपबंधित है कि भारत के राज्यक्षेत्र में न्यायिक पद धारण करने की अवधि की संगणना करने में वह अवधि भी सम्मिलित की जाएगी जिसके दौरान कोई व्यक्ति न्यायिक पद धारण करने के पश्चात् किसी उच्च न्यायालय का अधिवक्ता रहा है या उसने किसी अधिकरण के सदस्य का पद धारण किया है अथवा संघ या राज्य के अधीन कोई ऐसा पद धारण किया है जिसके लिए विधि का विशेष ज्ञान अपेक्षित है ।

26. अनुच्छेद 217(2)(क) में यथा उपबंधित पात्रता के पठन मात्र से यह स्पष्ट है कि प्रत्यर्थी सं. 2 और 3 राजस्थान उच्च न्यायालय के अपर न्यायाधीशों के रूप में नियुक्ति के लिए अपात्र नहीं हैं । **श्री कुमार पदम प्रसाद** (उपर्युक्त) वाले मामले में इस न्यायालय के निर्णय से याची द्वारा हमारे समक्ष दी गई दलील का समर्थन नहीं होता है । इस प्रकार, हम याची की द्वितीय दलील में बल नहीं पाते हैं ।

27. इस मामले से विलग होने से पूर्व हमें उस प्रयोजन और उद्देश्य को स्मरण करने की आवश्यकता है जिसके लिए 1956 के सातवें संविधान संशोधन द्वारा संविधान का अनुच्छेद 224 प्रतिस्थापित किया गया

था । अपर न्यायाधीशों की नियुक्ति विभिन्न उच्च न्यायालयों में मामलों के बढ़ते बोझ का सामना करने के लिए नियुक्ति के रूप में परिकल्पित है । उच्च न्यायालय के काम-काज में अस्थायी वृद्धि या उसमें काम का बकाया ऐसी नियुक्ति करने का कारण था या अनुच्छेद 224 के अधीन शक्ति का अवलंब लेने के कारण था, यद्यपि, जैसा कि **एस. पी. गुप्त** (उपर्युक्त) वाले में संविधान पीठ द्वारा उल्लेख किया गया है, समय बीतने के साथ-साथ अनुच्छेद 224 के प्रयोग में सारभूत रूप से परिवर्तन आया है । किंतु इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है कि उच्च न्यायालय के काम-काज में वृद्धि का सामना करने के लिए और मामलों के बकाया के कारण सभी संबंधित द्वारा उस उद्देश्य और प्रयोजन को पूर्ण करने के लिए आकस्मिक उपाय करने की आवश्यकता है जिसके लिए सांविधानिक उपबंध लाया गया था, तथापि, उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति में अत्यधिक विलंब होने से न केवल वह प्रयोजन और उद्देश्य विफल हो जाता है जिसके लिए अनुच्छेद 224(1) को संविधान में लाया गया था, अपितु उन मुकदमा लड़ने वाले व्यक्तियों की आशा और विश्वास को भी धक्का पहुंचता है जो न्याय की ईप्सा करने और अपने मामलों के शीघ्र निपटारे के लिए उच्च न्यायालयों में आते हैं ।

28. **सुप्रीम कोर्ट एडवोकेट्स-आन-रिकार्ड एसोसिएशन और अन्य** बनाम **भारत संघ**[1] वाले मामले में इस न्यायालय ने स्पष्ट शब्दों में यह मत व्यक्त किया है कि नियुक्ति की प्रक्रिया प्रत्याशित रिक्ति की तारीख से कम से कम एक माह पूर्व आरंभ की जानी चाहिए । ऐसा एक आदर्श स्थिति की प्राप्ति के लिए अर्थात् यह सुनिश्चित करने के लिए किया गया था कि पद रिक्त होने के पश्चात् तुरंत भरा जाए ताकि समय बर्बाद न हो । दुर्भाग्यवश, यह अभी भी दूर की बात है । पहली बात तो यह है कि उच्च न्यायालय द्वारा समय पर नाम ही अग्रेषित नहीं किए जाते हैं । प्रत्याशित रिक्ति होने के एक माह पूर्व नाम भेजने की बात तो क्या कहें, रिक्ति हो जाने के पश्चात् काफी समय तक भी नाम अग्रेषित नहीं किए जाते हैं, इससे पूर्व कि वे उच्चतम न्यायालय के कॉलेजियम को अनुमोदन के लिए कार्यपालिका की सूचना के साथ भेजे जाएं, वे कार्यपालिका के स्तर पर असम्यक् रूप से लंबे समय तक लंबित पड़े रहते हैं । यहां तक

[1] (1993) 4 एस. सी. सी. 441.

कि कॉलेजियम द्वारा नामों की सहमति देने के पश्चात् भी ये नाम कार्यपालिका के पास लंबित पड़े रहते हैं । इन सबके परिणामस्वरूप अत्यधिक विलंब होता है । कभी-कभी तो नाम अग्रेषित करने की तारीख से नियुक्ति तक की प्रक्रिया पूर्ण करने में एक वर्ष से अधिक का समय लग जाता है । ऐसे दृष्टांत भी हैं, जहां व्यतीत हुआ समय एक वर्ष से भी ज्यादा है । अधीनस्थ न्यायपालिका के न्यायिक अधिकारियों के मामले में, जिनकी उच्च न्यायालय में नियुक्ति के लिए सिफारिश की जाती हैं, बहुत अधिक समय लगने की इस प्रक्रिया से उनकी पदावधि पर प्रतिकूल रूप से प्रभाव पड़ता है । यह सर्वविदित है कि अधिकांश न्यायिक अधिकारियों को उन्नयन का अवसर केवल तब मिलता है जब उनकी कुछ वर्षों की सेवा शेष रह जाती है । इस प्रकार, जब असम्यक् रूप से लंबा समय लिया जाता है, तब यह कम पदावधि और भी घट जाती है । इस वजह से भी वर्तमान जैसी स्थिति पैदा होती है । समान रूप से, बार के ऐसे सदस्यों को भी एक अलग प्रकार की कठिनाई झेलनी पड़ती है जिनके नामों की उच्च न्यायालय में उन्नयन के लिए सिफारिश की जाती है । यह अन्यायपूर्ण है कि ऐसे व्यक्तियों का भाग्य अनिश्चित अवधि के लिए अधर में लटका रहता है और इससे अनावश्यक अटकलबाजी की बातें उत्पन्न होती हैं । इससे अप्रिय हालत पैदा होते हैं जिनसे बचा जा सकता है । इसलिए, यह न्यायपालिका सहित सभी पणधारियों के हित में है कि प्रक्रिया के प्रत्येक प्रक्रम के लिए निश्चित समय-रेखा निर्धारित की जाए ताकि नियुक्ति की प्रक्रिया एक समय-सीमा के भीतर पूर्ण हो सके । हमें और कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है । यह कहना होगा कि मुकदमा लड़ने वाले व्यक्तियों की आशा और आकांक्षा को जागृत रखने के लिए और त्वरित न्याय प्रदान करने की वचनबद्धता को पूरा करने के लिए उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति की प्रक्रिया को उन सभी के द्वारा और अधिक तत्पर करने की आवश्यकता है जिन्हें भारत के संविधान द्वारा सौंपी गई सांविधानिक बाध्यता का निर्वहन करना है । इन मताभिव्यक्तियों के साथ हम इस रिट याचिका को खारिज करते हैं ।

रिट याचिका खारिज की गई ।

जस.

[2018] 3 उम. नि. प. 256

पंकज जैन

बनाम

भारत संघ और एक अन्य

23 फरवरी, 2018

न्यायमूर्ति ए. के. सीकरी और न्यायमूर्ति अशोक भूषण

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2) – धारा 88 – हाजिरी के लिए बंधपत्र स्वीकार करने की न्यायालय की शक्ति – न्यायालय को प्रदत्त बंधपत्र स्वीकार करके अभियुक्त को रिहा करने की शक्ति अभियुक्त की उस न्यायालय या ऐसे किसी अन्य न्यायालय में, जहां मामला अंतरित किया जा सकता है, हाजिरी सुकर बनाने के लिए है, इसलिए, धारा 88 में प्रयुक्त "मे" (सकता है) शब्द न्यायालय को इस संबंध में विवेकाधिकार प्रदान करता है कि वह न्यायालय में हाजिर होने वाले अभियुक्त व्यक्ति से बंधपत्र स्वीकार करे अथवा नहीं ।

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2) – धारा 88 – अभियुक्त को बंधपत्र पर रिहा करने की शक्ति – जब किसी अभियुक्त के विरुद्ध गैर-जमानतीय वारंट जारी कर दिया गया हो और उसके विरुद्ध धारा 82 तथा धारा 83 के अधीन कार्यवाहियां संस्थित कर दी गईं हों तो वह न्यायालय में हाजिर होने अथवा न होने के संबंध में स्वतंत्र कर्ता नहीं रह जाता है, इसलिए वह धारा 88 के अधीन बंधपत्र स्वीकार करके रिहा किए जाने का हकदार नहीं होगा ।

प्रस्तुत मामले में, नोएडा, ग्रेटर नोएडा और यमुना एक्सप्रेस वे प्राधिकरणों के तत्कालीन मुख्य इंजीनियर के विरुद्ध एक प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज की गई थी और अनेक अभियुक्त व्यक्तियों के विरुद्ध, जिसमें अपीलार्थी भी है, भारतीय दंड संहिता की धारा 120ख, 409, 420, 466, 467, 469 और 471 और भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1988 की धारा 13(2) और 13(1)(घ) के अधीन केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के विशेष न्यायाधीश के न्यायालय में एक आरोपपत्र प्रस्तुत किया गया था । विचारण न्यायालय ने संज्ञान लिया और अभियुक्तों को हाजिर होने के लिए समन किया । अपीलार्थी ने उच्च न्यायालय में दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन एक आवेदन फाइल किया । उच्च न्यायालय द्वारा उस आवेदन का इस निदेश के साथ अंतिम रूप से निपटारा कर दिया कि यदि आवेदक

दो सप्ताह के भीतर निचले न्यायालय के समक्ष उपस्थित होता है और अभ्यर्पण करता है तथा जमानत के लिए आवेदन करता है तो उसके जमानत आवेदन पर विचार किया जाएगा और उसे विनिश्चित किया जाएगा । अपीलार्थी ने उच्च न्यायालय के इस निर्णय के विरुद्ध विशेष इजाजत याचिका फाइल की, जो कि इस न्यायालय द्वारा नियमित जमानत के लिए आवेदन करने की स्वतंत्रता प्रदान करते हुए इस कारण खारिज कर दी गई क्योंकि वह वापस ले ली गई थी । इसके पश्चात् एक अनुपूरक आरोपपत्र फाइल किया गया था, जिसके आधार पर केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के विशेष न्यायाधीश द्वारा अपीलार्थी और अन्य अभियुक्त व्यक्तियों के विरुद्ध भारतीय दंड संहिता की धारा 120ख, 420, 468, 471 तथा भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1988 की धारा 13(2) और 13(1)(घ) के अधीन संज्ञान लेते हुए संज्ञान आदेश पारित किया गया था । अपीलार्थी द्वारा पुनः उच्च न्यायालय में दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन एक आवेदन फाइल किया गया, जिसमें अनुपूरक आरोपपत्र के अनुसरण में दांडिक कार्यवाही अभिखंडित करने की प्रार्थना की गई थी । उच्च न्यायालय ने यह निदेश देते हुए दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन आवेदन का निपटारा कर दिया कि यदि आवेदक दो सप्ताह के भीतर केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के विशेष न्यायाधीश के समक्ष हाजिर होता है और अभ्यर्पण करता है तथा जमानत के लिए आवेदन करता है तो यह प्रत्याशा की जाती है कि उसका निपटारा विधि के अनुसार शीघ्रतापूर्वक कर दिया जाएगा । इसके अलावा यह निदेश दिया गया कि इसी बीच दो सप्ताह की अवधि के लिए गैर-जमानतीय वारंट के प्रभाव को आस्थगित रखा जाएगा । अपीलार्थी ने उच्च न्यायालय के आदेश से व्यथित महसूस करते हुए पुनः विशेष इजाजत याचिका फाइल की, जिसका निपटारा इस न्यायालय द्वारा याची (अपीलार्थी) को केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के विशेष न्यायाधीश के समक्ष नियमित जमानत के लिए आवेदन करने के लिए दो सप्ताह का अतिरिक्त समय प्रदान करते हुए और विचारण न्यायालय को यह निदेश देते हुए कर दिया गया कि वह जमानत संबंधी उक्त आवेदन पर तुरंत विचार करे । इस मामले पर केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के विशेष न्यायाधीश द्वारा कार्यवाही आरंभ की गई । न्यायालय ने यह अवेक्षा की कि अपीलार्थी और एक अन्य अभियुक्त व्यक्ति उपस्थित नहीं था । न्यायालय ने अपीलार्थी के विरुद्ध गैर-जमानतीय वारंट और दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 82 और 83 की आदेशिका जारी करने का आदेश जारी किया । उसी दिन, इस न्यायालय द्वारा पारित आदेश की अवेक्षा करते हुए, विशेष न्यायाधीश ने अपीलार्थी के विरुद्ध किए गए आदेशों पर इस न्यायालय के आदेश के अनुसार दो सप्ताह

की अवधि के लिए रोक लगा दी । अपीलार्थी ने इसके पश्चात् इस न्यायालय में भारत के संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन यह दलील देते हुए रिट याचिका फाइल की कि याची (अपीलार्थी) को, जिसे केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो द्वारा अन्वेषण के दौरान गिरफ्तार नहीं किया गया था, केवल अभ्यर्पण करना है और दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 88 के अधीन बंधपत्र देना है । इस न्यायालय से इस आशय के निदेश की ईप्सा की गई थी । इस न्यायालय ने अपने पूर्ववर्ती आदेश की अवेक्षा करते हुए रिट याचिका का निपटारा कर दिया । इस आदेश के पश्चात् अपीलार्थी केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के विशेष न्यायाधीश के न्यायालय के समक्ष हाजिर हुआ और तारीख 7 दिसम्बर, 2017 को एक आवेदन प्रस्तुत किया कि उसे बंधपत्र प्रस्तुत करने के लिए अनुज्ञात किया जाए । केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के विशेष न्यायाधीश द्वारा उपर्युक्त आवेदन नामंजूर कर दिया गया था । इस निर्णय से व्यथित होकर अपीलार्थी ने एक अन्य आवेदन फाइल किया जो कि नामंजूर कर दिया गया । आवेदक ने विशेष इजाजत याचिका फाइल की, जिसका निपटारा यह मत व्यक्त करते हुए कर दिया गया था कि चूंकि आक्षेपित आदेश केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के विशेष न्यायाधीश द्वारा पारित किया गया है इसलिए याची के लिए यह उचित होगा कि वह उच्च न्यायालय में समावेदन करके उस आदेश को चुनौती दे । इसके पश्चात्, याची-अपीलार्थी ने रिट याचिका फाइल की और इसमें भी याची-अपीलार्थी ने धारा 88 की शक्तिमत्ता को चुनौती देने तथा विचारण न्यायालय के आदेश को अभिखंडित करते हुए उत्प्रेषण की रिट की ईप्सा की । यह रिट याचिका उच्च न्यायालय की खंड न्यायपीठ द्वारा खारिज कर दी गई है और इस निर्णय के विरुद्ध यह अपील फाइल की गई है । उच्चतम न्यायालय द्वारा अपील का तद्नुसार निपटारा करते हुए,

अभिनिर्धारित – प्रस्तुत अपील में जिस मुख्य प्रश्न का उत्तर दिए जाने की आवश्यकता है, वह यह है कि क्या इस आधार पर कि अपीलार्थी को अन्वेषण के दौरान गिरफ्तार नहीं किया गया था, न्यायालय के लिए दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 88 के अधीन बंधपत्र स्वीकार करके उसे रिहा करना आबद्धकर था या न्यायालय ने अपीलार्थी द्वारा दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 88 के अधीन बंधपत्र स्वीकार करके उसे रिहा करने के लिए फाइल किए गए आवेदन को नामंजूर करके धारा 88 के अधीन अपनी अधिकारिता का सही प्रयोग किया था । दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 88 एक ऐसा उपबंध है जो कि दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 के अध्याय 6 "हाजिर होने को विवश करने के लिए आदेशिकाएं" में अंतर्विष्ट है ।

अध्याय 6 चार भागों में विभाजित है – क. समन; ख. गिरफ्तारी का वारंट; ग. उद्घोषणा और कुर्की; और घ. आदेशिकाओं संबंधी अन्य नियम । सर्वप्रथम इस बात पर विचार करना आवश्यक है कि धारा 8 में प्रयुक्त "may" शब्द का अर्थ क्या था । यद्यपि "मे" शब्द के साधारण प्रयोग से विवेकाधिकार विवक्षित होता है किन्तु जब "मे" शब्द के साथ किसी प्राधिकारी या न्यायालय पर कर्तव्य संयोजित किया जाता है तब इसे 'शैल' का अर्थ दिया गया है जो कि किसी प्राधिकारी या न्यायालय पर बाध्यकर होता है । "मे" शब्द के प्रयोग में कर्तव्य जुड़ा हुआ है अथवा नहीं, यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर किसी विशिष्ट कानून की कानूनी स्कीम से ही दिए जाने की आवश्यकता है । धारा 88 में प्रयुक्त "मे" शब्द न्यायालय को इस संबंध में विवेकाधिकार प्रदान करता है कि वह न्यायालय में हाजिर होने वाले अभियुक्त व्यक्ति से बंधपत्र स्वीकार करे अथवा नहीं । केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के विशेष न्यायाधीश तथा उच्च न्यायालय, दोनों ने दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 88 के अधीन अपनी शक्ति का प्रयोग न करने के लिए अकाट्य कारण दिए हैं । केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के विशेष न्यायाधीश तथा उच्च न्यायालय द्वारा इस निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए अपनाए गए दृष्टिकोण में कोई त्रुटि नहीं है कि अभियुक्त दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 88 के अधीन बंधपत्र स्वीकार करके रिहा किए जाने का हकदार नहीं था । अतः, न्यायालय उच्च न्यायालय के आक्षेपित निर्णय में कोई त्रुटि नहीं पाता है । (पैरा 13, 14, 15, 17 और 31)

दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 88 ऐसे किसी व्यक्ति को, जो न्यायालय में उपस्थित है, कोई अधिकार प्रदत्त नहीं करती । न्यायालय को दी गई वैवेकिक शक्ति ऐसे व्यक्ति की उस न्यायालय में या ऐसे किसी अन्य न्यायालय में जहां मामला विचारण के लिए अंतरित किया जा सकता है, उपस्थिति सुनिश्चित करने के प्रयोजन और उद्देश्य के लिए है । न्यायालय को धारा 88 के अधीन दिया गया विवेकाधिकार ऐसे किसी व्यक्ति को, जो न्यायालय में उपस्थित है, कोई अधिकार प्रदत्त नहीं करता बल्कि यह न्यायालय को दी गई ऐसी शक्ति है जिससे कि उसकी उपस्थिति सुकर बनाई जा सके, जिससे स्पष्ट रूप से उपदर्शित होता है कि "मे" शब्द का प्रयोग वैवेकिक है और यह न्यायालय पर निर्भर करता है कि वह जब भी स्थिति की मांग हो, अपने विवेकाधिकार का प्रयोग करे । इसके अलावा, यह उल्लेख करना भी सुसंगत है कि धारा 88 में प्रयुक्त "कोई व्यक्ति" शब्दों का व्यापक अर्थान्वयन किया जाना है, जिसके अंतर्गत ऐसे व्यक्ति

शामिल हो सकते हैं जो मामले में अभियुक्त भी नहीं है और वे साक्षी के रूप में हाजिर हुए हैं । (पैरा 23)

प्रस्तुत मामला ऐसा मामला नहीं है जहां अभियुक्त एक मुक्त अभिकर्ता था कि वह हाजिर हो अथवा नहीं । उसके विरुद्ध पहले ही गैर-जमानतीय वारंट जारी किए गए थे तथा दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 82 और 83 के अधीन कार्यवाही भी संस्थित की गई थी । मामले को इस दृष्टि से देखते हुए, वह धारा 88 के फायदे का हकदार नहीं था । (पैरा 29)

इस न्यायालय द्वारा जमानत मंजूर करने या उससे इनकार करने के संबंध में यथा-अधिकथित प्रतिपादना के बारे में कोई विवाद नहीं हो सकता है जो कि सुस्थापित हैं । जैसा कि इस न्यायालय द्वारा अधिकथित किया गया है, जमानत मंजूर करने संबंधी विवेकाधिकार का प्रयोग न्यायसम्मत रूप से और मानवीय रीति में तथा सहानुभूतिपूर्वक किया जाना चाहिए । (पैरा 33)

प्रस्तुत कार्यवाही में दो ऐसे कारण हैं जिसके कारण न्यायालय अपीलार्थी के इस अनुरोध को स्वीकार करने में असमर्थ है कि अपीलार्थी की जमानत के मामले पर विचार किया जाए । प्रथमतः, इस न्यायालय ने पूर्ववर्ती दो अवसरों पर अपीलार्थी को विचारण न्यायालय के समक्ष जमानत के लिए आवेदन करने की स्वतंत्रता प्रदान की थी और अपीलार्थी ने विचारण न्यायालय के समक्ष जमानत के लिए कोई आवेदन फाइल नहीं किया है और उसने दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 88 के अधीन बंधपत्र स्वीकार करके उसे रिहा करने पर जोर दिया है । द्वितीयतः, इस मामले के तथ्यों के आधार पर, सर्वप्रथम विचारण न्यायालय को अपीलार्थी की जमानत मंजूर करने संबंधी प्रार्थना पर विचार करना है । अतः, अपीलार्थी जैसे ही कोई जमानत आवेदन फाइल करता है, विचारण न्यायालय द्वारा उस पर निःशक्तता संबंधी उसके दावे और अन्य सुसंगत आधारों पर विचार करने के पश्चात्, जिन पर अपीलार्थी द्वारा जोर दिया जाता है या उसके समक्ष जोर दिया जा सकता है, तुरंत विचार किया जाएगा । (पैरा 35)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[2018]	(2018) 3 एस. सी. सी. 22 : **दाताराम सिंह** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य और एक अन्य** ;	32

[2016]	(2016) 3 आर. सी. आर. (दांडिक) 883 : **अरुण शर्मा** बनाम **पंजाब राज्य और अन्य** ;	28
[2013]	(2013) 6 एस. सी. सी. 573 : **केरल राज्य और अन्य** बनाम **कंडथ डिस्टीलियरीज़** ;	22
[2006]	(2006) 132 दिल्ली ला टाइम्स 692 : **संजय चतुर्वेदी** बनाम **राज्य** ;	24
[2003]	(2003) 109 दिल्ली ला टाइम्स 494 : **न्यायालय, स्वप्रेरणा से** बनाम **केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो** ;	24
[2000]	(2000) 2 पटना ला जर्नल रिपोर्ट्स 686 : **डा. आनन्द देव सिंह** बनाम **बिहार राज्य और अन्य** ;	26
[1970]	(1970) 3 एस. सी. सी. 739 : **मधु लिमये और एक अन्य** बनाम **वेद मूर्ति और अन्य** ;	27, 30
[1963]	ए. आई. आर. 1963 एस. सी. 1618 : **उत्तर प्रदेश राज्य** बनाम **जोगेन्द्र सिंह** ;	18
[1963]	ए. आई. आर. 1963 एस. सी. 1088 : **रामजी मिस्सर और एक अन्य** बनाम **बिहार राज्य** ;	18, 20
[1874-80]	(1874-80) आल इंग्लैंड ला रिपोर्ट्स 43 : **जूलियस** बनाम **लार्ड बिशप आफ आक्सफोर्ड** ।	17

दांडिक अपीली अधिकारिता : 2018 की दांडिक अपील सं. 321.

2017 की रिट याचिका सं. 62167 में इलाहाबाद उच्च न्यायालय के तारीख 21 दिसम्बर, 2017 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध अपील ।

अपीलार्थियों की ओर से — सर्वश्री मुकुल रोहतगी, ज्येष्ठ अधिवक्ता, सौरभ कृपाल, समीर रोहतगी, आशीष बतरा, वत्तन शर्मा, मनीष गुप्ता और निखिल जैन

प्रत्यर्थी की ओर से — सर्वश्री मनिन्दर सिंह, अपर महासालिसिटर, आर. बालासुब्रमण्यम्, शेखर व्यास, आरती शर्मा, प्रभास बजाज, अक्षय अमृतांशु, अरुण पाठक और मुकेश कुमार मरोड़िया

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति अशोक भूषण ने दिया ।

न्या. भूषण – इजाजत दी जाती है ।

2. यह अपील इलाहाबाद उच्च न्यायालय के तारीख 21 दिसम्बर, 2017 के उस निर्णय और आदेश के विरुद्ध फाइल की गई है जिसके द्वारा अपीलार्थी की ओर से फाइल की गई 2017 की रिट याचिका सं. 62167 खारिज कर दी गई थी । इस न्यायालय के निर्वचन के लिए जो प्रमुख मुद्दा उद्भूत हुआ है वह दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 88 की अंतर्वस्तु और अर्थान्वयन के संबंध में है । इससे पूर्व कि हम उच्च न्यायालय के आक्षेपित निर्णय का उल्लेख करें, अपीलार्थी के विरुद्ध दर्ज की गई दांडिक कार्यवाही से उद्भूत उस मुकदमेबाजी की श्रृंखला का उल्लेख करना आवश्यक है जो अपीलार्थी द्वारा भिन्न-भिन्न न्यायालयों में संस्थित की गई थी ।

3. भारतीय दंड संहिता की धारा 120ख, 409, 420, 466, 467, 469 और 471 और भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1988 की धारा 13(2) और 13(1)(घ) के अधीन नोएडा, ग्रेटर नोएडा और यमुना एक्सप्रेस वे प्राधिकरणों के तत्कालीन मुख्य इंजीनियर यादव सिंह नामक व्यक्ति के विरुद्ध एक प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज की गई थी और अनेक अभियुक्त व्यक्तियों के विरुद्ध, जिसमें यादव सिंह और अपीलार्थी पंकज जैन भी है, केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के विशेष न्यायाधीश के न्यायालय में तारीख 15 मार्च, 2016 का एक आरोपपत्र, जो कि 2016 का आरोपपत्र सं. 02 है, प्रस्तुत किया गया था । विचारण न्यायालय ने तारीख 29 मार्च, 2016 के आदेश द्वारा संज्ञान लिया और अभियुक्तों को तारीख 29 अप्रैल, 2016 को हाजिर होने के लिए समन किया । अपीलार्थी ने इलाहाबाद उच्च न्यायालय में दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन एक आवेदन फाइल किया, जो कि 2016 का आवेदन सं. 31090 है, जिसमें 2016 के विशेष मामला सं. 10 की संपूर्ण दांडिक कार्यवाही तथा तारीख 29 मार्च, 2016 के समन आदेश को अभिखंडित करने की प्रार्थना की गई । उच्च न्यायालय द्वारा उस आवेदन का तारीख 17 अक्तूबर, 2016 के आदेश द्वारा इस निदेश के साथ अंतिम रूप से निपटारा कर दिया कि यदि आवेदक दो सप्ताह के भीतर निचले न्यायालय के समक्ष उपस्थित होता है और अभ्यर्पण करता है तथा जमानत के लिए आवेदन करता है तो उसके जमानत आवेदन पर विचार किया जाएगा और उसे विनिश्चित किया जाएगा । अपीलार्थी ने उच्च न्यायालय के तारीख 17 अक्तूबर, 2016 के निर्णय के विरुद्ध 2016

की विशेष इजाजत याचिका (दांडिक) सं. 10191 फाइल की, जो कि इस न्यायालय द्वारा नियमित जमानत के लिए आवेदन करने की स्वतंत्रता प्रदान करते हुए इस कारण खारिज कर दी गई क्योंकि वह तारीख 16 जनवरी, 2017 को वापस ले ली गई थी ।

4. तारीख 31 मई, 2017 को एक अनुपूरक आरोपपत्र फाइल किया गया था, जिसके आधार पर केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के विशेष न्यायाधीश द्वारा अपीलार्थी और अन्य अभियुक्त व्यक्तियों के विरुद्ध भारतीय दंड संहिता की धारा 120ख, 420, 468, 471 तथा भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1988 की धारा 13(2) और 13(1)(घ) के अधीन संज्ञान लेते हुए तारीख 7 जून, 2017 का संज्ञान आदेश पारित किया गया था । अपीलार्थी द्वारा पुनः उच्च न्यायालय में दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन एक आवेदन फाइल किया गया, जो कि 2017 का आवेदन सं. 18849 है, जिसमें तारीख 31 मई, 2017 के अनुपूरक आरोपपत्र के अनुसरण में दांडिक कार्यवाही अभिखंडित करने की प्रार्थना की गई थी । उच्च न्यायालय ने तारीख 6 जुलाई, 2017 के अपने आदेश द्वारा यह निदेश देते हुए दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन आवेदन का निपटारा कर दिया कि यदि आवेदक दो सप्ताह के भीतर केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के विशेष न्यायाधीश के समक्ष हाजिर होता है और अभ्यर्पण करता है तथा जमानत के लिए आवेदन करता है तो यह प्रत्याशा की जाती है कि उसका निपटारा विधि के अनुसार शीघ्रतापूर्वक कर दिया जाएगा । इसके अलावा यह निदेश दिया गया कि इसी बीच दो सप्ताह की अवधि के लिए गैर-जमानतीय वारंट के प्रभाव को आस्थगित रखा जाएगा । अपीलार्थी ने उच्च न्यायालय के तारीख 6 जुलाई, 2017 के आदेश से व्यथित महसूस करते हुए पुनः 2017 की विशेष इजाजत याचिका (दांडिक) सं. 7749 फाइल की, जिसका निपटारा इस न्यायालय द्वारा तारीख 24 नवम्बर, 2017 को याची (अपीलार्थी) को केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के विशेष न्यायाधीश के समक्ष नियमित जमानत के लिए आवेदन करने के लिए दो सप्ताह का अतिरिक्त समय प्रदान करते हुए और विचारण न्यायालय को यह निदेश देते हुए कर दिया गया कि वह जमानत संबंधी उक्त आवेदन पर तुरंत विचार करे ।

5. तारीख 27 नवम्बर, 2017 को इस मामले पर केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के विशेष न्यायाधीश द्वारा कार्यवाही आरंभ की गई । न्यायालय ने यह अवेक्षा की कि अपीलार्थी और एक अन्य अभियुक्त व्यक्ति उपस्थित नहीं था । न्यायालय ने अपीलार्थी के विरुद्ध गैर-जमानतीय वारंट और दंड

प्रक्रिया संहिता की धारा 82 और 83 की आदेशिका जारी करने का आदेश जारी किया । उसी दिन, इस न्यायालय द्वारा 2017 की विशेष इजाजत याचिका (दांडिक) सं. 7749 में तारीख 24 नवम्बर, 2017 को पारित आदेश की अवेक्षा करते हुए, विद्वान् विशेष न्यायाधीश ने अपीलार्थी के विरुद्ध किए गए आदेशों पर इस न्यायालय के आदेश के अनुसार दो सप्ताह की अवधि के लिए रोक लगा दी । अपीलार्थी ने इसके पश्चात् इस न्यायालय में भारत के संविधान के अनुच्छेद 32 के अधीन यह दलील देते हुए 2017 की रिट याचिका (दांडिक) सं. 199 फाइल की कि याची (अपीलार्थी) को, जिसे केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो द्वारा अन्वेषण के दौरान गिरफ्तार नहीं किया गया था, केवल अभ्यर्पण करना है और दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 88 के अधीन बंधपत्र देना है । इस न्यायालय से इस आशय के निदेश की ईप्सा की गई थी । इस न्यायालय ने अपने तारीख 6 दिसम्बर, 2017 के आदेश द्वारा इस न्यायालय के तारीख 24 नवम्बर, 2017 के पूर्ववर्ती आदेश की अवेक्षा करते हुए निम्नलिखित आदेश सहित रिट याचिका का निपटारा कर दिया :–

> "हमारे तारीख 24 नवम्बर, 2017 के उपर्युक्त आदेशों को ध्यान में रखते हुए, हमारी यह राय है कि याची को प्रथमतः विचारण न्यायालय के समक्ष हाजिर होना चाहिए, जो कि पहले से तैयार की गई कार्रवाई का अनुक्रम है । याची दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 88 के अधीन आवेदन फाइल करने या जमानत आवेदन फाइल करने के लिए स्वतंत्र होगा, जैसी कि उसे सलाह दी जाए । याची अपनी दलील के समर्थन में ऊपर उल्लिखित निर्णयों का अवलंब लेने के लिए भी स्वतंत्र होगा । विचारण न्यायालय को ही मामले की परीक्षा करनी है और उसके संबंध में अपनी राय बनानी है । जहां तक इस न्यायालय का संबंध है, गुणागुण के संबंध में कोई राय अभिव्यक्त नहीं की जाती है ।
>
> श्री मुकुल रोहतगी, विद्वान् ज्येष्ठ काउन्सेल ने यह निवेदन किया है कि याची, जो कि आज न्यायालय में उपस्थित है, कल, तारीख 7 दिसम्बर, 2017 को अभ्यर्पण करेगा और विचारण न्यायालय के समक्ष हाजिर होगा । विद्वान् ज्येष्ठ काउन्सेल के इस निवेदन को नोट किया जाता है ।
>
> इस रिट याचिका का उपर्युक्त निबंधनों में निपटारा किया जाता है ।"

6. इस न्यायालय के तारीख 6 दिसम्बर, 2017 के आदेश के पश्चात्, अपीलार्थी केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के विशेष न्यायाधीश के न्यायालय के समक्ष हाजिर हुआ और तारीख 7 दिसम्बर, 2017 का आवेदन प्रस्तुत किया । उस आवेदन में, निम्नलिखित प्रार्थना की गई है :–

> "(क) यह कि यह माननीय न्यायालय अपीलार्थी पंकज जैन द्वारा, जो कि उच्चतम न्यायालय द्वारा 2017 की विशेष इजाजत याचिका (दांडिक) सं. 7749 में पारित तारीख 24 नवम्बर, 2017 के आदेश के साथ पठित 2017 की रिट याचिका (दांडिक) सं. 199 में पारित तारीख 6 दिसम्बर, 2017 के आदेश द्वारा प्रदान की गई स्वतंत्रता के अनुसरण में इस माननीय न्यायालय के समक्ष स्वेच्छया से उपस्थित है, किए गए इस आवेदन पर कार्यवाही करे और उसका निपटारा करे तथा उसे किसी कारागार में भेजे बिना आर. सी. सं. आर. सी./डी. एस. टा./2015/ए/0004/सी. बी. आई/.एस. टी. एफ./ डी. एल. आई., तारीख 30 जुलाई, 2015/मामला सं. 10ए/2016 और 3/2017 में दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 88 के अनुसार ऐसा बंधपत्र प्रस्तुत करने के लिए अनुज्ञात करे, जो उपयुक्त समझा जाए ;
>
> (ख) ऐसा कोई अन्य या अतिरिक्त आदेश मंजूर किया जाए, जो माननीय न्यायालय मामले के तथ्यों और उसकी परिस्थितियों में और न्याय के हित में उचित समझे ।"

7. केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के विशेष न्यायाधीश द्वारा तारीख 7 दिसम्बर, 2017 का उपर्युक्त आवेदन नामंजूर कर दिया गया था । केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के विशेष न्यायाधीश ने यह मत व्यक्त किया कि धारा 88 में प्रयुक्त 'may' (कर सकता है) शब्द से यह द्योतित होता है कि धारा 88 आज्ञापक नहीं है और यह एक न्यायिक विवेकाधिकार का विषय है । विशेष न्यायाधीश ने अपीलार्थी के विरुद्ध लगाए गए अभिकथनों की अवेक्षा करने के पश्चात् 2017 का आवेदन सं. 14ख नामंजूर कर दिया । तारीख 7 दिसम्बर, 2017 के निर्णय से व्यथित होकर अपीलार्थी द्वारा 2017 का एक अन्य आवेदन सं. 101ख फाइल किया गया था जो कि नामंजूर कर दिया गया था । आवेदक ने 2017 की विशेष इजाजत याचिका (दांडिक) सं. 9764 फाइल की, जिसका निपटारा तारीख 15 दिसम्बर, 2017 के उसके आदेश द्वारा यह मत व्यक्त करते हुए कर दिया गया था कि चूंकि आक्षेपित आदेश केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के विशेष न्यायाधीश द्वारा पारित किया गया है इसलिए याची के लिए यह उचित होगा कि वह उच्च न्यायालय में

समावेदन करके उस आदेश को चुनौती दे । तारीख 15 दिसम्बर, 2017 के आदेश के पश्चात्, याची-अपीलार्थी ने 2017 की रिट याचिका सं. 62167 फाइल की और इसमें भी याची-अपीलार्थी ने धारा 88 की शक्तिमत्ता को चुनौती देने तथा विचारण न्यायालय के तारीख 7 दिसम्बर, 2017 के आदेश को अभिखंडित करते हुए उत्प्रेषण की रिट की ईप्सा की । उस रिट याचिका में निम्नलिखित प्रार्थनाएं की गईं हैं :-

"(क) दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 88 में 'may' (कर सकता है) शब्द का उपर्युक्त संदर्भ में प्रयोग किया जाना असांविधानिक, स्पष्टतः मनमाना, अयुक्तियुक्त और भारत के संविधान के अनुच्छेद 14 और अनुच्छेद 21 में गारंटीकृत मूल अधिकारों के अधिकारातीत घोषित करते हुए समुचित रिट, आदेश या निदेश जारी किया जाए या अनुकल्पतः धारा 88 को भारत के संविधान के अनुच्छेद 14 और अनुच्छेद 21 के दोष के आधार पर असांविधानिकता से बचाने के लिए इस संदर्भ में उसके क्षेत्र की व्याख्या, विवेचना और वर्णन करके उसके प्रभाव को कम करके पढ़ा जाए ।

(ख) विचारण न्यायालय, अर्थात्, केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के भ्रष्टाचार-निरोधी मामलों के लिए विशेष न्यायाधीश, गाजियाबाद द्वारा पारित तारीख 7 दिसम्बर, 2017 के आक्षेपित आदेश/आदेशों को अपास्त करते हुए, याची को आर. सी. सं. आर. सी./डी. एस. टी./ 2015/ए/0004/सी. बी. आई/.एस. टी. एफ./डी. एल. आई., तारीख 30 जुलाई, 2015 में दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 88 के अधीन उक्त विचारण न्यायालय के समाधानप्रद रूप में अपना बंधपत्र प्रस्तुत करने के लिए अनुज्ञात करते हुए उसे स्वतंत्रता प्रदान करने के पारिणामिक अनुतोष सहित उत्प्रेषण की रिट या कोई अन्य समुचित रिट, आदेश या निदेश जारी किया जाए ।

(ग) माननीय न्यायालय द्वारा ऐसा कोई अतिरिक्त आदेश भी, जो न्याय के हित में हो, पारित किया जा सकता है ।"

8. यह रिट याचिका उच्च न्यायालय की खंड न्यायपीठ द्वारा तारीख 21 दिसम्बर, 2017 के उसके निर्णय और आदेश द्वारा खारिज कर दी गई है और इस निर्णय के विरुद्ध यह अपील फाइल की गई है ।

9. हमने अपीलार्थी की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् ज्येष्ठ काउन्सेल श्री मुकुल रोहतगी और प्रत्यर्थी की ओर से उपस्थित होने वाले

श्री मनिन्दर सिंह, भारत के अपर महासालिसिटर की सुनवाई की है ।

10. अपीलार्थी की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् ज्येष्ठ काउन्सेल श्री मुकुल रोहतगी ने यह दलील दी है कि चूंकि अपीलार्थी को जब वह केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के विशेष न्यायाधीश के समक्ष अन्वेषण के दौरान हाजिर हुआ, गिरफ्तार नहीं किया गया है इसलिए न्यायालय के लिए यह आबद्धकर था कि वह दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 88 के अधीन बंधपत्र स्वीकार करता और अपीलार्थी को तुरंत रिहा करता । उसने यह दलील दी कि विशेष न्यायाधीश के न्यायालय ने धारा 88 के अधीन आवेदन नामंजूर करके त्रुटि कारित की है । इसके अलावा, यह दलील दी गई है कि अपीलार्थी द्वारा जमानत आवेदन फाइल नहीं किया गया था चूंकि उन सभी व्यक्तियों को, जो न्यायालय के समक्ष उपस्थित हुए थे, अभिरक्षा में ले लिया गया था और उनके जमानत संबंधी आवेदन नामंजूर कर दिए गए थे । विद्वान् ज्येष्ठ काउन्सेल ने यह दलील दी कि यद्यपि धारा 88 में 'may' शब्द का प्रयोग किया गया है किन्तु 'may' शब्द का पठन 'shall' के रूप में करना होगा जिससे कि न्यायालय पर, उन व्यक्तियों को, जो अपनी इच्छानुसार न्यायालय में हाजिर हुए हैं, बंधपत्र देने पर रिहा करने की बाध्यता डाली जा सके । उन्होंने आगे यह दलील दी कि उच्च न्यायालय ने यह मत व्यक्त करके भूल कारित की है कि याची ने जब 2017 की विशेष इजाजत याचिका (दांडिक) सं. 7749 फाइल की थी तो उसने इस न्यायालय से तात्विक तथ्यों को छिपाया था । यह दलील दी गई है कि 2017 की विशेष इजाजत याचिका (दांडिक) सं. 7749 में समस्त तथ्यों का उल्लेख किया गया था और उच्च न्यायालय की यह मताभिव्यक्ति सही नहीं है कि किसी तथ्य को छिपाया गया था ।

11. प्रत्यर्थी की ओर से श्री मनिन्दर सिंह, भारत के विद्वान् अपर महासालिसिटर ने अपीलार्थी की दलील का खंडन करते हुए यह दलील दी है कि उच्च न्यायालय द्वारा दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 88 का निर्वचन सही रूप में किया गया है । यह दलील दी गई है कि विशेष न्यायाधीश द्वारा अपीलार्थी के विरुद्ध न केवल समन जारी किए गए थे बल्कि गैर-जमानतीय वारंट और दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 82 और धारा 83 के अधीन कार्यवाहियां भी संस्थित की गईं थीं । अतः, वह दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 88 के अधीन बंधपत्र प्रस्तुत करने पर रिहा किए जाने की कृपा का हकदार नहीं था । उन्होंने आगे यह दलील दी कि धारा 88 के अधीन न्यायालय को बंधपत्र स्वीकार करके किसी व्यक्ति को रिहा करने की वैवेकिक शक्ति प्राप्त है, जिसका ऐसे अभियुक्त द्वारा अधिकार-स्वरूप दावा

नहीं किया जा सकता, जिसे पहले ही समन जारी किया जा चुका है और जिसके विरुद्ध गैर-जमानतीय वारंट जारी किया गया है । इसके अलावा, यह दलील दी गई है कि यद्यपि याची-अपीलार्थी ने दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 482 के अधीन विभिन्न आवेदन तथा इस न्यायालय के समक्ष विशेष इजाजत याचिकाएं फाइल की हैं तथापि, उसने अब तक केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के विशेष न्यायालय के समक्ष कोई जमानत आवेदन फाइल नहीं किया है । उन्होंने यह दलील दी कि यद्यपि अपीलार्थी द्वारा तारीख 16 जनवरी, 2017 को, जब 2017 की विशेष इजाजत याचिका (दांडिक) सं. 10190 खारिज की गई थी तथा तारीख 24 नवम्बर, 2017 को, जब 2017 की विशेष इजाजत याचिका (दांडिक) सं. 7749 का निपटारा किया गया था, न्यायालय के समक्ष नियमित जमानत के लिए आवेदन करने के लिए इस न्यायालय से स्वतंत्रता प्राप्त कर ली गई थी तथापि, ऐसी स्वतंत्रता प्राप्त करने के बावजूद अपीलार्थी द्वारा जमानत के लिए कोई आवेदन फाइल नहीं किया गया था ।

12. हमने पक्षकारों के विद्वान् ज्येष्ठ काउन्सेलों की दलीलों पर विचार किया है और अभिलेख का परिशीलन किया है ।

13. प्रस्तुत अपील में जिस मुख्य प्रश्न का उत्तर दिए जाने की आवश्यकता है, वह यह है कि क्या इस आधार पर कि अपीलार्थी को अन्वेषण के दौरान गिरफ्तार नहीं किया गया था, न्यायालय के लिए दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 88 के अधीन बंधपत्र स्वीकार करके उसे रिहा करना आबद्धकर था या न्यायालय ने अपीलार्थी द्वारा दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 88 के अधीन बंधपत्र स्वीकार करके उसे रिहा करने के लिए फाइल किए गए आवेदन को नामंजूर करके धारा 88 के अधीन अपनी अधिकारिता का सही प्रयोग किया था ।

14. दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 88 एक ऐसा उपबंध है जो कि दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 के अध्याय 6 "हाजिर होने को विवश करने के लिए आदेशिकाएं" में अंतर्विष्ट है । अध्याय 6 चार भागों में विभाजित है – क. समन; ख. गिरफ्तारी का वारंट; ग. उद्घोषणा और कुर्की; और घ. आदेशिकाओं संबंधी अन्य नियम । धारा 88 में निम्नलिखित रूप में उपबंध किया गया है :–

> "**88. हाजिरी के लिए बंधपत्र लेने की शक्ति** – जब कोई व्यक्ति, जिसकी हाजिरी या गिरफ्तारी के लिए किसी न्यायालय का

पीठासीन अधिकारी समन या वारंट जारी करने के लिए सशक्त है, ऐसे न्यायालय में उपस्थित है तब वह अधिकारी उस व्यक्ति से अपेक्षा कर सकता है कि वह उस न्यायालय में या किसी अन्य न्यायालय में, जिसको मामला विचारण के लिए अंतरित किया जाता है, अपनी हाजिरी के लिए बंधपत्र, प्रतिभूओं सहित या रहित, निष्पादित करे ।"

15. हमारे लिए सर्वप्रथम इस बात पर विचार करना आवश्यक है कि धारा 8 में प्रयुक्त 'may' शब्द का अर्थ क्या था ।

16. न्यायमूर्ति जी. पी. सिंह ने "प्रिंसीपल्स आफ स्टेट्यूटरी इंटरप्रटेशन", 14वां संस्करण में समर्थकारी शब्द 'may' पर विचार करते समय निर्वचन के निम्नलिखित सिद्धांतों को स्पष्ट किया :–

"(ट) समर्थकारी शब्द, उदाहरणार्थ, 'मे' (सकेगा), 'इट शैल बी लाफुल' (यह विधिपूर्ण होगा), 'शैल हैव पावर' (शक्ति होगी) । कर्तव्य से जुड़ी शक्ति ।

साधारणतया, 'मे' और 'इट शैल बी लाफुल' शब्द बाध्यकारी शब्द नहीं होते हैं । ये समर्थकारी शब्द हैं और ये केवल क्षमता, शक्ति या प्राधिकार प्रदान करते हैं और इनसे विवेकाधिकार विवक्षित होता है । इन दोनों शब्दों का प्रयोग कानून में यह उपदर्शित करने के लिए किया जाता है कि कोई ऐसा काम किया जा सकता है जो इससे पूर्व नहीं किया जा सका था । 'शैल हैव पावर' शब्दों का प्रयोग भी इसी विचार को द्योतित करता है ।"

17. यद्यपि "मे" शब्द के साधारण प्रयोग से विवेकाधिकार विवक्षित होता है किन्तु जब "मे" शब्द के साथ किसी प्राधिकारी या न्यायालय पर कर्तव्य संयोजित किया जाता है तब इसे "शैल" का अर्थ दिया गया है जो कि किसी प्राधिकारी या न्यायालय पर बाध्यकर होता है । "मे" शब्द के प्रयोग में कर्तव्य जुड़ा हुआ है अथवा नहीं, यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर किसी विशिष्ट कानून की कानूनी स्कीम से ही दिए जाने की आवश्यकता है । लार्ड कैरन्स द्वारा **जूलियस** बनाम **लार्ड बिशप आफ आक्सफोर्ड**[1] वाले मामले में निर्वचन के सिद्धांतों को अधिकथित किया गया है जहां लार्ड कैरन्स ने कानूनी निर्वचन के सिद्धांतों को निम्नलिखित शब्दों में प्रतिपादित किया :–

---

[1] (1874-80) आल इंग्लैंड ला रिपोर्ट्स 43.

"किसी कार्य की प्रकृति में ऐसा कुछ हो सकता है जिसे करने की शक्ति प्राप्त हो, उस उद्देश्य में कुछ हो सकता है जिसके लिए वह किया जाना है, उन शर्तों में कुछ हो सकता है जिनके अधीन वह किया जाना है, उस व्यक्ति या उन व्यक्तियों के, जिनके फायदे के लिए शक्ति का प्रयोग किया जाना है, हक में ऐसा कुछ हो सकता है जिसमें शक्ति के साथ कोई कर्तव्य जुड़ा हो और वह शक्ति उसे उस व्यक्ति का, जिसे वह शक्ति दी जाती है, यह कर्तव्य बनाती है कि वह उस शक्ति का तब प्रयोग करे जब उसे ऐसा करने के लिए कहा जाए ।

जहां किसी लोक अधिकारी को, विनिर्दिष्ट रूप से इंगित ऐसे व्यक्तियों के फायदे के लिए प्रयोग किए जाने के प्रयोजनार्थ कोई शक्ति प्रदान की जाती है, जिनके संबंध में विधान-मंडल द्वारा उन शर्तों की परिभाषा दी जाती है जिन्हें पूरा करने पर वे उसका प्रयोग करने की अपेक्षा करने के हकदार होते हैं, वहां उस शक्ति का प्रयोग अवश्य ही किया जाना चाहिए और न्यायालय यह अपेक्षा करेगा कि उसका प्रयोग किया जाए ।

जब कभी शक्ति का उद्देश्य किसी विधिक अधिकार को प्रभावशील करना होता है तब समर्थकारी शब्दों का अर्थान्वयन अनिवार्य रूप में किया जाता है ।"

18. अपीलार्थी के विद्वान् ज्येष्ठ काउन्सेल ने **उत्तर प्रदेश राज्य** बनाम **जोगेन्द्र सिंह**[1] और **रामजी मिस्सर और एक अन्य** बनाम **बिहार राज्य**[2] वाले मामले में इस न्यायालय के निर्णयों के प्रति निर्देश किया । **उत्तर प्रदेश राज्य** बनाम **जोगेन्द्र सिंह** (उपर्युक्त) वाले मामले में इस न्यायालय ने उत्तर प्रदेश अनुशासनिक कार्यवाही (प्रशासनिक अधिकरण) नियम, 1947 के नियम 4(2) में "मे" शब्द का प्रयोग किए जाने के संबंध में विचार किया । उपर्युक्त संबंध में, पैरा 8 में निम्न प्रकार कथन किया गया है :–

"8. नियम 4(2) राजपत्रित सरकारी सेवकों के वर्ग के संबंध में है और इसमें उन्हें राज्यपाल को यह अनुरोध करने का अधिकार प्रदान किया गया है कि उपनियम (1) के खंड (क) से खंड (घ) में विनिर्दिष्ट विषयों की बाबत उनके मामले अधिकरण को निर्देशित किए

---

[1] ए. आई. आर. 1963 एस. सी. 1618.

[2] ए. आई. आर. 1963 एस. सी. 1088.

जाने चाहिएं । हमारे विनिश्चयार्थ प्रश्न यह है कि क्या नियम 4(1) में 'मे' (सकेगा) शब्द की तरह, जो कि राज्यपाल को विवेकाधिकार प्रदत्त करता है, उपनियम (2) में प्रयुक्त 'मे' शब्द उसे विवेकाधिकार प्रदान करता है या उपनियम (2) में प्रयुक्त 'मे' शब्द से वास्तव में 'शैल' (करेगा) या 'मस्ट' (अवश्य करना चाहिए) अभिप्रेत है ? इस संबंध में कोई संदेह नहीं है कि साधारणतया 'मे' शब्द से 'मस्ट' या 'शैल' अभिप्रेत नहीं होता है । किन्तु यह सुस्थापित है कि 'मे' शब्द से संदर्भ के प्रकाश में 'मस्ट' या 'शैल' अभिप्रेत हो सकता है । यह भी स्पष्ट है कि जहां किसी लोक प्राधिकारी को कोई ऐसा विवेकाधिकार प्रदान किया जाता है जिससे कोई बाध्यता संयोजित होती है तो 'मे' शब्द का, जो विवेकाधिकार द्योतित करता है, अर्थान्वयन आदेश के अर्थ में किया जाना चाहिए । कभी-कभी, विधान-मंडल, उस प्राधिकारी की, जिसे शक्ति और बाध्यता प्रदत्त या अधिरोपित की जानी आशयित है, उच्च हैसियत के सम्मानस्वरूप 'मे' शब्द का प्रयोग करता है । प्रस्तुत मामले में, संदर्भ ही विनिश्चायक है । यदि उक्त नियम में 'मे' शब्द का अर्थान्वयन वही किया जाता है जो कि उपनियम (1) में उसका है तो नियम 4(2) का संपूर्ण प्रयोजन ही विफल हो जाएगा । यह इस कारण है कि राजपत्रित सरकारी सेवकों के संबंध में राज्यपाल को यह विवेकाधिकार पहले ही प्रदान किया गया था कि उनके मामलों को अधिकरण को निर्देशित किया जाए, इसलिए नियम बनाने वाला प्राधिकारी उनकी बाबत ऐसा विशेष उपबंध करना चाहता था जो कि नियम 4(1) और नियम 4(2) के अधीन आने वाले अन्य सरकारी सेवकों के लिए विहित नियम से सुभिन्न हो अन्यथा नियम 4(2) पूर्णतः अनावश्यक हो जाएगा । दूसरे शब्दों में, नियम 4(2) को अधिनियमित करने का साधारण और सुस्पष्ट उद्देश्य राजपत्रित सरकारी सेवकों को यह विकल्प प्रदान करना है कि वह राज्यपाल को यह अनुरोध कर सकें कि उनके मामलों का विचारण किसी अधिकरण द्वारा न कि अन्यथा किया जाना चाहिए । संभवतः नियम बनाने वाले प्राधिकारी ने यह सोचा कि राजपत्रित सरकारी सेवकों की प्रास्थिति को ध्यान में रखते हुए उन्हें ऐसा विकल्प प्रदान करना विधिसम्मत होगा । अतः, हमें उच्च न्यायालय द्वारा अपनाए गए इस मत को स्वीकार करने में कोई कठिनाई महसूस नहीं हो रही है कि नियम 4(2) राज्यपाल पर यह बाध्यता अधिरोपित करता है कि वह राजपत्रित सरकारी सेवक द्वारा

की गई इस प्रार्थना को स्वीकार करे कि उसका मामला नियमों के अधीन अधिकरण को निर्देशित किया जाना चाहिए । ऐसा अनुरोध, स्वीकृत रूप से प्रत्यर्थी द्वारा किया गया था और उसे स्वीकार नहीं किया गया है । अतः, हमारा यह समाधान हो गया है कि उच्च न्यायालय ने प्रत्यर्थी के मामले को नियमों के अधीन अधिकरण को निर्देशित करते हुए अपीलार्थी द्वारा प्रत्यर्थी के विरुद्ध की जाने वाली प्रस्तावित कार्यवाहियों को अभिखंडित करके सही किया था ।"

19. इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि नियम 4(2) में 'मे' शब्द का प्रयोग एक बाध्यता प्रदत्त करता है और सरकारी सेवकों को राज्यपाल को अनुरोध करने का अधिकार देता है । इस प्रकार, उपर्युक्त मामले में, 'मे' शब्द के साथ कर्तव्य जुड़ा था, जिसे बाध्यकारी अभिनिर्धारित किया गया था ।

20. **रामजी मिस्सर और एक अन्य** बनाम **बिहार राज्य** (उपर्युक्त) वाले मामले में, इस न्यायालय ने पुनः अपराधी परिवीक्षा अधिनियम, 1958 की धारा 11(1) और धारा 6(2) पर विचार किया । इस न्यायालय ने पैरा 16 में निम्नलिखित रूप में अधिकथित किया :-

"16. यद्यपि 'मे' शब्द से प्रायिक वाक्यांश 'इट शैल बी लाफुल' के अर्थों में मात्र एक समर्थकारी या अनुज्ञात्मक शक्ति द्योतित हो सकती है तथापि, वह इस प्रकार अर्थान्वयन किए जाने के लिए भी सक्षम है कि उसके द्वारा एक बाध्यकारी कर्तव्य के प्रति निर्देश किया गया है विशेषकर तब जब वह किसी न्यायालय या अन्य न्यायिक प्राधिकारी को प्रदत्त किसी शक्ति के प्रति निर्देश करता है । जैसा कि मैक्सवेल आन स्टेट्यूट में मताभिव्यक्ति की गई है :-

'ऐसे कानूनों से, जो व्यक्तियों को अन्य व्यक्तियों के फायदे के लिए कार्य करने के लिए प्राधिकृत करते हैं या जैसा कि उनमें कभी-कभी लोक भलाई या न्याय को अग्रसर करने के लिए कहा जाता है, प्रायः तब संविवाद उत्पन्न हुए हैं जब साधारणतया उनमें समर्थकारी न कि आज्ञापक निबंधनों में प्राधिकार प्रदत्त किया जाता है । ऐसा प्रतीत होता है कि कानूनों में यह अधिनियमित करते समय कि वे ऐसे कार्य कर सकेंगे (may), करेंगे (shall) यदि वे उपयुक्त समझें (if they think fit) या उन्हें यह शक्ति होगी (shall have power) या यह कि

> उनके लिए यह विधिपूर्ण होगा (it shall be lawful), मात्र अनुज्ञा की भाषा का प्रयोग किया जाता है किन्तु इसे इतना अधिक विनिश्चित किया गया है कि अब यह स्वयंसिद्ध हो गया है कि ऐसे मामलों में ऐसी अभिव्यक्तियों का कम से कम बाध्यकारी बल हो सकता है ।"

21. इस न्यायालय ने यह अवेक्षा की है कि 1958 के अधिनियम में न्यायालय द्वारा विवेकाधिकार का प्रयोग करने के लिए दिशानिर्देशों के रूप में कतिपय कसौटियां अधिकथित की गई हैं । न्यायालय ने इस निवेदन को नामंजूर कर दिया कि अपील न्यायालय को धारा 11 के अधीन शक्ति का प्रयोग करने के लिए अनियंत्रित विवेकाधिकार प्राप्त है । उपर्युक्त मामला एक ऐसा मामला भी था जहां न्यायालय को दिए गए विवेकाधिकार का प्रयोग कतिपय दिशानिर्देशों और कसौटियों के अधीन किया जाना था, जो कि विवेकाधिकार का एक ऐसा मामला था, जिसके साथ कर्तव्य जुड़ा हुआ था ।

22. इस न्यायालय ने **केरल राज्य और अन्य** बनाम **कंडथ डिस्टीलियरीज़**[1] वाले मामले में केरल आबकारी अधिनियम, 1902 में "मे" अभिव्यक्ति के प्रयोग पर विचार किया । न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि यह अभिव्यक्ति आयुक्त को वैवेकिक शक्ति प्रदत्त करती है और इस शक्ति के साथ कर्तव्य जुड़ा हुआ नहीं है । पैरा 29 में निम्नलिखित मताभिव्यक्ति की गई है :–

> "29. धारा 14 में 'आयुक्त, 'सरकार के अनुमोदन से' कर सकेगा' अभिव्यक्ति का प्रयोग किया गया है, इसी प्रकार नियम 4 में भी 'आयुक्त, 'यदि उसका समाधान हो गया है', 'ऐसी जांच करने के पश्चात्, जो वह आवश्यक समझे', अनुज्ञप्ति जारी कर सकेगा' । धारा 14 और नियम 4 में प्रयुक्त ये सभी अभिव्यक्तियां आयुक्त तथा राज्य सरकार को वैवेकिक शक्तियां प्रदत्त करती हैं न कि ऐसी वैवेकिक शक्ति, जिसके साथ कर्तव्य संयोजित है ....।"

23. दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 88 ऐसे किसी व्यक्ति को, जो न्यायालय में उपस्थित है, कोई अधिकार प्रदत्त नहीं करती । न्यायालय को दी गई वैवेकिक शक्ति ऐसे व्यक्ति की उस न्यायालय में या ऐसे किसी अन्य न्यायालय ,में जहां मामला विचारण के लिए अंतरित किया जा सकता

---

[1] (2013) 6 एस. सी. सी. 573.

है, उपस्थिति सुनिश्चित करने के प्रयोजन और उद्देश्य के लिए है । न्यायालय को धारा 88 के अधीन दिया गया विवेकाधिकार ऐसे किसी व्यक्ति को, जो न्यायालय में उपस्थित है, कोई अधिकार प्रदत्त नहीं करता बल्कि यह न्यायालय को दी गई ऐसी शक्ति है जिससे कि उसकी उपस्थिति सुकर बनाई जा सके, जिससे स्पष्ट रूप से उपदर्शित होता है कि "मे" शब्द का प्रयोग वैवेकिक है और यह न्यायालय पर निर्भर करता है कि वह जब भी स्थिति की मांग हो, अपने विवेकाधिकार का प्रयोग करे । इसके अलावा, यह उल्लेख करना भी सुसंगत है कि धारा 88 में प्रयुक्त "कोई व्यक्ति" शब्दों का व्यापक अर्थान्वयन किया जाना है, जिसके अंतर्गत ऐसे व्यक्ति शामिल हो सकते हैं जो मामले में अभियुक्त भी नहीं है और वे साक्षी के रूप में हाजिर हुए हैं ।

24. अपीलार्थी के विद्वान् काउन्सेल ने दिल्ली उच्च न्यायालय के दो निर्णयों के प्रति निर्देश किया है, अर्थात्, **न्यायालय, स्वप्रेरणा से** बनाम **केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो**[1] । उपर्युक्त मामले में, न्यायालय द्वारा दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 173 और धारा 170 के संदर्भ में कतिपय साधारण निदेश जारी किए गए थे । उक्त मामला ऐसा मामला नहीं था जिसमें ऐसा विवाद्यक, जो दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 88 से संबंधित प्रस्तुत मामले में उद्भूत हुआ है, अंतर्वलित था । **संजय चतुर्वेदी** बनाम **राज्य**[2] वाले मामले में दिल्ली उच्च न्यायालय का पश्चात्वर्ती निर्णय भी एक ऐसा मामला था जिसमें **न्यायालय, स्वप्रेरणा से** बनाम **केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो** (उपर्युक्त) वाले मामले में दिल्ली उच्च न्यायालय के पूर्ववर्ती निर्णय का अनुसरण किया गया था । उक्त मामले में भी धारा 88 का किसी भी रीति में उस प्रकार निर्वचन अंगीकृत नहीं किया गया था, जैसा कि अपीलार्थी द्वारा दलील दी गई है ।

25. दिल्ली उच्च न्यायालय के एक अन्य निर्णय द्वारा, जो कि तारीख 23 मई, 2011 को विनिश्चित **संजय चन्द्रा** बनाम **केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो** वाले मामले में 2011 के जमानत आवेदन सं. 509 के संबंध में था, विद्वान् अपर महासालिसिटर द्वारा दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 88 के अधीन शक्ति के संबंध में किए गए निवेदन को समर्थन मिलता है कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 88 में प्रयुक्त "मे" शब्द आज्ञापक नहीं है और यह एक न्यायिक

---

[1] (2003) 109 दिल्ली ला टाइम्स 494.

[2] (2006) 132 दिल्ली ला टाइम्स 692.

विवेकाधिकार का मामला है । निर्णय का पैरा 20, 21 और 22 निम्नलिखित रूप में है :-

"20. अभियुक्त संजय चन्द्रा की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् ज्येष्ठ अधिवक्ता श्री राम जेठमलानी और श्री के. टी. एस. तुलसी, अभियुक्त विनोद गोयनका की ओर से उपस्थित होने वाले ज्येष्ठ अधिवक्ता श्री मुकुल रोहतगी, अभियुक्त गौतम दोषी की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् ज्येष्ठ अधिवक्ता श्री सोली सोराबजी और श्री रंजीत कुमार, अभियुक्त हरी नायर की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् ज्येष्ठ अधिवक्ता श्री राजीव नायर और अभियुक्त सुरेन्द्र पिपारा की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् ज्येष्ठ अधिवक्ता श्री नीरज किशन कौल ने प्रारंभ में यह दलील दी है कि विद्वान् विशेष न्यायाधीश का तारीख 20 अप्रैल, 2011 का वह आदेश, जिसके द्वारा याचियों की जमानत नामंजूर की गई थी, दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 88 के अधिदेश का अतिक्रमणकारी है । यह दलील दी गई है कि स्वीकृततः याचियों को न तो अन्वेषण के दौरान गिरफ्तार किया गया था और न ही दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 170 के अधीन यथा-प्रकल्पित आरोप पत्र के साथ अभिरक्षा में पेश किया गया था । इसलिए, विचारण न्यायालय को दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 88 को ध्यान में रखते हुए, प्रतिभुओं सहित या उनके बिना बंधपत्र की ईप्सा करके याचियों को जमानत पर रिहा कर देना चाहिए था । अतः, इस बात पर जोर दिया गया कि केवल इसी आधार पर याची जमानत के लिए हकदार हैं ।

21. याचियों द्वारा जो निर्वचन करने की ईप्सा की गई है वह भ्रामक है और दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 88 के गलत पठन पर आधारित है, जिसे निम्न प्रकार उद्धृत किया जाता है –

"**88. हाजिरी के लिए बंधपत्र लेने की शक्ति** -- जब कोई व्यक्ति, जिसकी हाजिरी या गिरफ्तारी के लिए किसी न्यायालय का पीठासीन अधिकारी समन या वारंट जारी करने के लिए सशक्त है, ऐसे न्यायालय में उपस्थित है तब वह अधिकारी उस व्यक्ति से अपेक्षा कर सकता है कि वह उस न्यायालय में या किसी अन्य न्यायालय में, जिसको मामला विचारण के लिए अंतरित किया जाता है, अपनी हाजिरी के लिए बंधपत्र, प्रतिभुओं सहित या रहित, निष्पादित करे ।"

22. उपर्युक्त का पठन करने पर यह स्पष्ट होता है कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 88 द्वारा न्यायालय को अपने न्यायिक विवेकाधिकार का प्रयोग करते हुए ऐसे किसी व्यक्ति से, जो न्यायालय में उपस्थित है, हाजिर होने के लिए बंधपत्र की ईप्सा करने के लिए सशक्त किया गया है । इस धारा में यह उपबंध भी किया गया है कि उपर्युक्त शक्ति अनिर्बंधित नहीं है और इसका प्रयोग केवल ऐसे व्यक्तियों के विरुद्ध किया जा सकता है जिनकी हाजिरी या गिरफ्तारी के लिए जमानत आवेदन सं. 508/2011, 509/2011, 510/2011, 511/ 2011 और 512/2011, पृष्ठ 21/34 में न्यायालय समन या वारंट जारी करने के लिए सशक्त है । इस धारा में प्रयुक्त शब्द 'उस व्यक्ति से अपेक्षा कर सकता है कि वह बंधपत्र निष्पादित करे' ऐसे किसी व्यक्ति के लिए हैं, जो न्यायालय में उपस्थित है । 'मे' शब्द का प्रयोग इस बात का सूचक है कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 88 आज्ञापक नहीं है और यह न्यायालय के न्यायिक विवेकाधिकार का मामला है । "कोई व्यक्ति" शब्द इस बात के सूचक हैं कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 88 के अधीन परिभाषित न्यायालय की शक्ति केवल विनिर्दिष्ट रूप से अभियुक्तों के संबंध में नहीं है बल्कि इसका प्रयोग अन्य प्रवर्ग के व्यक्तियों के विरुद्ध भी किया जा सकता है जैसे कि ऐसा साक्षी, जिसकी न्यायालय में उपस्थिति जांच या विचारण के प्रयोजनार्थ आवश्यक समझी जाए । दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 88 का सावधानीपूर्वक पठन करने पर यह स्पष्ट होता है कि यह न्यायालय की शक्ति को परिभाषित करने वाला एक साधारण उपबंध है किन्तु इसमें इस संबंध में उपबंध नहीं है कि इस वैवेकिक शक्ति का प्रयोग किस प्रकार और किस रीति में किया जाना है । याची गैर-जमानतीय अपराध कारित करने के अभियुक्त हैं । अतः, जमानत के लिए उनका मामला दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 437 के अंतर्गत आता है, जो कि गैर-जमानतीय अपराधों के मामलों में किसी अभियुक्त को जमानत मंजूर करने संबंधी विनिर्दिष्ट उपबंध है । अतः, दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 88 और धारा 437 का संयुक्त रूप से पठन करने से यह स्पष्ट होता है कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 88 एक स्वतंत्र धारा नहीं है और यह दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 437 के अध्यधीन है । अतः, मुझे इस दलील में कोई सार प्रतीत नहीं होता है कि याचियों को जमानत देने से इनकार करने वाला विद्वान् विशेष न्यायाधीश का आदेश दंड

प्रक्रिया संहिता की धारा 88 का अतिक्रमणकारी होने के कारण अवैध है ।"

26. इस संदर्भ में जो एक अन्य निर्णय सुसंगत है, वह **डा. आनन्द देव सिंह** बनाम **बिहार राज्य और अन्य**[1] वाले मामले में पटना उच्च न्यायालय का निर्णय है । इस मामले में पटना उच्च न्यायालय ने दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 88 पर विचार किया था, जहां पैरा 18 में निम्नलिखित रूप में अभिनिर्धारित किया गया है :--

> "18. मेरी सुविचारित राय में, संहिता की धारा 88 एक समर्थकारी उपबंध है, जो कि मजिस्ट्रेट में यह विवेकाधिकार निहित करता है कि वह उक्त धारा के अधीन जमानतीय मामलों या तुच्छ मामलों में किसी व्यक्ति को केवल हाजिरी के लिए बंधपत्र निष्पादित करने की मांग संबंधी अपनी शक्ति का प्रयोग करे और गंभीर अपराधों की दशा में इसका अवलंब नहीं लिया जा सकता है । संहिता की धारा 436 में स्वतः यह उपबंधित है कि केवल जमानतीय अपराधों के मामलों में ही बंधपत्र की मांग की जाए ।"

27. इस न्यायालय को **मधु लिमये और एक अन्य** बनाम **वेद मूर्ति और अन्य**[2] वाले मामले में दंड प्रक्रिया संहिता, 1898 की धारा 91 पर विचार करने का अवसर मिला, जो कि 1973 की संहिता की वर्तमान धारा 88 के समरूप है और धारा 91 के संदर्भ में निम्नलिखित मताभिव्यक्तियां की गई थीं :–

> "........ वास्तव में, धारा 91 ऐसे व्यक्ति को लागू होती है जो कि न्यायालय में उपस्थित है और वह इसलिए मुक्त है क्योंकि इसमें न्यायालय के समक्ष किसी अन्य दिवस को उसे हाजिर होने के लिए बाध्य होने की बात कही गई है । इससे यह दर्शित होता है कि वह व्यक्ति इस संबंध में स्वतंत्र कर्ता होना चाहिए कि चाहे वह हाजिर हो अथवा नहीं । यदि कोई व्यक्ति पहले ही गिरफ्तारी और अभिरक्षा में है, जैसे कि याची थे, तो उनकी हाजिरी उनकी इच्छा पर निर्भर नहीं थी बल्कि उस व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर थी जिसकी अभिरक्षा में वे थे । अतः, यह धारा अनुपयुक्त थी और मामले के समर्थन में उद्धृत किया गया निर्णय गलत रूप में विनिश्चित किया गया था जैसा कि

---

[1] (2000) 2 पटना ला जर्नल रिपोर्ट्स 686.

[2] (1970) 3 एस. सी. सी. 739.

विशेष न्यायपीठ द्वारा अभिनिर्धारित किया गया था .... ।"

28. अपीलार्थी द्वारा जिस एक अन्य निर्णय का अवलंब लिया गया है कि वह **अरुण शर्मा** बनाम **पंजाब राज्य और अन्य**[1] वाले मामले में पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय का निर्णय है । उक्त मामले में, पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय ने धन-शोधन निवारण अधिनियम की धारा 65 के साथ पठित दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 88 पर विचार किया । उपर्युक्त संदर्भ में, पैरा 11 में निम्न प्रकार मत व्यक्त किया गया है :–

> "11. इन्हीं सिद्धांतों के आधार पर, धन-शोधन निवारण अधिनियम में दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 88 से असंगत किसी बात के अभाव में, जब कोई व्यक्ति समन या वारंट द्वारा आदेशिका जारी करने के अनुसरण में धन-शोधन निवारण अधिनियम से संबंधित विशेष न्यायालय के समक्ष स्वेच्छया हाजिर होता है और न्यायालय के समक्ष आगे हाजिर होने के लिए बंधपत्र प्रस्तुत करने की प्रस्थापना करता है तब ऐसा बंधपत्र प्रस्तुत करने संबंधी उसके आवेदन पर किसी प्रकार से विचार करना आवश्यक रूप से धन-शोधन निवारण अधिनियम की धारा 65 के साथ पठित दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 88 द्वारा शासित होगा । दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 88 निम्नलिखित रूप में है –
>
> > '88. हाजिरी के लिए बंधपत्र लेने की शक्ति – जब कोई व्यक्ति, जिसकी हाजिरी या गिरफ्तारी के लिए किसी न्यायालय का पीठासीन अधिकारी समन या वारंट जारी करने के लिए सशक्त है, ऐसे न्यायालय में उपस्थित है तब वह अधिकारी उस व्यक्ति से अपेक्षा कर सकता है कि वह उस न्यायालय में या किसी अन्य न्यायालय में, जिसको मामला विचारण के लिए अंतरित किया जाता है, अपनी हाजिरी के लिए बंधपत्र, प्रतिभुओं सहित या रहित, निष्पादित करे ।'
>
> यह धारा 88 (जो कि दंड प्रक्रिया संहिता, 1898 की धारा 91 के तदनुरूप है) ऐसे व्यक्ति के मामले में लागू नहीं होगी जिसकी हाजिरी उसकी अपनी इच्छा पर निर्भर नहीं है बल्कि जिसे प्राधिकारियों द्वारा अभिरक्षा में लाया जाता है, जैसा कि माननीय उच्चतम न्यायालय की संविधान पीठ ने मधु लिमये **बनाम** वेद मूर्ति (ए. आई. आर. 1971 एस. सी. 2481) वाले मामले में अभिनिर्धारित किया है, जिसमें यह

---

[1] (2016) 3 आर. सी. आर. (दांडिक) 883.

मत व्यक्त किया गया था कि –

> '........ वास्तव में, धारा 91 ऐसे व्यक्ति को लागू होती है जो कि न्यायालय में उपस्थित है और वह इसलिए मुक्त है क्योंकि इसमें न्यायालय के समक्ष किसी अन्य दिवस को उसे हाजिर होने के लिए बाध्य होने की बात कही गई है । इससे यह दर्शित होता है कि वह व्यक्ति इस संबंध में स्वतंत्र कर्ता होना चाहिए कि चाहे वह हाजिर हो अथवा नहीं । यदि कोई व्यक्ति पहले ही गिरफ्तारी और अभिरक्षा में है, जैसे कि याची थे, उनकी हाजिरी उनकी इच्छा पर निर्भर नहीं थी बल्कि उस व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर थी जिनकी अभिरक्षा में वे थे..... ।'

अतः, इस प्रकार की स्थिति में जहां अभियुक्त व्यक्तियों को धन-शोधन निवारण अधिनियम की धारा 19 के अधीन अन्वेषण के दौरान गिरफ्तार नहीं किया गया था और उन्हें संज्ञान लेने के लिए अभिरक्षा में पेश नहीं किया गया था वहां विचारण न्यायालय के समक्ष अभियुक्त व्यक्ति द्वारा अपनी इच्छा से हाजिर होने पर आगे हाजिरी के लिए बंधपत्र प्रस्तुत करने के लिए दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 88 लागू होगी ।"

29. प्रस्तुत मामला ऐसा मामला नहीं है जहां अभियुक्त एक मुक्त अभिकर्ता था कि वह हाजिर हो अथवा नहीं । उसके विरुद्ध पहले ही गैर-जमानतीय वारंट जारी किए गए थे तथा दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 82 और 83 के अधीन कार्यवाही भी संस्थित की गई थी । मामले को इस दृष्टि से देखते हुए, वह धारा 88 के फायदे का हकदार नहीं था ।

30. पंजाब-हरियाणा वाले मामले में, उच्च न्यायालय ने **मधु लिमये** बनाम **वेद मूर्ति** (उपर्युक्त) वाले मामले में इस न्यायालय के निर्णय का अवलंब लिया और यह अभिनिर्धारित किया कि धारा 88 लागू होगी क्योंकि अभियुक्त व्यक्तियों को धन-शोधन निवारण अधिनियम की धारा 19 के अधीन अन्वेषण के दौरान गिरफ्तार नहीं किया गया था और संज्ञान लेने के लिए उन्हें अभिरक्षा में नहीं लिया गया था । पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय ने जिस बात को अनदेखा कर दिया वह यह है कि इस न्यायालय ने उसी पैरा में यह मत व्यक्त किया था "इससे यह दर्शित होता है कि वह व्यक्ति इस बारे में मुक्त कर्ता होना चाहिए कि वह हाजिर हो

अथवा नहीं" । जब अभियुक्त को न्यायालय में हाजिर होने के लिए गिरफ्तारी-वारंट जारी किया गया था और दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 82 और धारा 83 के अधीन कार्यवाही संस्थित की गई थी तब उसे न्यायालय में हाजिर होने या न होने के लिए मुक्त अभिकर्ता अभिनिर्धारित नहीं किया जा सकता है । अतः, हमारा यह मत है कि पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय ने उपर्युक्त मामले में धारा 88 को सही रूप में लागू नहीं किया है ।

31. अतः, हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि धारा 88 में प्रयुक्त 'मे' शब्द न्यायालय को इस संबंध में विवेकाधिकार प्रदान करता है कि वह न्यायालय में हाजिर होने वाले अभियुक्त व्यक्ति से बंधपत्र स्वीकार करे अथवा नहीं । केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के विशेष न्यायाधीश तथा उच्च न्यायालय, दोनों ने दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 88 के अधीन अपनी शक्ति का प्रयोग न करने के लिए अकाट्य कारण दिए हैं । हम केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के विशेष न्यायाधीश तथा उच्च न्यायालय द्वारा इस निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए अपनाए गए दृष्टिकोण में कोई त्रुटि नहीं पाते हैं कि अभियुक्त दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 88 के अधीन बंधपत्र स्वीकार करके रिहा किए जाने का हकदार नहीं था । अतः, हम उच्च न्यायालय के आक्षेपित निर्णय में कोई त्रुटि नहीं पाते हैं ।

32. अपीलार्थी की ओर से विद्वान् ज्येष्ठ काउन्सेल श्री मुकुल रोहतगी ने **दाताराम सिंह** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य और एक अन्य**[1] (2018 की दांडिक अपील सं. 227) वाले मामले में इस न्यायालय तारीख 6 फरवरी, 2018 के हाल ही के निर्णय का अवलंब लिया । अपीलार्थी के विद्वान् काउन्सेल ने यह दलील दी है कि इस न्यायालय ने जमानत मंजूर करने या उससे इनकार करने से संबंधित सिद्धांतों को विस्तारपूर्वक स्पष्ट किया है । इस न्यायालय ने पैरा 6 और पैरा 7 में निम्नलिखित मताभिव्यक्तियां की हैं :–

> "6. जमानत से संबंधित उपबंध की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को नीकेश ताराचंद शाह **बनाम** भारत संघ (2017) 13 स्केल 609 वाले मामले में दिए गए हाल ही के विनिश्चय में विस्तृत और सुबोधगम्य रूप से स्पष्ट किया गया है, जिसमें मैग्ना कार्टा के समय का उल्लेख किया गया है । उस विनिश्चय में, गुरबख्श सिंह सिब्बिया **बनाम** पंजाब राज्य (1980) 2 एस. सी. सी. 565 वाले मामले के प्रति निर्देश किया गया है, जिसमें यह मत व्यक्त किया गया है कि बहुत

[1] (2018) 3 एस. सी. सी. 22.

पहले नागेन्द्र **बनाम** किंग एम्परर ए. आई. आर. 1924 कलकत्ता 476 वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि जमानत को दंड के रूप में रोका नहीं जाना है । एम्परर **बनाम** हचिन्सन ए. आई. आर. 1931 इलाहाबाद 356 वाले मामले के प्रति भी निर्देश किया गया था जिसमें यह मत व्यक्त किया गया था कि जमानत मंजूर करना नियम है और उससे इनकार करना अपवाद है । अतः जमानत से संबंधित उपबंध प्राचीन है और जमानत से संबंधित उपबंध का उदार निर्वचन करना लगभग एक शताब्दी पुराना है जो कि औपनिवेशिक काल का है ।

7. तथापि, हमारे कहने का यह अर्थ नहीं लगाया जाना चाहिए कि जमानत प्रत्येक मामले में मंजूर की जानी चाहिए । जमानत मंजूर करना या उससे इनकार करना संपूर्णतः उस न्यायाधीश के विवेकाधिकार के भीतर आता है जो मामले की सुनवाई कर रहा है और यद्यपि वह विवेकाधिकार निरंकुश है तथापि, इसका प्रयोग न्यायसम्मत रूप से और मानवीय रीति में और सहानुभूतिपूर्वक किया जाना चाहिए । इसके अलावा, जमानत मंजूर करने से संबंधित शर्तें इतनी कठोर नहीं होनी चाहिए जिससे कि उनका अनुपालन करना अक्षम हो, जिससे जमानत मंजूर करना अवास्तविक हो जाए ।"

33. उपर्युक्त मामले के तथ्यों को ध्यान में रखते हुए, न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि विचारण न्यायालय तथा उच्च न्यायालय को अपीलार्थी को जमानत मंजूर करने के अपने विवकाधिकार का प्रयोग करना चाहिए था । इस न्यायालय ने, उपर्युक्त परिस्थितियों में उस मामले में के अपीलार्थी को जमानत मंजूर कर दी । इस न्यायालय द्वारा जमानत मंजूर करने या उससे इनकार करने के संबंध में यथा-अधिकथित प्रतिपादना के बारे में कोई विवाद नहीं हो सकता है जो कि सुस्थापित हैं । जैसा कि इस न्यायालय द्वारा उपर्युक्त मामले में अधिकथित किया गया है, जमानत मंजूर करने संबंधी विवेकाधिकार का प्रयोग न्यायसम्मत रूप से और मानवीय रीति में तथा सहानुभूतिपूर्वक किया जाना चाहिए ।

34. अपीलार्थी की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् ज्येष्ठ काउन्सेल श्री मुकुल रोहतगी ने यह निवेदन किया है कि चूंकि अपीलार्थी ने केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के विशेष न्यायाधीश के समक्ष भी बंधपत्र स्वीकार करके उसे स्वतंत्र करने का अनुरोध किया है इसलिए अपीलार्थी को जमानत पर छोड़ दिया जाए । उन्होंने आगे यह निवेदन किया है कि

अपीलार्थी ऐसा व्यक्ति है जो कि 60 प्रतिशत निशक्त है । उन्होंने आगे यह निवेदन किया है कि जिस हानि का प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में अभिकथन किया गया है वह सुरक्षित है और यह न्यायालय अपीलार्थी की जमानत मंजूर करने में अपनी अधिकारिता का प्रयोग कर सकता है ।

35. प्रस्तुत कार्यवाही में दो ऐसे कारण हैं जिसके कारण हम अपीलार्थी के इस अनुरोध को स्वीकार करने में असमर्थ हैं कि अपीलार्थी की जमानत के मामले पर विचार किया जाए । प्रथमतः, इस न्यायालय ने पूर्ववर्ती दो अवसरों पर अपीलार्थी को विचारण न्यायालय के समक्ष जमानत के लिए आवेदन करने की स्वतंत्रता प्रदान की थी और अपीलार्थी ने विचारण न्यायालय के समक्ष जमानत के लिए कोई आवेदन फाइल नहीं किया है और उसने दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 88 के अधीन बंधपत्र स्वीकार करके उसे रिहा करने पर जोर दिया है । द्वितीयतः, इस मामले के तथ्यों के आधार पर, सर्वप्रथम विचारण न्यायालय को अपीलार्थी की जमानत मंजूर करने संबंधी प्रार्थना पर विचार करना है । अतः, हमारा यह मत है कि अपीलार्थी जैसे ही कोई जमानत आवेदन फाइल करता है, विचारण न्यायालय द्वारा उस पर निःशक्तता संबंधी उसके दावे और अन्य सुसंगत आधारों पर विचार करने के पश्चात्, जिन पर अपीलार्थी द्वारा जोर दिया जाता है या उसके समक्ष जोर दिया जा सकता है, तुरंत विचार किया जाएगा ।

36. इन मताभिव्यक्तियों के साथ, इस अपील का निपटारा किया जाता है ।

तद्नुसार अपील का निपटारा किया गया ।

ग्रो.

[2018] 3 उम. नि. प. 283

बन्नारेड्डी और अन्य

बनाम

कर्नाटक राज्य और अन्य

12 मार्च, 2018

न्यायमूर्ति एन. वी. रमना और न्यायमूर्ति अब्दुल नज़ीर

दंड संहिता, 1860 (1860 का 45) – धारा 148, 341, 504 और 326/149 – अभियुक्तों द्वारा आहत व्यक्तियों पर हमला – आपसी दुश्मनी – आहत और अन्य साक्षियों के कथनों में विरोधाभास – दोषमुक्ति – **जहां घटना के वृत्तांत के संबंध में आहत साक्षियों के साथ-साथ अन्य साक्षियों के कथनों में विरोधाभास हो, कतिपय साक्षी पक्षद्रोही हो गए हों और आहत व्यक्तियों तथा अभियुक्तों के बीच पहले से चली आ रही दुश्मनी का तथ्य विद्यमान हो तथा आहत व्यक्तियों का घटना के पश्चात् का आचरण संदेहास्पद हो, तो मामला युक्तियुक्त संदेह के परे साबित न होने के कारण अभियुक्तों की दोषमुक्ति उचित है ।**

इस मामले के तथ्य इस प्रकार हैं कि तारीख 29 अगस्त, 2008 को जब ग्रामोत्सव चल रहा था, तब अभियुक्त सं. 2 (धर्मारेड्डी) ने अभि. सा. 2 (हेमारेड्डी) के साथ झगड़ा किया, जिसमें अभियुक्त सं. 2 ने अभि. सा. 2 (हेमारेड्डी) को समाप्त कर देने की धमकी दी, किंतु यह झगड़ा वहां मौजूद व्यक्तियों द्वारा शांत करा दिया गया । उसी दिन जब अभि. सा. 5 (संजीवरेड्डी), अभि. सा. 2 (हेमारेड्डी) और अभि. सा. 3 (लिंगारेड्डी) अपने मकान पर जा रहे थे, तब लगभग 9.30 बजे अपराह्न में अभियुक्त व्यक्ति लोहे की छड़ों, लाठियों आदि से लैस होकर उनके पास आए और उन्हें गालियां देने लगे तथा उन्हें घेर लिया । उसके पश्चात्, उन्होंने आहतों अर्थात् अभि. सा. 5 (संजीवरेड्डी), अभि. सा. 2 (हेमारेड्डी) और अभि. सा. 3 (लिंगारेड्डी) पर हमला करना आंरभ कर दिया । कई साक्षियों ने बीच-बचाव किया और तुरंत शिकायतकर्ता तथा अन्य आहतों का बचाव किया । क्योंकि अभि. सा. 2 और अभि. सा. 3 क्षतिग्रस्त हो गए थे, इसलिए उन्हें नावलगुंड राजकीय अस्पताल और बाद में केआईएमएस अस्पताल ले जाया गया और उसके पश्चात् उन्हें सुश्रुत मल्टी स्पेशियल्टी नर्सिंग होम स्थानांतरित किया गया । शिकायतकर्ता अभि. सा. 5 (संजीवरेड्डी) ने पुलिस को एक शिकायत दी जिसे तारीख 29

अगस्त, 2008 को अभियुक्तों के विरुद्ध भारतीय दंड संहिता की धारा 149 के साथ पठित धारा 143, 147, 148, 323, 324, 341, 307, 504 और 506 के अधीन 2008 के अपराध सं. 194 के रूप में रजिस्ट्रीकृत किया गया । विचारण न्यायालय मौखिक और अभिलेख पर उपलब्ध दस्तावेजी साक्ष्य का सावधानीपूर्वक परिशीलन करने के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि अभियोजन पक्ष अभियुक्तों के विरुद्ध अभिकथित अपराधों को युक्तियुक्त संदेह के परे साबित करने में असफल रहा है । इसलिए, अभियुक्तों को उक्त अपराधों के लिए दोषमुक्त कर दिया । उसके पश्चात्, राज्य ने विचारण न्यायालय द्वारा पारित किए गए दोषमुक्ति के उपरोक्त आदेश के विरुद्ध उच्च न्यायालय में दांडिक अपील फाइल की, जिसमें उच्च न्यायालय ने विचारण न्यायालय द्वारा पारित किए गए दोषमुक्ति के आदेश को उलटते हुए अभियुक्तों को भारतीय दंड संहिता की धारा 149 के साथ पठित धारा 148, 341, 504 और 326 के अधीन दोषसिद्ध किया । अभियुक्त-अपीलार्थियों ने उच्च न्यायालय के दोषसिद्धि के उपरोक्त आदेश से व्यथित होकर उच्चतम न्यायालय में अपील फाइल की । उच्चतम न्यायालय द्वारा अपील मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित – विचारण न्यायालय ने हमला करने की घटना और अभियुक्त व्यक्तियों की भागीदारी के संबंध में अभि. सा. 1 और अभि. सा. 2 द्वारा किए गए कथनों में विरोधाभास होने का ठीक ही उल्लेख किया है । ये विरोधाभास तात्विक हैं और इन्हें अनदेखा नहीं किया जा सकता है । इसी प्रकार, अभि. सा. 3 और अभि. सा. 5 के कथनों का परिशीलन के पश्चात् इस न्यायालय ने यह पाया कि घटना और विभिन्न अभियुक्त व्यक्तियों द्वारा निभाई गई भूमिका के बारे में विरोधाभास विद्यमान हैं । विचारण न्यायालय ने इस पहलू पर ठीक प्रकार से निष्कर्ष निकाला है । इसके अतिरिक्त, यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि उपरोक्त साक्षियों ने यह कथन किया है कि उपरोक्त घटना के कई प्रत्यक्षदर्शी साक्षी थे जिन्होंने हमला रोकने के लिए बीच-बचाव किया था, किंतु अभि. सा. 1 (सिद्दप्पा) और अभि. सा. 13 (मंजूरेड्डी) के सिवाय अन्य साक्षी पक्षद्रोही हो गए थे । अन्य आहतों के अतिरिक्त, अभि. सा. 1 (सिद्दप्पा) उक्त घटना का एकमात्र साक्षी रह जाता है, किंतु यह उल्लेखनीय है कि उन सभी के द्वारा किए गए कथन एक-दूसरे के अनुरूप नहीं हैं, बल्कि कृत्य कारित करने से संबंधित तात्विक बिंदुओं पर ही उनमें भिन्नता है । इस बात को ध्यान में रखते हुए, इन कथनों का अवलंब लेना समुचित नहीं है । अभियोजन पक्ष के वृत्तांत में एक अन्य बड़ा विरोधाभास, जिसका विचारण

न्यायालय द्वारा ठीक ही उल्लेख किया गया है, वह अभि. सा. 14 (वर्धमानगौड़ा) का कथन है, जिसने, प्रत्यक्षदर्शी साक्षियों के अनुसार, उक्त लड़ाई में बीच-बचाव किया था क्योंकि यह लड़ाई उसके मकान के पड़ोस में हो रही थी । किंतु, अभि. सा. 14 ने उपरोक्त वृत्तांत के बिल्कुल प्रतिकूल यह कथन किया कि वह उक्त तारीख को गांव से बाहर गया हुआ था और रात्रि में लगभग 11.00 बजे गांव वापस लौटने पर उसे उक्त घटना के बारे में पता चला था । यह उल्लेखनीय है कि आहत व्यक्तियों के कतिपय कृत्य अस्वाभाविक थे, जिनसे इस न्यायालय के मन में संदेह हो रहा है और इनमें विनिर्दिष्ट रूप से घटना के पश्चात् उनका व्यवहार है । यह एक स्वीकृत तथ्य है कि उक्त घटना के पश्चात् आहत व्यक्तियों को राजकीय अस्पताल, नावलगुंड ले जाया गया था । चूंकि अभि. सा. 5 (संजीवरेड्डी) को उसके दाएं कंधे पर साधारण क्षतियां पहुंची थीं और उसके संबंध में उसे किसी आगे के उपचार के लिए रेफर नहीं किया गया था । अभि. सा. 2 और अभि. सा. 3 को उनके सिर में क्षतियां पहुंचने के कारण आगे के उपचार के लिए केआईएमएस अस्पताल, हुबली रेफर किया गया था । किंतु विचारण न्यायालय ने यह पाया कि इस आशय के लिए आहत व्यक्तियों के भर्ती होने या उपचार से संबंधित कोई दस्तावेज या प्रमाणपत्र अभिलेख पर प्रस्तुत नहीं किए गए थे । विचारण न्यायालय ने ठीक ही यह उल्लेख किया है कि अभि. सा. 19 (डा. मिथुन सत्तुर) ने, जिसने सुविख्यात केआईएमएस अस्पताल में और बाद में सुश्रुत अस्पताल दोनों में आहत व्यक्तियों का उपचार किया था, यह स्वीकार किया कि केआईएमएस अस्पताल आहत व्यक्तियों का उपचार करने के लिए सुसज्जित है, तो भी यह बात अस्पष्ट है कि आहत व्यक्तियों को सुश्रुत अस्पताल में स्थानांतरित करने के लिए क्यों कहा गया था । इस बात को स्पष्ट करने के लिए कोई दस्तावेज प्रस्तुत नहीं किए गए हैं । आहत व्यक्तियों द्वारा प्रस्तुत किए गए चिकित्सीय साक्ष्यों से यह साबित होता है कि उन्हें कोई घातक क्षतियां नहीं पहुंची थी । ऐसी परिस्थितियों में, यह अति संदिग्ध बात है कि आहत, विशिष्ट रूप से अभि. सा. 5 (संजीवरेड्डी) को, केआईएमएस अस्पताल से किसी चिकित्सा अधिकारी द्वारा रेफर न करने के बावजूद सुश्रुत मल्टी स्पेशियलिटी अस्पताल में क्यों स्थानांतरित किया गया था । विचारण न्यायालय ने तद्द्वारा यह पाया कि आहत अभियुक्त-अपीलार्थियों के विरुद्ध अपराध में फंसाने वाले साक्ष्य सृजित करने की कोशिश कर रहे थे । (पैरा 17, 18, 19 और 21)

भारतीय दंड संहिता, 1860 की धारा 149 के अधीन अभियुक्तों की दोषिता पर विचार करने पर अभियोजन पक्ष सभी अभियुक्त व्यक्तियों की अंतर्ग्रस्तता को सिद्ध करने में असफल रहा है । यद्यपि कतिपय अभियुक्तों, जैसे कि अभियुक्त सं. 1 (बन्नारेड्डी) और अभियुक्त सं. 2 (धर्मारेड्डी), के स्पष्ट कृत्यों का आहत व्यक्तियों और अन्य साक्षियों के कथनों में उल्लेख किया गया है । किंतु शेष अभियुक्तों की भारतीय दंड संहिता की धारा 149 के अधीन दोषिता को सिद्ध करने के लिए उनकी आपराधिक मनःस्थिति या आपराधिक कृत्य होना नहीं समझा जा सकता है । विचारण न्यायालय ने ठीक ही यह मत व्यक्त किया है कि सामग्री की बरामदगी के संबंध में मज़हर साक्षियों द्वारा किए गए कथनों का अवलंब नहीं लिया जा सकता है क्योंकि वे पक्षद्रोही हो गए हैं । यहां तक कि रक्त से सन्नी कीचड़ की बरामदगी भी इस तथ्य पर विचार करते हुए संदिग्ध प्रतीत होती है कि घटना की कथित तारीख को स्वीकृत रूप से बूंदाबांदी हो रही थी और हजारों श्रद्धालु मेला देखने आए हुए थे । ऐसी परिस्थितियों में, यह बात अति असंभाव्य है कि रक्त के नमूने अगले दिन एकत्रित किए जा सके होंगे । उच्च न्यायालय ने अभि. सा. 3 के कथन का अवलंब लिया है, जिसमें इस साक्षी ने यह कथन किया है कि शेष अभियुक्त क्षतिग्रस्त व्यक्तियों को उन पर हमला करने में सहायता करने के लिए आयुधों से लैस अभियुक्त व्यक्तियों के पास खींच कर ला रहे थे । यह अभिकथन बहुत ही व्यापक है और अस्पष्ट रीति में किया गया है और किसी अन्य साक्ष्य द्वारा इसका समर्थन नहीं होता है । अभियुक्त व्यक्तियों की आपराधिकता को साबित करने के लिए एकमात्र रूप से आहत व्यक्तियों के साक्ष्य का अवलंब लेना समुचित नहीं होगा । इसलिए, विचारण न्यायालय ने ठीक ही यह अभिनिर्धारित किया है कि जब इन अभियुक्तों को किसी प्रत्यक्ष कृत्य के साथ सहयुक्त नहीं किया जा सका है, तो भारतीय दंड संहिता की धारा 149 लागू नहीं होगी । प्रस्तुत मामले में, जब घटना के बारे में तथ्यों और अभियुक्तों की भूमिका को युक्तियुक्त संदेह के परे साबित नहीं किया जा सका है, तो चाहे घटना के पीछे हेतु चाहरदिवारी के संबंध में विवाद हो या राजनैतिक प्रतिद्वन्द्विता, यह बात असंगत हो जाती है । उच्च न्यायालय इस तथ्य पर विचार करने में असफल रहा है कि अभिग्रहण पंचनामा के पंच साक्षी पक्षद्रोही हो गए थे । यद्यपि अन्वेषक अधिकारी ने आयुध अभिगृहीत किए थे और आहत व्यक्तियों तथा कतिपय साक्षियों द्वारा उनकी शनाख्त की गई थी, तथापि, यह उल्लेख करना प्रासंगिक है कि अभि. सा. 1

और अभि. सा. 13 को छोड़कर सभी साक्षी पक्षद्रोही हो गए थे । यद्यपि अभि. सा. 1 (सिद्दप्पा) ने अपनी प्रति-प्रतीक्षा में यह कथन किया कि वह तात्विक वस्तु सं. 1 और 2 में के आयुधों की शनाख्त कर सकता है क्योंकि उसने उन्हें देखा था, किंतु इस साक्षी ने स्वयं अपने कथन का यह कहते हुए खंडन किया कि वह अपराध में प्रयुक्त आयुधों की कोई विशेष विशिष्टता नहीं बता सकता है । इसके अतिरिक्त, अभि. सा. 13 ने भी इन्हीं आयुधों की शनाख्त हमले में प्रयुक्त आयुधों के रूप में की थी । किंतु अभि. सा. 13 की अभि. सा. 3 के साथ नातेदारी होने की बात पर विचार करते हुए इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि अभि. सा. 13 एक हितबद्ध साक्षी प्रतीत होता है । ऐसी परिस्थितियों में, जहां पंच साक्षी पक्षद्रोही हो गए हों, वहां अभियुक्त व्यक्तियों की दोषिता को सिद्ध करने के लिए इन आयुधों की बरामदगी का अवलंब लेना सुरक्षित नहीं है । इसके अतिरिक्त, हमें रक्त के नमूने एकत्रित करने के बारे में भी संदेह है, विशेष रूप से जब यह एक स्वीकृत तथ्य है कि घटना एक किचड़ वाली सड़क पर तब घटी थी जब सारे समय बूंदाबांदी होती रही थी और इसके अतिरिक्त गांव में मेले में उपस्थित हजारों श्रद्धालु मौजूद थे । ऐसी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए, रक्त के नमूने एकत्रित करने की बात असंभाव्य प्रतीत होती है । इस मामले के तथ्यों और परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए, यह न्यायालय अभिनिर्धारित करता है कि अभियोजन पक्ष अभियुक्त व्यक्तियों की दोषिता को युक्तियुक्त संदेह के परे सिद्ध करने में असफल रहा है । इसके अतिरिक्त, उच्च न्यायालय को साक्ष्यों का समग्र रूप में पुनर्मूल्यांकन नहीं करना चाहिए था, विशेष रूप से जब विचारण न्यायालय के निष्कर्षों में कोई गंभीर कमी विद्यमान नहीं है । विचारण न्यायालय द्वारा पारित किए गए दोषमुक्ति के आदेश को अपास्त करने का कोई न्यायौचित्य नहीं है, विशेष रूप से जब अभियोजन का पक्षकथन कई विरोधाभासों और कमियों से ग्रस्त है । अभियुक्त व्यक्तियों की भूमिका और अंतर्ग्रस्तता के संबंध में किसी विनिर्दिष्ट प्रकथन को साबित नहीं किया जा सका है । (पैरा 22, 23, 24, 26 और 27)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[2011]	(2011) 2 एस. सी. सी. 490 : **रबिन्दर कुमार पाल** उर्फ **दारा सिंह** बनाम **भारत गणराज्य** ;	12

[2008] (2008) 11 एस. सी. सी. 186 :
संभाजी हिंदूराव देशमुख और अन्य बनाम
महाराष्ट्र राज्य । 11

अपीली (दांडिक) अधिकारिता : 2018 की दांडिक अपील सं. 382.

2014 की दांडिक अपील सं. 100108 में कर्नाटक उच्च न्यायालय, धारवाड़ पीठ के तारीख 29 नवम्बर, 2017 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध संविधान, 1950 के अनुच्छेद 136 के अधीन अपील ।

अपीलार्थियों की ओर से सर्वश्री एच. एन. नागमोहन दास, ज्येष्ठ अधिवक्ता, सी. एम. अंगाडी, बी. वी. सोमापुर और रामेश्वर प्रसाद गोयल

प्रत्यर्थियों की ओर से सर्वश्री जोसफ अरिस्टोटल एस., आशीष यादव, एन. डी. बी. राजू, (सुश्री) कृष्णा बिपिन और उदय दूबे

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति एन. वी. रमना ने दिया ।

न्या. रमना – इजाजत दी गई ।

2. यह अपील विशेष इजाजत लेकर 2014 की दांडिक अपील सं. 100108 में कर्नाटक उच्च न्यायालय, धारवाड़ पीठ द्वारा तारीख 29 नवम्बर, 2017 को पारित किए गए निर्णय और आदेश के विरुद्ध फाइल की गई है ।

3. अपीलार्थियों को आक्षेपित निर्णय द्वारा निम्नलिखित रीति में दोषसिद्ध किया गया था –

(i) भारतीय दंड संहिता की धारा 149 के साथ पठित धारा 148 के अधीन 18 माह का साधारण कारावास भुगतने और 3,000/- रुपए के जुर्माने का संदाय करने का दंडादेश दिया गया है तथा जुर्माने के संदाय में व्यतिक्रम करने पर उन्हें एक माह का अतिरिक्त साधारण कारावास भुगतना होगा ।

(ii) भारतीय दंड संहिता की धारा 149 के साथ पठित धारा 341 के अधीन पंद्रह दिन की अवधि के लिए साधारण कारावास भुगतने का दंडादेश दिया गया है और 200/- रुपए का जुर्माना

अधिरोपित किया गया है तथा जुर्माने के संदाय में व्यतिक्रम करने पर उन्हें एक सप्ताह की अवधि के लिए अतिरिक्त साधारण कारावास भुगतना होगा ।

(iii) भारतीय दंड संहिता की धारा 149 के साथ पठित धारा 504 के अधीन एक वर्ष का साधारण कारावास भुगतने का दंडादेश दिया गया है और 1,000/- रुपए का जुर्माना अधिरोपित किया गया है तथा जुर्माने के संदाय में व्यतिक्रम करने पर उन्हें पंद्रह दिन की अवधि के लिए अतिरिक्त साधारण कारावास भुगतना होगा ।

(iv) भारतीय दंड संहिता की धारा 149 के साथ पठित धारा 326 के अधीन प्रत्येक अभियुक्त को चार वर्ष की अवधि के लिए साधारण कारावास भुगतने का भी दंडादेश दिया गया है और वे 6,000/- रुपए के जुर्माने का भी संदाय करेंगे तथा जुर्माने के संदाय में व्यतिक्रम करने पर उन्हें दो माह की अवधि के लिए साधारण कारावास भुगतना होगा ।

4. मामले के गुणागुण पर विचार करने और इसका विश्लेषण करने से पूर्व हमें अभियोजन के पक्षकथन को संक्षेप में निर्दिष्ट करना होगा । तारीख 29 अगस्त, 2008 को जब ग्रामोत्सव चल रहा था, अभियुक्त सं. 2 (धर्मारेड्डी) ने अभि. सा. 2 (हेमारेड्डी) के साथ झगड़ा किया, जिसमें अभियुक्त सं. 2 ने अभि. सा. 2 (हेमारेड्डी) को समाप्त कर देने की धमकी दी, किंतु यह झगड़ा वहां मौजूद व्यक्तियों द्वारा शांत करा दिया गया । उसी दिन जब अभि. सा. 5 (संजीवरेड्डी), अभि. सा. 2 (हेमारेड्डी) और अभि. सा. 3 (लिंगारेड्डी) अपने मकान पर जा रहे थे, तब लगभग 9.30 बजे अपराह्न में अभियुक्त व्यक्ति लोहे की छड़ों, लाठियों आदि से लैस होकर उनके पास आए और उन्हें गालियां देने लगे तथा उन्हें घेर लिया । उसके पश्चात्, उन्होंने आहतों अर्थात् अभि. सा. 5 (संजीवरेड्डी), अभि. सा. 2 (हेमारेड्डी) और अभि. सा. 3 (लिंगारेड्डी) पर हमला करना आंरभ कर दिया । कई साक्षियों ने बीच-बचाव किया और तुरंत शिकायतकर्ता तथा अन्य आहतों का बचाव किया । क्योंकि अभि. सा. 2 और अभि. सा. 3 क्षतिग्रस्त हो गए थे, इसलिए उन्हें नावलगुंड राजकीय अस्पताल और बाद में केआईएमएस अस्पताल ले जाया गया और उसके पश्चात् उन्हें सुश्रुत मल्टी स्पेशियलटी नर्सिंग होम स्थानांतरित किया गया ।

5. शिकायतकर्ता अभि. सा. 5 (संजीवरेड्डी) ने पुलिस को एक शिकायत दी जिसे तारीख 29 अगस्त, 2008 को अभियुक्तों के विरुद्ध

भारतीय दंड संहिता की धारा 149 के साथ पठित धारा 143, 147, 148, 323, 324, 341, 307, 504 और 506 के अधीन 2008 के अपराध सं. 194 के रूप में रजिस्ट्रीकृत किया गया । उसके पश्चात्, तारीख 30 अगस्त, 2008 को सवेरे अभि. सा. 6 (देवारेड्डी) और अभि. सा. (फकीरारेड्डी) की मौजूदगी में अभियुक्त-अपीलार्थी (बन्नारेड्डी) के कब्जे से लाठियां और लोहे की छड़ें बरामद की गईं । उसी दिन अभियुक्त-अपीलार्थी सं. 1 के कब्जे से पंच साक्षियों की मौजूदगी में रक्तरंजित वस्त्र बरामद किए गए । अभि. सा. 7 और अभि. सा. 8 की मौजूदगी में क्षतिग्रस्त लिंगारेड्डी के कब्जे से रक्तरंजित वस्त्र बरामद किए गए । स्थल मज़हर किया गया और मज़हर साक्षियों की मौजूदगी में रक्त से सन्नी मिट्टी के नमूने रासायनिक विश्लेषण के लिए एकत्रित किए गए ।

6. विचारण न्यायालय मौखिक और अभिलेख पर उपलब्ध दस्तावेजी साक्ष्य का सावधानीपूर्वक परिशीलन करने के पश्चात् तारीख 18 जनवरी, 2014 के निर्णय द्वारा इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि अभियोजन पक्ष अभियुक्तों के विरुद्ध अभिकथित अपराधों को युक्तियुक्त संदेह के परे साबित करने में असफल रहा है । इसलिए, अभियुक्तों को भारतीय दंड संहिता की धारा 149 के साथ पठित धारा 143, 147, 148, 341, 504 और 307 के अधीन दंडनीय अपराधों के लिए दोषमुक्त कर दिया ।

7. उसके पश्चात्, राज्य ने विचारण न्यायालय द्वारा पारित किए गए दोषमुक्ति के उपरोक्त आदेश के विरुद्ध उच्च न्यायालय में 2014 की दांडिक अपील सं. 100108 फाइल की, जिसमें उच्च न्यायालय ने विचारण न्यायालय द्वारा पारित किए गए दोषमुक्ति के आदेश को उलटते हुए अभियुक्तों को भारतीय दंड संहिता की धारा 149 के साथ पठित धारा 148, 341, 504 और 326 के अधीन दोषसिद्ध किया । इसलिए, अभियुक्त-अपीलार्थियों ने दोषसिद्धि के उपरोक्त आदेश से व्यथित होकर इस न्यायालय में समावेदन किया है ।

8. अपीलार्थियों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेल ने हमारे समक्ष यह दलील दी कि अभियोजन का पक्षकथन विरोधाभासों से भरा पड़ा है और अभिलेख पर उपलब्ध तात्विक साक्ष्य अत्यधिक विसंगत है तथा दोषमुक्ति के आदेश को उलटने वाला उच्च न्यायालय का आदेश असंधार्य है । विद्वान् काउंसेल ने हमें पक्षकारों के बीच हुए एक समझौते के विद्यमान होने के बारे में भी अवगत कराया, किंतु विधि के अधीन इस समझौते को प्रवृत्त करना और अपराध का शमन करना संभव नहीं है

क्योंकि आरोपित अपराध दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 320 के अधीन शमनीय नहीं हैं ।

9. इसके विपरीत, राज्य की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेल ने अभियुक्त-अपीलार्थियों को दोषसिद्ध करने वाले उच्च न्यायालय के निर्णय का समर्थन किया ।

10. दोनों काउंसेलों को सुना । चूंकि अभिकथित अपराध शमनीय नहीं हैं, इसलिए इस तथ्य के होते हुए कि पक्षकारों ने समझौता कर लिया है, हम मामले पर गुणागुण के आधार पर विचार करेंगे ।

11. इससे पूर्व कि हम उच्च न्यायालय के निष्कर्ष का परिशीलन करने के लिए अग्रसर हों, उच्च न्यायालय की दोषमुक्ति के विरुद्ध अपील में हस्तक्षेप करने की शक्ति और अधिकारिता की चर्चा करना सुसंगत है । विधि का यह सुस्थिर सिद्धांत है कि उच्च न्यायालय को विचारण न्यायालय के ऐसे सकारण आदेश में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए जो साक्ष्य का उचित रूप से मूल्यांकन करने के पश्चात् पारित किया गया हो । उच्च न्यायालय को विचारण न्यायालय द्वारा निकाले गए परिणामों और निष्कर्षों को यथोचित श्रेय देना चाहिए, जब तक स्वयं साक्ष्य में ऐसे प्रबल और आबद्धकारी कारण विद्यमान न हों जिनसे निष्कर्षों पर ही विश्वास न किया जा सकता हो । इस सिद्धांत को **संभाजी हिंदूराव देशमुख और अन्य** बनाम **महाराष्ट्र राज्य**[1] वाले मामले में के पैरा 13 में और अधिक स्पष्ट किया गया है, जिसमें इस न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया है कि :–

> "......उच्च न्यायालय दोषमुक्तियों के विरुद्ध अपीलों में केवल वहां हस्तक्षेप करेगा, जहां विचारण न्यायालय ने तात्विक तथ्यों की गलत अवधारणा की है या साक्ष्य का उचित रूप से मूल्यांकन करने में असफल रहा है । यदि अभिलेख पर के साक्ष्य से युक्तियुक्त रूप से दो मत संभव हों जिनमें से एक अभियुक्त के पक्ष में हो और एक अभियुक्त के विरुद्ध हो, तो उच्च न्यायालय से यह प्रत्याशा नहीं की जाती है कि वह दोषमुक्ति को केवल इस कारण उलट दे कि यदि उसने विचारण किया होता तो वह अभियुक्त के विरुद्ध मत को अपनाता । जब तथ्य यह हो कि दो मत संभव हैं, इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अभियोजन पक्ष ने अभियुक्त की दोषिता को युक्तियुक्त संदेह के परे साबित नहीं किया है और परिणामस्वरूप अभियुक्त संदेह

[1] (2008) 11 एस. सी. सी. 186.

के फायदे का हकदार है ।"

12. इस बारे में कोई विवाद नहीं है कि दोषमुक्त किए गए अभियुक्त के विरुद्ध निर्दोषिता की उपधारणा उसके पक्ष में निर्णय द्वारा और अधिक सुदृढ़, पुनःअभिपुष्ट और मजबूत हो जाती है । (**रबिन्दर कुमार पाल** उर्फ **दारा सिंह** बनाम **भारत गणराज्य**[1] वाले मामले का पैरा 94 देखे) ।

13. उपरोक्त सुस्थिर सिद्धांतों को ध्यान में रखते हुए, हम साक्ष्य की यह परीक्षा और विश्लेषण करने के लिए अग्रसर होंगे कि क्या विचारण न्यायालय के आदेश में उच्च न्यायालय का हस्तक्षेप न्यायोचित है या नहीं ।

14. प्रथमतः, कतिपय साक्षियों के कथनों पर दृष्टिपात करना समुचित होगा ।

15. अभि. सा. 1, सिद्दप्पा डोडामणि ने यह कथन किया कि उक्त घटना की तारीख को जब वह मंदिर के नजदीक था, तब उसने अभियुक्त व्यक्तियों को छड़ों और लाठियों से लैस होकर आहतों के मकान की ओर जाते हुए देखा । इसलिए वह उत्सुकतावश उनके पीछे-पीछे गया और देखा कि अभियुक्त आहत व्यक्तियों को गालियां दे रहे थे । उक्त झगड़े के दौरान अभियुक्त सं. 1 ने संजीवरेड्डी पर उसके कंधों और बाईं टांग पर लाठी से हमला किया और अभियुक्त सं. 7 (रामप्पा) ने लाठी से उसके शरीर पर प्रहार करके उस पर हमला किया । अभियुक्त सं. 2 (धर्मरेड्डी) और अभियुक्त सं. 8 (वेंकारेड्डी) ने लोहे की छड़ से अभि. सा. 2 (हेमारेड्डी) पर उसके बाएं कंधे और बाएं हाथ पर हमला किया । यह भी कथन किया गया कि अन्य अभियुक्त व्यक्तियों ने भी आहतों पर हमला किया । उसके पश्चात् उसने अभि. सा. 14 (वर्धमानगौड़ा), अभि. सा. 15 (सुनील), अभि. सा. 16 (याल्लप्पा), अभि. सा. 4 (शिवारेड्डी), अभि. सा. 13 (मंजूररेड्डी) और अभि. सा. 6 (देवरेड्डी) के साथ आहतों को बचाने के लिए बीच-बचाव किया । यह उल्लेख करना प्रासंगिक है कि अभि. सा. 1 ने अपनी प्रति-परीक्षा के दौरान अपनी मुख्य-परीक्षा में किए गए उपरोक्त कथनों के प्रतिकूल कथन किया है ।

16. आहत अभि. सा. 2 (हेमारेड्डी) ने यह कथन किया कि तारीख 29 अगस्त, 2008 को अभियुक्त सं. 2 (धर्मारेड्डी) ने सायंकाल में लगभग 5.00 बजे हनुमान मंदिर के निकट उसके साथ गाली-गलौज की और जान से मारने की धमकी दी, किंतु अभि. सा. 4 (शिवारेड्डी) और अभि.

---

[1] (2011) 2 एस. सी. सी. 490.

सा. 16 (येल्लप्पा) के बीच-बचाव से झगड़ा शांत हो गया । किंतु पुनः 9.30 बजे अपराह्न में उक्त अभियुक्त व्यक्तियों ने अभि. सा. 14 (वर्धमानगौड़ा) के मकान के निकट आहतों को पकड़ लिया और पक्षकारों के बीच लंबित विवाद को लेकर आहतों के साथ गाली-गलौज करने लगे । उसके पश्चात्, अभियुक्त सं. 9 (मल्लारेड्डी) ने शिकायतकर्ता-अभि. सा. 5 (संजीवरेड्डी) पर, न कि अभि. सा. 2 (हेमारेड्डी) पर, हमला किया । अभियुक्त सं. 1 (बन्नारेड्डी) ने भी संजीवरेड्डी पर उसकी बाईं हथेली पर हमला किया । अभियुक्त सं. 7 (रामप्पा) ने लाठी से संजीवरेड्डी पर उसके सिर और शरीर के अन्य अंगों पर हमला किया । अभियुक्त सं. 3 (हनामरेड्डी) ने एक लोहे की छड़ से लिंगारेड्डी पर उसके हाथों और सिर पर हमला किया । अन्य अभियुक्त व्यक्ति आहतों को उन अन्य अभियुक्त व्यक्तियों की ओर खींच रहे थे जो लाठियों से लैस थे और उन्होंने उसके पश्चात् आहतों पर उनके सिर और शरीर पर हमला किया । अभियुक्त सं. 1 (बन्नारेड्डी) ने लोहे की छड़ से संजीवरेड्डी पर उसके बाएं हाथ और सिर पर हमला किया । अभि. सा. 11 (मक्तुमसाब), अभि. सा. 16 (येल्लप्पा हलावर), अभि. सा. 14 (वर्धमानगौड़ा), अभि. सा. 1 (सिद्दप्पा) अन्य व्यक्तियों के साथ उनके बचाव में आए । उसने (अभि. सा. 2) यह भी कथन किया कि चूंकि आहतों को क्षतियां पहुंची थी, इसलिए उसका भाई वेंकटरेड्डी उन्हें उपचार के लिए नावलगुंड सामान्य अस्पताल लेकर गया, उसके पश्चात् उन्हें केआईएमएस अस्पताल स्थानांतरित किया गया और वहां से छुट्टी होने के पश्चात् उन्हें सुश्रुत अस्पताल में भर्ती किया गया ।

17. विचारण न्यायालय ने हमला करने की घटना और अभियुक्त व्यक्तियों की भागीदारी के संबंध में अभि. सा. 1 और अभि. सा. 2 द्वारा किए गए कथनों में विरोधाभास होने का ठीक ही उल्लेख किया है । ये विरोधाभास तात्विक हैं और इन्हें अनदेखा नहीं किया जा सकता है ।

18. इसी प्रकार, अभि. सा. 3 और अभि. सा. 5 के कथनों का परिशीलन के पश्चात् हमने यह पाया कि घटना और विभिन्न अभियुक्त व्यक्तियों द्वारा निभाई गई भूमिका के बारे में विरोधाभास विद्यमान हैं । विचारण न्यायालय ने इस पहलू पर ठीक प्रकार से निष्कर्ष निकाला है । इसके अतिरिक्त, यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि उपरोक्त साक्षियों ने यह कथन किया है कि उपरोक्त घटना के कई प्रत्यक्षदर्शी साक्षी थे जिन्होंने हमला रोकने के लिए बीच-बचाव किया था, किंतु अभि. सा. 1 (सिद्दप्पा) और अभि. सा. 13 (मंजूरेड्डी) के सिवाय अन्य साक्षी पक्षद्रोही हो गए थे ।

अन्य आहतों के अतिरिक्त, अभि. सा. 1 (सिद्दप्पा) उक्त घटना का एकमात्र साक्षी रह जाता है, किंतु यह उल्लेखनीय है कि उन सभी के द्वारा किए गए कथन एक-दूसरे के अनुरूप नहीं हैं, बल्कि कृत्य कारित करने से संबंधित तात्विक बिंदुओं पर ही उनमें भिन्नता है । इस बात को ध्यान में रखते हुए, इन कथनों का अवलंब लेना समुचित नहीं है ।

19. अभियोजन पक्ष के वृत्तांत में एक अन्य बड़ा विरोधाभास, जिसका विचारण न्यायालय द्वारा ठीक ही उल्लेख किया गया है, वह अभि. सा. 14 (वर्धमानगौड़ा) का कथन है, जिसने, प्रत्यक्षदर्शी साक्षियों के अनुसार, उक्त लड़ाई में बीच-बचाव किया था क्योंकि यह लड़ाई उसके मकान के पड़ोस में हो रही थी । किंतु, अभि. सा. 14 ने उपरोक्त वृत्तांत के बिल्कुल प्रतिकूल यह कथन किया कि वह उक्त तारीख को गांव से बाहर गया हुआ था और रात्रि में लगभग 11.00 बजे गांव वापस लौटने पर उसे उक्त घटना के बारे में पता चला था ।

20. यद्यपि हेतु की बात प्रत्यक्ष साक्ष्य की मौजूदगी में असंगत हो जाती है, तथापि, अभियोजन पक्ष ने यह निवेदन किया कि अभियुक्त और आहत अलग-अलग राजनैतिक दलों के हैं और हमले के पीछे हेतु राजनैतिक प्रतिद्वन्द्विता हो सकती है । यद्यपि आहत अभि. सा. 14 (वर्धमानगौड़ा), जो घटना के समय पंचायत का अध्यक्ष था, के अनुयायी हैं, किंतु आश्चर्यजनक रूप से उसने अभियोजन के पक्षकथन का समर्थन नहीं किया है । इसके अतिरिक्त, यह उल्लेखनीय है कि अभियुक्त-अपीलार्थियों और शिकायतकर्ता-आहतों के बीच भूमि की चाहरदिवारी के संबंध में पहले से दुश्मनी थी । यह विवाद पिछले 10-15 वर्षों से चला आ रहा था, जिसे अन्य ग्रामवासियों के मध्यक्षेप से भी नहीं सुलझाया जा सका था ।

21. यह उल्लेखनीय है कि आहत व्यक्तियों के कतिपय कृत्य अस्वाभाविक थे, जिनसे हमारे मन में संदेह हो रहा है और इनमें विनिर्दिष्ट रूप से घटना के पश्चात् उनका व्यवहार है । यह एक स्वीकृत तथ्य है कि उक्त घटना के पश्चात् आहत व्यक्तियों को राजकीय अस्पताल, नावलगुंड ले जाया गया था । चूंकि अभि. सा. 5 (संजीवरेड्डी) को उसके दाएं कंधे पर साधारण क्षतियां पहुंची थी और उसके संबंध में उसे किसी आगे के उपचार के लिए रेफर नहीं किया गया था । अभि. सा. 2 और अभि. सा. 3 को उनके सिर में क्षतियां पहुंचने के कारण आगे के उपचार के लिए केआईएमएस अस्पताल, हुबली रेफर किया गया था । किंतु विचारण

न्यायालय ने यह पाया कि इस आशय के लिए आहत व्यक्तियों के भर्ती होने या उपचार से संबंधित कोई दस्तावेज या प्रमाणपत्र अभिलेख पर प्रस्तुत नहीं किए गए थे । विचारण न्यायालय ने ठीक ही यह उल्लेख किया है कि अभि. सा. 19 (डा. मिथुन सत्तुर) ने, जिसने सुविख्यात केआईएमएस अस्पताल में और बाद में सुश्रुत अस्पताल दोनों में आहत व्यक्तियों का उपचार किया था, यह स्वीकार किया कि केआईएमएस अस्पताल आहत व्यक्तियों का उपचार करने के लिए सुसज्जित है, तो भी यह बात अस्पष्ट है कि आहत व्यक्तियों को सुश्रुत अस्पताल में स्थानांतरित करने के लिए क्यों कहा गया था । इस बात को स्पष्ट करने के लिए कोई दस्तावेज प्रस्तुत नहीं किए गए हैं । आहत व्यक्तियों द्वारा प्रस्तुत किए गए चिकित्सीय साक्ष्यों से यह साबित होता है कि उन्हें कोई घातक क्षतियां नहीं पहुंची थी । ऐसी परिस्थितियों में, यह अति संदिग्ध बात है कि आहत, विशिष्ट रूप से अभि. सा. 5 (संजीवरेड्डी) को, केआईएमएस अस्पताल से किसी चिकित्सा अधिकारी द्वारा रेफर न करने के बावजूद सुश्रुत मल्टी स्पेशियलिटी अस्पताल में क्यों स्थानांतरित किया गया था । विचारण न्यायालय ने तद्द्वारा यह पाया कि आहत अभियुक्त-अपीलार्थियों के विरुद्ध अपराध में फंसाने वाले साक्ष्य सृजित करने की कोशिश कर रहे थे ।

22. इसके बाद, धारा 149 के अधीन अभियुक्तों की दोषिता पर विचार करते हैं । अभियोजन पक्ष सभी अभियुक्त व्यक्तियों की अंतर्ग्रस्तता को सिद्ध करने में असफल रहा है । यद्यपि कतिपय अभियुक्तों, जैसे कि अभियुक्त सं. 1 (बन्नारेड्डी) और अभियुक्त सं. 2 (धर्मरेड्डी), के स्पष्ट कृत्यों का आहत व्यक्तियों और अन्य साक्षियों के कथनों में उल्लेख किया गया है । किंतु शेष अभियुक्तों की भारतीय दंड संहिता की धारा 149 के अधीन दोषिता को सिद्ध करने के लिए उनकी आपराधिक मनःस्थिति या आपराधिक कृत्य होना नहीं समझा जा सकता है ।

23. विचारण न्यायालय ने ठीक ही यह मत व्यक्त किया है कि सामग्री की बरामदगी के संबंध में मज़हर साक्षियों द्वारा किए गए कथनों का अवलंब नहीं लिया जा सकता है क्योंकि वे पक्षद्रोही हो गए हैं । यहां तक कि रक्त से सन्नी किचड़ की बरामदगी भी इस तथ्य पर विचार करते हुए संदिग्ध प्रतीत होती है कि घटना की कथित तारीख को स्वीकृत रूप से बूंदाबांदी हो रही थी और हजारों श्रद्धालु मेला देखने आए हुए थे । ऐसी परिस्थितियों में, यह बात अति असंभाव्य है कि रक्त के नमूने अगले दिन एकत्रित किए जा सके होंगे ।

24. उच्च न्यायालय ने अभि. सा. 3 के कथन का अवलंब लिया है, जिसमें इस साक्षी ने यह कथन किया है कि शेष अभियुक्त क्षतिग्रस्त व्यक्तियों को उन पर हमला करने में सहायता करने के लिए आयुधों से लैस अभियुक्त व्यक्तियों के पास खींच कर ला रहे थे । यह अभिकथन बहुत ही व्यापक है और अस्पष्ट रीति में किया गया है और किसी अन्य साक्ष्य द्वारा इसका समर्थन नहीं होता है । अभियुक्त व्यक्तियों की आपराधिकता को साबित करने के लिए एकमात्र रूप से आहत व्यक्तियों के साक्ष्य का अवलंब लेना समुचित नहीं होगा । इसलिए, विचारण न्यायालय ने ठीक ही यह अभिनिर्धारित किया है कि जब इन अभियुक्तों को किसी प्रत्यक्ष कृत्य के साथ सहयुक्त नहीं किया जा सका है, तो भारतीय दंड संहिता की धारा 149 लागू नहीं होगी ।

25. उच्च न्यायालय इस तथ्य पर विचार करने में असफल रहा है कि अभिग्रहण पंचनामा के पंच साक्षी पक्षद्रोही हो गए थे । यद्यपि अन्वेषक अधिकारी ने आयुध अभिगृहीत किए थे और आहत व्यक्तियों तथा कतिपय साक्षियों द्वारा उनकी शनाख्त की गई थी, तथापि, यह उल्लेख करना प्रासंगिक है कि अभि. सा. 1 और अभि. सा. 13 को छोड़कर सभी साक्षी पक्षद्रोही हो गए थे । यद्यपि अभि. सा. 1 (सिद्दप्पा) ने अपनी प्रति-प्रतीक्षा में यह कथन किया कि वह तात्विक वस्तु सं. 1 और 2 में के आयुधों की शनाख्त कर सकता है क्योंकि उसने उन्हें देखा था, किंतु इस साक्षी ने स्वयं अपने कथन का यह कहते हुए खंडन किया कि वह अपराध में प्रयुक्त आयुधों की कोई विशेष विशिष्टता नहीं बता सकता है । इसके अतिरिक्त, अभि. सा. 13 ने भी इन्हीं आयुधों की शनाख्त हमले में प्रयुक्त आयुधों के रूप में की थी । किंतु अभि. सा. 13 की अभि. सा. 3 के साथ नातेदारी होने की बात पर विचार करते हुए इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि अभि. सा. 13 एक हितबद्ध साक्षी प्रतीत होता है । ऐसी परिस्थितियों में, जहां पंच साक्षी पक्षद्रोही हो गए हों, वहां अभियुक्त व्यक्तियों की दोषिता को सिद्ध करने के लिए इन आयुधों की बरामदगी का अवलंब लेना सुरक्षित नहीं है । इसके अतिरिक्त, हमें रक्त के नमूने एकत्रित करने के बारे में भी संदेह है, विशेष रूप से जब यह एक स्वीकृत तथ्य है कि घटना एक किचड़ वाली सड़क पर तब घटी थी जब सारे समय बूंदाबांदी होती रही थी और इसके अतिरिक्त गांव में मेले में उपस्थित हजारों श्रद्धालु मौजूद थे । ऐसी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए, रक्त के नमूने एकत्रित करने की बात असंभाव्य प्रतीत होती है ।

26. प्रस्तुत मामले में, जब घटना के बारे में तथ्यों और अभियुक्तों की भूमिका को युक्तियुक्त संदेह के परे साबित नहीं किया जा सका है, तो चाहे घटना के पीछे हेतु चाहरदिवारी के संबंध में विवाद हो या राजनैतिक प्रतिद्वन्द्विता, यह बात असंगत हो जाती है ।

27. इस मामले के तथ्यों और परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए, हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि अभियोजन पक्ष अभियुक्त व्यक्तियों की दोषिता को युक्तियुक्त संदेह के परे सिद्ध करने में असफल रहा है । इसके अतिरिक्त, उच्च न्यायालय को साक्ष्यों का समग्र रूप में पुनर्मूल्यांकन नहीं करना चाहिए था, विशेष रूप से जब विचारण न्यायालय के निष्कर्षों में कोई गंभीर कमी विद्यमान नहीं है । विचारण न्यायालय द्वारा पारित किए गए दोषमुक्ति के आदेश को अपास्त करने के पीछे कोई न्यायौचित्य नहीं है, विशेष रूप से जब अभियोजन का पक्षकथन कई विरोधाभासों और कमियों से ग्रस्त है । अभियुक्त व्यक्तियों की भूमिका और अंतर्ग्रस्तता के संबंध में किसी विनिर्दिष्ट प्रकथन को साबित नहीं किया जा सका है । इसके अतिरिक्त, स्वयं आहत-प्रत्यर्थियों के कतिपय कृत्य संदेहास्पद हैं, उदाहरण के लिए, उचित कारण के बिना बाद में अपने आप को एक मल्टी-स्पेशियलिटी अस्पताल में भर्ती कर लेना । हमारे ध्यान में यह बात भी लाई गई है कि प्रत्यर्थियों ने पहले ही समझौता कर लिया है और इस सीमा तक एक समझौता विलेख निष्पादित किया है, यद्यपि यह समझौता हमारे निष्कर्ष का आधार नहीं है ।

28. अतः, हम उच्च न्यायालय द्वारा पारित किए गए दोषसिद्धि के आदेश को अपास्त करते हैं और विचारण न्यायालय द्वारा पारित किए गए दोषमुक्ति के आदेश की अभिपुष्टि करते हैं । अपीलार्थियों को तुरंत अभिरक्षा से उन्मोचित किया जाए ।

29. तद्नुसार, यह अपील मंजूर की जाती है । लंबित आवेदनों, यदि कोई हैं, का भी निपटारा हो जाएगा ।

अपील मंजूर की गई ।

जस.

[2018] 3 उम. नि. प. 298

भरतकुमार रमेशचंद्र बरोट

बनाम

गुजरात राज्य

26 मार्च, 2018

न्यायमूर्ति आर. के. अग्रवाल और न्यायमूर्ति अभय मनोहर सप्रे

दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (1974 का 2) – धारा 377 [सपठित भारतीय दंड संहिता, 1860 की धारा 302] – राज्य द्वारा अभियुक्त के दंडादेश में वृद्धि के लिए उच्च न्यायालय में अपील – जहां दोषसिद्ध अभियुक्त को अपील की दस्ती सूचना तामील की गई हो और इसके बावजूद वह न्यायालय में उपसंजात न हुआ हो और अपनी दोषमुक्ति या दंडादेश में कमी करने के लिए कोई अपील भी फाइल न की हो, तो उच्च न्यायालय द्वारा न्याय-मित्र की नियुक्ति करने के पश्चात् मामले के गुणागुण के आधार पर दंडादेश में वृद्धि करते हुए पारित किए गए निर्णय को अवैध, अधिकारिता रहित या प्रतिकूल प्रभाव डालने वाला नहीं कहा जा सकता है ।

दंड संहिता, 1860 (1860 का 1) – धारा 302 [सपठित दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 377] – हत्या – विचारण न्यायालय द्वारा अभियुक्त को हत्या के अपराध के लिए दोषसिद्ध किया जाना – 10 वर्ष का दंडादेश दिया जाना – जहां सेशन न्यायाधीश द्वारा अभियुक्त को हत्या कारित करने के अपराध के लिए धारा 302 के अधीन दोषसिद्ध किया गया हो, तो विधि के अधीन जो एकमात्र दंड दिया जा सकता है वह या तो आजीवन कारावास है या मृत्युदंड और इसलिए, उच्च न्यायालय द्वारा 10 वर्ष के कारावास को बढ़ाकर आजीवन कारावास करना न्यायोचित है ।

अपील के तथ्य संक्षेप में इस प्रकार हैं कि अपीलार्थी-अभियुक्त को हत्या कारित करने के अपराध के लिए अभियोजित किया गया था और अंततोगत्वा सेशन न्यायालय, महसाणा (गुजरात) द्वारा उसे भारतीय दंड संहिता की धारा 302 और बम्बई पुलिस अधिनियम की धारा 135 के अधीन दंडनीय अपराधों के लिए दोषसिद्ध किया गया । तथापि, सेशन न्यायाधीश द्वारा अपीलार्थी को भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के अधीन

हत्या का अपराध कारित करने के लिए दोषसिद्ध करने के बावजूद उसे जुर्माने सहित 10 वर्ष का कठोर कारावास भुगतने का दंडादेश दिया गया और जहां तक बम्बई पुलिस अधिनियम की धारा 135 के अधीन अपराध का संबंध है, अपीलार्थी को जुर्माने सहित तीन माह का साधारण कारावास भुगतने का दंडादेश दिया गया । राज्य ने अपीलार्थी को भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के अधीन यथा विनिर्दिष्ट दंड से कमतर दंड दिए जाने से व्यथित होकर दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 377 के अधीन दंडादेश में वृद्धि करने के लिए उच्च न्यायालय में दांडिक अपील फाइल की । अपीलार्थी पर राज्य द्वारा फाइल की गई अपील की सूचना दस्ती तामील की गई । तथापि, अपीलार्थी (अभियुक्त) दस्ती सूचना तामील होने के बावजूद उपसंजात नहीं हुआ और न ही गुणागुण के आधार पर अपनी दोषसिद्धि को चुनौती देते हुए कोई दांडिक अपील फाइल की । अतः, उच्च न्यायालय ने अभियुक्त (इस अपील में अपीलार्थी) की ओर से उसकी प्रतिरक्षा करने के लिए न्याय-मित्र की नियुक्ति की और राज्य की अपील को मंजूर करते हुए धारा 302 के अधीन हत्या के अपराध के लिए दिए गए दंडादेश को "10 वर्ष" से बढ़ाकर "आजीवन कारावास" कर दिया । अभियुक्त-अपीलार्थी ने उच्च न्यायालय के निर्णय से व्यथित होकर उच्चतम न्यायालय में अपील फाइल की । उच्चतम न्यायालय द्वारा अपील खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित – दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 377 का उद्देश्य यह है कि जब राज्य सेशन न्यायाधीश द्वारा अधिनिर्णीत कारावास के दंडादेश में वृद्धि की ईप्सा करते हुए अपील फाइल करता है, तो अभियुक्त को अपनी प्रतिरक्षा करने का अवसर दिए बिना कारावास के दंडादेश में वृद्धि नहीं की जा सकती है । अभियुक्त भी अपनी दोषमुक्ति के लिए या कमतर दंड देने की प्रार्थना करने के लिए हकदार है । यदि अभियुक्त सूचना तामील होने के पश्चात् यह अभिवाक् करने में असफल रहता है, तब उच्च न्यायालय के लिए राज्य की अपील का गुणागुण के आधार पर विनिश्चय करना न्यायोचित होगा और यह केवल कारावास के दंडादेश में वृद्धि तक सीमित है । अतः इस न्यायालय की सुविचारित राय में, उच्च न्यायालय ने संहिता की धारा 377(3) के अनुपालन को सुनिश्चित किया था और यह न्यायालय इस निष्कर्ष में हस्तक्षेप करने का कोई आधार नहीं पाता है । (पैरा 23 और 22)

जब एक बार सेशन न्यायाधीश ने अपीलार्थी को भारतीय दंड संहिता

की धारा 302 के अधीन दंडनीय हत्या का अपराध करने के लिए दोषी पाया था, तो विधि में जो एकमात्र दंड दिया जा सकता है वह या तो "मृत्यु-दंड" या "आजीवन कारावास" तथा "जुर्माना" है । भारतीय दंड संहिता की धारा 302 में स्पष्ट शब्दों में यह उपबंधित है कि जो कोई हत्या करेगा वह "मृत्यु" या "आजीवन कारावास" से दंडित किया जाएगा और "जुर्माने" के लिए भी दायी होगा । भारतीय दंड संहिता की धारा 302 में विहित अनुसार, यदि किसी न्यायालय द्वारा आजीवन कारावास से अन्यून दंड अधिनिर्णीत किया जाता है, तो वह स्वतः अवैध और विधि के प्राधिकार के बिना है । वास्तव में, न्यायालय को वह दंड अधिनिर्णीत करने के सिवाय जो भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के अधीन विहित है और जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है, कोई दंड अधिनिर्णीत करने का ऐसा विवेकाधिकार नहीं है । उच्च न्यायालय द्वारा कारावास के दंडादेश में की गई वृद्धि के प्रश्न पर विचार करने के पश्चात् यह न्यायालय उच्च न्यायालय के तर्क से सहमत है । वास्तव में, हैरानी की बात है कि सेशन न्यायाधीश अपीलार्थी को भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के अधीन दंडनीय हत्या का अपराध कारित करने के लिए कैसे 10 वर्ष के कारावास का दंडादेश दे सकता था । यह बिल्कुल अनोखी बात है । पूर्वगामी चर्चा को ध्यान में रखते हुए, इस न्यायालय की यह सुविचारित राय है कि उच्च न्यायालय ने सेशन न्यायाधीश द्वारा अपीलार्थी को दिए गए कारावास के दंडादेश को उपांतरित करके न्यायोचित किया है और अपीलार्थी (अभियुक्त) को सेशन न्यायाधीश द्वारा दिए गए "10 वर्ष" के कारावास के दंडादेश के स्थान पर भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के अधीन आजीवन कारावास का दंड देते हुए दंडादेश में ठीक ही वृद्धि की गई है । (पैरा 25, 26, 27, 24 और 28)

अपीली (दांडिक) अधिकारिता : 2018 की दांडिक अपील सं. 448.

2014 की दांडिक अपील सं. 1303 में गुजरात उच्च न्यायालय, अहमदाबाद के तारीख 8 अक्तूबर, 2015 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध संविधान, 1950 के अनुच्छेद 136 के अधीन अपील ।

अपीलार्थी की ओर से	सर्वश्री अभिषेक सिंह और समीर अली खान
प्रत्यर्थी की ओर से	सर्वसुश्री ममता सिंह, जेसल वाही, हिमांतिका वाही और विशाखा

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति अभय मनोहर सप्रे ने दिया ।

न्या. सप्रे – इजाजत दी गई ।

2. यह अपील अभियुक्त द्वारा 2014 की दांडिक अपील (दंडादेश में वृद्धि के लिए) सं. 1303 में गुजरात उच्च न्यायालय, अहमदाबाद द्वारा तारीख 6 अक्तूबर, 2015 को पारित किए गए उस अंतिम निर्णय और आदेश के विरुद्ध फाइल की गई है, जिसके द्वारा उच्च न्यायालय ने गुजरात राज्य द्वारा दंड प्रक्रिया संहिता, 1973 (जिसे इसमें इसके पश्चात् "संहिता" कहा गया है) की धारा 377 के अधीन फाइल की गई अपील मंजूर की और विचारण न्यायालय द्वारा अपीलार्थी (अभियुक्त) पर अधिरोपित 10 वर्ष के कठोर कारावास के दंडादेश को बढ़ाकर आजीवन कारावास कर दिया ।

3. इस मामले के तथ्य संक्षिप्त हैं और इस अपील में अंतवर्लित विवाद्यक भी संक्षिप्त ही है, जो कि इसमें नीचे उल्लिखित तथ्यों से स्पष्ट हो जाएगा ।

4. अपीलार्थी को दिलीपभाई रतनजी नामक मृतक की हत्या करने के लिए 2012 के सेशन मामला सं. 71 में अभियोजित किया गया था और अंततोगत्वा तृतीय अपर सेशन न्यायाधीश, महसाणा (गुजरात) द्वारा तारीख 4 सितम्बर, 2014 के आदेश द्वारा भारतीय दंड संहिता, 1860 (जिसे इसमें इसके पश्चात् "भारतीय दंड संहिता" कहा गया है) की धारा 302 और बम्बई पुलिस अधिनियम की धारा 135 के अधीन दंडनीय अपराधों के लिए दोषसिद्ध किया गया था ।

5. तथापि, जहां तक भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के अधीन अपराध का संबंध है, सेशन न्यायाधीश ने अपीलार्थी को 10 वर्ष का कठोर कारावास और 5,000/- रुपए का जुर्माना और जुर्माने के संदाय में व्यतिक्रम करने पर पांच माह का अतिरिक्त साधारण कारावास भुगतने का दंडादेश दिया था और जहां तक बम्बई पुलिस अधिनियम की धारा 135 के अधीन अपराध का संबंध है, अपीलार्थी को तीन माह का साधारण कारावास और 500/- रुपए के जुर्माने का संदाय करने तथा जुर्माने के संदाय में व्यतिक्रम करने पर पंद्रह दिन का अतिरिक्त साधारण कारावास भुगतने का दंडादेश दिया था ।

6. राज्य अपीलार्थी को भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के अधीन यथा विनिर्दिष्ट दंड से कमतर 10 वर्ष का दंड दिए जाने से व्यथित हुआ

और संहिता की धारा 377 के अधीन दांडिक अपील फाइल की, जिससे यह अपील उद्‌भूत हुई है जिसमें दंड में वृद्धि करने और इसे भारतीय दंड संहिता की धारा 302 में विनिर्दिष्ट दंड के अनुरुप करने की प्रार्थना की गई है ।

7. अपीलार्थी पर राज्य द्वारा फाइल की गई अपील की सूचना दस्ती तामील की गई थी । तथापि, अपीलार्थी (अभियुक्त) दस्ती सूचना तामील होने के बावजूद उपसंजात नहीं हुआ और न ही गुणागुण के आधार पर अपनी दोषसिद्धि को चुनौती देते हुए कोई दांडिक अपील फाइल की । अतः, उच्च न्यायालय ने अभियुक्त (इस अपील में अपीलार्थी) की ओर से उसकी प्रतिरक्षा करने के लिए श्री यू. ओझा, अधिवक्ता को न्याय-मित्र के रुप में न्यायालय की सहायता करने हेतु नियुक्त किया ।

8. उच्च न्यायालय ने आक्षेपित निर्णय द्वारा राज्य की अपील मंजूर की और भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के अधीन हत्या के अपराध के लिए दिए गए दंडादेश को "10 वर्ष" से बढ़ाकर "आजीवन कारावास" कर दिया । दूसरे शब्दों में, उच्च न्यायालय ने दंडादेश में वृद्धि की और अपीलार्थी को भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के अधीन उपबंधित अनुसार "आजीवन कारावास" का दंडादेश दिया । जहां तक जुर्माने के अधिरोपण का संबंध है, इसे कायम रखा गया ।

9. अपीलार्थी (अभियुक्त) उच्च न्यायालय के इस निर्णय से व्यथित हुआ और उसके विरुद्ध इस न्यायालय में विशेष इजाजत लेकर यह अपील फाइल की ।

10. अपीलार्थी (अभियुक्त) की ओर से विद्वान् काउंसेल श्री अभिषेक सिंह और प्रत्यर्थी-राज्य की ओर से विद्वान् काउंसेल सुश्री ममता सिंह को सुना ।

11. अपीलार्थी (अभियुक्त) की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेल श्री अभिषेक सिंह ने आक्षेपित निर्णय की वैधता और शुद्धता को चुनौती देते हुए मुख्य रुप से एक मुद्दे पर तर्क दिए ।

12. विद्वान् काउंसेल ने संहिता की धारा 377(3) को निर्दिष्ट करते हुए यह तर्क दिया कि राज्य द्वारा कारावास के दंडादेश में वृद्धि करने के लिए फाइल की गई अपील में अपीलार्थी (अभियुक्त) को अपनी प्रतिरक्षा करने का पर्याप्त अवसर नहीं दिया गया था और इसलिए आक्षेपित निर्णय संहिता की धारा 377 की उपधारा (3) के अधीन उपबंधित प्रक्रिया का अनुसरण किए बिना पारित किए जाने के कारण विधि की दृष्टि से दूषित

हो जाता है ।

13. दूसरे शब्दों में, विद्वान् काउंसेल की दलील यह है कि अपीलार्थी को संहिता की धारा 377(3) के अधीन उपबंधित अनुसार अपील का विरोध करने के उसके अधिकार के साथ-साथ अपनी दोषमुक्ति के आधारों का समर्थन करने के उसके अधिकार से भी वंचित किया गया था । विद्वान् काउंसेल ने यह आग्रह किया कि यही कारण है कि उच्च न्यायालय द्वारा कारावास के दंडादेश में की गई वृद्धि अवैध और अधिकारिता रहित हो जाती है ।

14. विद्वान् काउंसेल ने यह भी आग्रह किया कि विद्वान् न्याय-मित्र को मामले की तैयारी करने के लिए पर्याप्त समय नहीं दिया गया था । यह आग्रह किया गया कि इस बात से भी अपीलार्थी पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है ।

15. उत्तर में, प्रत्यर्थी (राज्य) की ओर से विद्वान् काउंसेल ने उच्च न्यायालय के तर्काधार और निष्कर्ष का समर्थन किया और यह दलील दी कि इस अपील में कोई गुणागुण नहीं है ।

16. पक्षकारों की ओर से विद्वान् काउंसेलों को सुनने के पश्चात् और मामले के अभिलेख का परिशीलन करने पर हम इस अपील को खारिज करने के लिए तैयार हैं क्योंकि, हमारी राय में, इसमें कोई गुणागुण नहीं है ।

17. पहले इस दलील पर विचार करते हैं कि क्या उच्च न्यायालय द्वारा संहिता की धारा 377(3) की अपेक्षाओं का कोई अननुपालन किया गया है या नहीं । हमारी सुविचारित राय में, उच्च न्यायालय द्वारा संहिता की धारा 377(3) की अपेक्षाओं का सम्यक् अनुपालन किया गया है और इसलिए जहां तक संहिता की धारा 377(3) के अनुपालन का संबंध है, उच्च न्यायालय द्वारा दिए गए तर्काधार और निकाले गए निष्कर्ष में कोई त्रुटि दिखाई नहीं पड़ती है । हम यह बात निम्नलिखित कारणों से कह रहे हैं ।

18. प्रथमतः, उच्च न्यायालय ने अपीलार्थी को (जो उच्च न्यायालय के समक्ष प्रत्यर्थी था) दस्ती सूचना तामील की थी । इसलिए अपील की सूचना अपीलार्थी पर सम्यक् रूप से तामील की गई थी । दूसरे शब्दों में, अपीलार्थी का भी यह पक्षकथन नहीं है कि उसे सूचना तामील नहीं की गई थी या राज्य द्वारा उसके विरुद्ध फाइल की गई अपील के बारे में उसे जानकारी नहीं थी या अपील की सूचना तामील करने में कोई कमी थी

जिससे अपील में की कार्यवाहियां विधि की दृष्टि से दूषित थीं ।

19. द्वितीयतः, अपीलार्थी पर व्यक्तिगत रूप से सूचना तामील किए जाने के बावजूद वह उपसंजात नहीं हुआ । यद्यपि, अपीलार्थी को अपील करने का स्वतंत्र अधिकार था किंतु उसने हत्या का अपराध कारित करने के लिए उसे दोषसिद्ध करने वाले सेशन न्यायाधीश के आदेश की वैधता को प्रश्नगत करते हुए कोई नियमित अपील फाइल नहीं की ।

20. तृतीयतः, उच्च न्यायालय ने जब यह पाया कि अपीलार्थी पर व्यक्तिगत रूप से सूचना तामील होने के बावजूद उसकी ओर से कोई प्रतिनिधित्व नहीं कर रहा है, तो उसके द्वारा अपीलार्थी के हित के रक्षोपाय के लिए और साथ ही न्यायालय की सहायता करने के लिए एक वकील को न्याय-मित्र के रूप में नियुक्त करना न्यायोचित था ।

21. चतुर्थतः, न्याय-मित्र ने उच्च न्यायालय में उसे मामले की तैयारी करने के लिए अधिक समय न देने की कभी भी कोई शिकायत नहीं की थी । यहां तक की इस अपील में भी न्याय-मित्र ने इस आशय का कोई शपथ-पत्र फाइल नहीं किया है । इसलिए न्याय-मित्र द्वारा दी गई यह दलील आधारहीन है और तद्नुसार खारिज की जाती है ।

22. अतः हमारी सुविचारित राय में, उच्च न्यायालय ने संहिता की धारा 377(3) के अनुपालन को सुनिश्चित किया था और हम इस निष्कर्ष में हस्तक्षेप करने का कोई आधार नहीं पाते हैं ।

23. संहिता की धारा 377 का उद्देश्य यह है कि जब राज्य सेशन न्यायाधीश द्वारा अधिनिर्णीत कारावास के दंडादेश में वृद्धि की ईप्सा करते हुए अपील फाइल करता है, तो अभियुक्त को अपनी प्रतिरक्षा करने का अवसर दिए बिना कारावास के दंडादेश में वृद्धि नहीं की जा सकती है । अभियुक्त भी अपनी दोषमुक्ति के लिए या कमतर दंड देने की प्रार्थना करने के लिए हकदार है । यदि अभियुक्त सूचना तामील होने के पश्चात् यह अभिवाक् करने में असफल रहता है, तब उच्च न्यायालय के लिए राज्य की अपील का गुणागुण के आधार पर विनिश्चय करना न्यायोचित होगा और यह केवल कारावास के दंडादेश में वृद्धि तक सीमित है । अतः, हम अपील की पुनः सुनवाई करने के लिए मामले को प्रतिप्रेषित करने का कोई आधार नहीं पाते हैं ।

24. उच्च न्यायालय द्वारा कारावास के दंडादेश में की गई वृद्धि के प्रश्न पर विचार करने के पश्चात् हम उच्च न्यायालय के तर्काधार से

सहमत हैं । वास्तव में, हम यह जानकर हैरान हैं कि सेशन न्यायाधीश अपीलार्थी को भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के अधीन दंडनीय हत्या का अपराध कारित करने के लिए कैसे 10 वर्ष के कारावास का दंडादेश दे सकता था । यह बिल्कुल अनोखी बात है ।

25. जब एक बार सेशन न्यायाधीश ने अपीलार्थी को भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के अधीन दंडनीय हत्या का अपराध करने के लिए दोषी पाया था, तो विधि में जो एकमात्र दंड दिया जा सकता है वह या तो "मृत्यु-दंड" या "आजीवन कारावास" तथा "जुर्माना" है ।

26. भारतीय दंड संहिता की धारा 302 में स्पष्ट शब्दों में यह उपबंधित है कि जो कोई हत्या करेगा वह "मृत्यु" या "आजीवन कारावास" से दंडित किया जाएगा और "जुर्माने" के लिए भी दायी होगा ।

27. भारतीय दंड संहिता की धारा 302 में विहित अनुसार, यदि किसी न्यायालय द्वारा आजीवन कारावास से अन्यून दंड अधिनिर्णीत किया जाता है, तो वह स्वतः अवैध और विधि के प्राधिकार के बिना है । वास्तव में, न्यायालय को वह दंड अधिनिर्णीत करने के सिवाय जो भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के अधीन विहित है और जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है, कोई दंड अधिनिर्णीत करने का ऐसा विवेकाधिकार नहीं है ।

28. पूर्वगामी चर्चा को ध्यान में रखते हुए, हमारी यह सुविचारित राय है कि उच्च न्यायालय ने सेशन न्यायाधीश द्वारा अपीलार्थी को दिए गए कारावास के दंडादेश को उपांतरित करके न्यायोचित किया है और अपीलार्थी (अभियुक्त) को सेशन न्यायाधीश द्वारा दिए गए "10 वर्ष" के कारावास के दंडादेश के स्थान पर भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के अधीन आजीवन कारावास का दंड देते हुए दंडादेश में ठीक ही वृद्धि की गई है ।

29. अपीलार्थी की ओर से विद्वान् काउंसेल द्वारा उस मुद्दे के सिवाय जिस पर इस न्यायालय द्वारा ऊपर विचार किया गया है, किसी अन्य मुद्दे पर तर्क नहीं दिया गया है और हमने उसमें कोई गुणागुण नहीं पाया है ।

30. इस प्रकार, यह अपील असफल होती है और तद्नुसार इसे खारिज किया जाता है ।

अपील खारिज की गई ।

जस.

[2018] 3 उम. नि. प. 306

गणपति और एक अन्य

बनाम

तमिलनाडु राज्य

तथा

मुथुलक्ष्मी

बनाम

तमिलनाडु राज्य

27 मार्च, 2018

न्यायमूर्ति एन. वी. रमना और न्यायमूर्ति एस. अब्दुल नज़ीर

दंड संहिता, 1860 (1860 का 1) – धारा 302 [सपठित साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 3] – हत्या – नातेदार/हितबद्ध प्रत्यक्षदर्शी साक्षियों के साक्ष्य की ग्राह्यता – जहां अभियुक्तों द्वारा मृतकों पर चाकू और दरांती से आक्रमण करके नातेदार प्रत्यक्षदर्शी साक्षियों की मौजूदगी में हत्या कारित की गई हो और इन साक्षियों के परिसाक्ष्य संगत और विश्वसनीय पाए गए हों तथा उनकी संपुष्टि चिकित्सीय साक्ष्य से हुई हो तथा अभियुक्तों की दोषिता युक्तियुक्त संदेह के परे साबित की गई हो, तो ऐसे साक्षियों को केवल हितबद्ध साक्षी कहकर उनके परिसाक्ष्य को त्यक्त नहीं किया जा सकता है और उनके साक्ष्य के आधार पर की गई अभियुक्तों की दोषसिद्धि उचित और न्यायसंगत है ।

इस अपील के तथ्य इस प्रकार हैं कि मुथुलक्ष्मी (अभियुक्त सं. 4-अपीलार्थी) के मुरुगन पुत्र आरमुगम (अभि. सा. 1) नामक व्यक्ति से प्रेम संबंध थे । जब उक्त मुरुगन ने उसके साथ विवाह करने से इंकार कर दिया तो पुलिस थाने में एक शिकायत दर्ज की गई और ग्रामवासियों तथा पुलिस के मध्यक्षेप से उनका विवाह अनुष्ठापित हुआ । जब उनका विवाह हुआ था, तभी से दोनों परिवारों के बीच प्रायः झगड़ा होता रहता था और अनबन चल रही थी, जिसकी वजह से पति-पत्नी और दोनों परिवारों के बीच तनातनी के संबंध थे । मुथुलक्ष्मी (अभियुक्त-4) के पिता ने तो अपने दामाद मुरुगन, उसके पिता (अभि. सा. 1) और बहिन (पूमरी) के विरुद्ध

एक शिकायत भी दर्ज की थी क्योंकि बहिन को पति-पत्नी के बीच सारी अशांति की जड़ ठहराया गया था । पुलिस ने पति-पत्नी को बुलाया और उन्हें शांतिपूर्वक एकसाथ रहने की सलाह दी, किंतु कुछ दिनों के पश्चात् मुथुलक्ष्मी (अभि.-4) दांपत्य निवास से निकल कर अपने माता-पिता के घर वापस आ गई । पोनू (अभि.-1), गणपति (अभि.-2) और चित्रावेलु (अभि.-3) आक्रामक आयुधों से लैस होकर निकले और एक स्ट्रीट होटल के निकट मुरुगन को देखा और उस पर आक्रमण कर दिया और उसे चाकू और दरांती से क्षतियां कारित कीं, जिनकी वजह से उसकी तुरंत घटनास्थल पर ही मृत्यु हो गई । मृतक के पिता (अभि. सा. 1) और उसके एक अन्य पुत्र (अभि. सा. 2) ने, जो निकट ही खड़े थे, घटना देखी थी । इतना सब होने के बाद उसी दिन जब पूमरी (अभि. सा. 1 की पुत्री) अपनी पुत्री (अभि. सा. 3) के साथ कपड़े धोने और स्नान करने के लिए एक निकटवर्ती कुएं पर गई हुई थी, तब चारों अभियुक्त वहां आए और पूमरी पर उसकी पुत्री के सामने आक्रमण कर दिया । चित्रावेलु (अभि.-3) ने दरांती से पूमरी को काटने की क्षतियां कारित कीं और गणपति (अभि.-2) ने उसके उदर पर तीन बार चाकू घोंपा, जिससे उसकी आंत उसके उदर से बाहर आ गई । उसके पश्चात् चित्रावेलु (अभि.-3) ने दरांती मुथुलक्ष्मी (अभि.-4) को दी और उसे पूमरी पर आक्रमण करने के लिए उकसाया और फिर मुथुलक्ष्मी ने उसके सिर, हाथ और चेहरे पर नाक के निकट दरांती से काटने की क्षतियां पहुंचाई और पूमरी की घटनास्थल पर ही मृत्यु हो गई । पूमरी की पुत्री ने, जो घटनास्थल पर मौजूद थी, इस अपराध को देखा था । अभि. सा. 1 की शिकायत के आधार पर पुलिस थाने में अभियुक्तों के विरुद्ध आपराधिक मामला रजिस्ट्रीकृत किया गया और अन्वेषण किया गया । अभियुक्तों को गिरफ्तार किया गया और उनसे वे आयुध अभिगृहीत किए गए जो अपराध कारित करने में प्रयुक्त किए गए थे और उन्हें रासायनिक परीक्षण के लिए भेजा गया । आरोप पत्र फाइल किया गया उसके पश्चात् मामला सेशन न्यायालय के सुपुर्द किया गया और दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 313 के अधीन अभियुक्तों के कथन अभिलिखित किए गए । अभियुक्तों ने दोषी न होने का अभिवाक् किया और विचारण किए जाने का दावा किया । विचारण न्यायालय ने पूरी तरह से विचारण करने के पश्चात् अभियुक्तों को दोषी पाया और अभियुक्त पोन्नू (अभि.-1) को भारतीय दंड संहिता की धारा 302/34 के अधीन दोषसिद्ध किया और जुर्माने सहित आजीवन कारावास भुगतने का दंडादेश दिया ।

गणपति (अभि.-2) और चित्रावेलू (अभि.-3) को भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के अधीन जुर्माने सहित आजीवन कारावास भुगतने का दंडादेश दिया । मुथुलक्ष्मी (अभि.-4) को भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के अधीन जुर्माने सहित आजीवन कारावास भुगतने का दंडादेश दिया । अभियुक्तों ने व्यथित होकर उच्च न्यायालय में अपील फाइल की । उच्च न्यायालय ने अभियुक्त सं. 1 के विरुद्ध दोषसिद्धि और दंडादेश को अपास्त कर दिया और अभियुक्त सं. 2 से 4 के विरुद्ध विचारण न्यायालय द्वारा अधिनिर्णीत दोषिसिद्धि और दंडादेश की अभिपुष्टि की । अभियुक्त-अपीलार्थियों ने निचले न्यायालयों के निर्णयों से असंतुष्ट होकर उच्चतम न्यायालय में अपीलें फाइल की । उच्चतम न्यायालय द्वारा अपीलें खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित – प्रत्यक्षदर्शी साक्षियों, अभि. सा. 1 और 2, जो मृतक का पिता और भाई है, के साक्ष्य से स्पष्ट रुप से वह रीति प्रदर्शित होती है जिस रीति में अभियुक्तों ने मृतक मुरुगन के जीवन का अंत किया था । उनके साक्ष्य में अभियुक्तों की दोषिता को युक्तियुक्त संदेह के परे वर्णित किया गया है और इसकी संपुष्टि डा. धनराज (अभि. सा. 12) के उस चिकित्सीय साक्ष्य से होती है, जिन्होंने मृतक मुरुगन के शव की मरणोत्तर परीक्षा की थी और कुल 10 काटने वाली क्षतियों का उल्लेख किया था, जिनमें से क्षति सं. 1, 2, 5, 6, 7, 8, 9 और 10 घातक हैं और जिन्हें दरांती द्वारा कारित करना संभव था और मृत्यु कारित करने के लिए समर्थ थीं, जबकि क्षति सं. 7 और 9 को चाकू द्वारा कारित करना संभव था । यह प्रतीत होता है कि अभियोजन पक्ष द्वारा प्रयोजित किए गए 2 स्वतंत्र साक्षी (अभि. सा. 5 और 6) थे किंतु वे पक्षद्रोही हो गए थे । कई मामलों में घटना के समय केवल परिवार के सदस्य ही मौजूद होते हैं, तब अभियोजन का पक्षकथन केवल उनके साक्ष्य पर आधारित होगा । जब केवल उनका साक्ष्य ही उपलब्ध साक्ष्य हो, तब न्यायालयों को सतर्क रहना चाहिए और विचारण की प्रक्रिया में साक्ष्य का मूल्यांकन सावधानीपूर्वक करना चाहिए और यह न्यायालय अभियुक्तों की ओर से दी गई इस दलील का समर्थन नहीं कर सकता है कि स्वतंत्र साक्षियों की परीक्षा न कराना और परिवार के सदस्यों के साक्ष्य पर आधारित दोषसिद्धि अभियोजन के पक्षकथन के लिए घातक है । "नातेदार" और "हितबद्ध" समानार्थी नहीं हैं । किसी साक्षी को "हितबद्ध" केवल तब कहा जा सकता है जब वह किसी मुकदमेबाजी, किसी सिविल मामले में डिक्री के परिणामस्वरूप कोई फायदा प्राप्त करता है या

करती है, या किसी अभियुक्त व्यक्ति को दंडित होते हुए देखना चाहता है । कोई साक्षी, जो स्वाभाविक है और मामले की परिस्थितियों में एकमात्र संभव प्रत्यक्षदर्शी साक्षी है, उसे "हितबद्ध" नहीं कहा जा सकता है । केवल इस कारण कि प्रत्यक्षदर्शी साक्षी परिवार के सदस्य हैं, उनके साक्ष्य को स्वतः त्यक्त नहीं किया जा सकता है । जब हितबद्धता का अभिकथन किया गया है, तो उसे सिद्ध किया जाना चाहिए था । केवल यह कथन कि साक्षी मृतक के नातेदार होने के कारण उनके द्वारा अभियुक्तों को मिथ्या रूप से फंसाने की संभावना है, उनके उस साक्ष्य को त्यक्त करने का आधार नहीं हो सकता है जो कि अन्यथा तर्कपूर्ण और विश्वसनीय है । नातेदारी किसी साक्षी की विश्वसनीयता को प्रभावित करने वाली बात नहीं है । प्रायः यह कहा जाता है कि कोई नातेदार वास्तविक अपराधी को नहीं छिपाएगा और किसी निर्दोष व्यक्ति के विरुद्ध अभिकथन नहीं करेगा । यदि मिथ्या फंसाए जाने का अभिवाक् किया जाता है तो उसका आधार भी दिया जाना चाहिए । न्यायालय ने अभिलेख से यह पाया है कि अभि. सा. 1 और 2 के साक्ष्य संगत हैं और न्यायालय के मन में विश्वास प्रेरित करते हैं । निचले न्यायालयों ने भी उनके साक्ष्यों को विचार में लेने से पूर्व उनकी उचित रूप से संवीक्षा की है और उनके परिसाक्ष्यों पर विश्वास करने में कुछ भी अप्रायिक नहीं है । इसके अतिरिक्त, अभियोजन पक्ष ने स्वतंत्र साक्षी, अभि. सा. 5 और 6, की परीक्षा की थी जो पक्षद्रोही हो गए थे । अभियोजन पक्ष ने अभियुक्तों की दोषिता को सिद्ध करने के लिए सभी संभव उपाय किए हैं । इसलिए अभि. सा. 1 और 2 के साक्ष्य पर आधारित दोषसिद्धि अभियोजन के पक्षकथन के लिए घातक नहीं है । इसी प्रकार, शकुंतला (अभि. सा. 3) के साक्ष्य में अभियुक्त सं. 2, 3 और 4 द्वारा निभाई गई भूमिका को स्पष्ट करते हुए जिस परिस्थिति में और जिस तरीके से अभियुक्तों द्वारा मृतका पूमरी पर आक्रमण किया गया था उसका विशद वर्णन किया गया है । उसका साक्ष्य विश्वासप्रद है और इसकी स्पष्ट रूप से चिकित्सीय साक्ष्य द्वारा संपुष्टि होती है । मृतका पूमरी की मरणोत्तर परीक्षा रिपोर्ट से यह दर्शित होता है कि मृतका के शरीर पर 3 घोंपने वाली क्षतियों के अतिरिक्त लगभग 10 काटने वाली क्षतियां थीं । अभि. सा. 12 डा. धनराज के अनुसार काटने वाली क्षतियां दरांती द्वारा कारित करना संभव था और घोंपने वाली क्षतियां संभवतः चाकू द्वारा कारित की गईं थी । उन क्षतियों में से क्षति सं. 1, 10 11, 12 और 13 गंभीर हैं और तुरंत मृत्यु कारित करने योग्य हैं । अभियुक्तों की ओर से विद्वान् काउंसेल का यह तर्क कि निचले न्यायालयों ने प्रति. सा. 1 के साक्ष्य पर विश्वास न

करके गलती की है, स्वीकार नहीं किया जा सकता है और इसका कारण यह है कि अभिलेख से यह स्पष्ट होता है कि उस विद्यालय के हाजिरी रजिस्टर में, जिसमें अभि. सा. 3 पढ़ रही थी, सभी विद्यार्थियों की सात माह अर्थात् जून, 1999 से दिसंबर, 1999 तक की लगातार अवधि की हाजिरी लगाई गई है और उसमें एक भी विद्यार्थी गैर-हाजिर नहीं है । इस प्रकार, यह बात इस तथ्य का सूचक है कि इस बात को विचार में लाए बिना कि विद्यार्थी विद्यालय में हाजिर हुए हैं या नहीं, सभी विद्यार्थियों की हाजिरी लगाई गई है । इन परिस्थितियों में, न तो प्रति. सा. 1 के साक्ष्य से और न ही प्रदर्श डी1 से अभियुक्तों का बचाव होता है और इस आधार पर अभि. सा. 3 के साक्ष्य को अविश्वसनीय नहीं कहा जा सकता है । (पैरा 12, 13, 14, 15, 16 और 17)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[2008]	(2008) 16 एस. सी. सी. 529 : **मरांडु और एक अन्य** बनाम **पुलिस निरीक्षक की मार्फत तमिलनाडु राज्य** ;	14
[1981]	(1981) 2 एस. सी. सी. 752 : **राजस्थान राज्य** बनाम **श्रीमती कल्की और एक अन्य** ।	13

अपीली (दांडिक) अधिकारिता : 2008 की दांडिक अपील सं. 1312 और इसके साथ 2008 की दांडिक अपील सं. 1313.

2004 की दांडिक अपील (एमडी) सं. 319 में मद्रास उच्च न्यायालय, मदुरै पीठ के तारीख 20 फरवरी, 2007 के निर्णय और आदेश के विरुद्ध संविधान के अनुच्छेद 136 के अधीन अपील ।

अपीलार्थियों की ओर से सर्वश्री शेख मोहम्मद हनीफ, एम. विजय भास्कर और (सुश्री) प्रोमिला

प्रत्यर्थी की ओर से श्री योगेश कन्ना और सुश्री सुजाता बागधी

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति एन. वी. रमना ने दिया ।

न्या. रमना – ये अपीलें विशेष इजाजत याचिकाओं द्वारा 2004 की

दांडिक अपील सं. 319 में मद्रास उच्च न्यायालय, मदुरै पीठ की खंड पीठ द्वारा तारीख 20 फरवरी, 2007 को पारित किए गए निर्णय से उद्भूत हुई हैं । उच्च न्यायालय ने उक्त निर्णय द्वारा इस अपील में अपीलार्थियों के विरुद्ध विचारण न्यायालय द्वारा अधिरोपित दोषसिद्धि और दंडादेश की पुष्टि की, जबकि अभियुक्त सं. 1 को उसके विरुद्ध लगाए गए आरोपों से दोषमुक्त कर दिया गया । 2008 की दांडिक अपील सं. 1312 अभियुक्त सं. 2 और 3 द्वारा फाइल की गई है और 2008 की दांडिक अपील सं. 1313 में अपीलार्थी अभियुक्त सं. 4 है । क्योंकि दोनों अपीलों में आक्षेपित आदेश एक ही और एक समान है, इसलिए हम दोनों अपीलों का एक सामान्य आदेश द्वारा निपटारा करेंगे ।

2. संक्षेप में अभियोजन का पक्षकथन यह है कि मुथुलक्ष्मी (अभियुक्त सं. 4-अपीलार्थी) के मुरुगन पुत्र आरमुगम-अभि. सा. 1 नामक व्यक्ति से प्रेम संबंध थे । जब उक्त मुरुगन ने उसके साथ विवाह करने से इंकार कर दिया तो कोविलपट्टी पुलिस थाने में एक शिकायत दर्ज की गई और ग्रामवासियों तथा पुलिस के मध्यक्षेप से तारीख 5 फरवरी, 1999 को उनका विवाह अनुष्ठापित हुआ । जब उनका विवाह हुआ था, तभी से दोनों परिवारों के बीच प्रायः झगड़ा होता रहता था और अनबन चल रही थी, जिसकी वजह से पति-पत्नी के बीच तनातनी के संबंध थे । अभियुक्त-4 के पिता पेटचिमुथु ने तो अपने दामाद मुरुगन, उसके पिता (अभि. सा. 1) और बहिन (पूमरी) के विरुद्ध एक शिकायत दर्ज की थी क्योंकि बहिन को पति-पत्नी के बीच सारी अशांति की जड़ ठहराया गया था । पुलिस ने पति-पत्नी को बुलाया था और उन्हें शांतिपूर्वक एक साथ रहने की सलाह दी थी, किंतु कुछ दिनों के पश्चात् मुथुलक्ष्मी (अभि. 4) दांपत्य निवास से निकल कर अपने माता-पिता के घर वापस आ गई ।

3. तारीख 4 अगस्त, 1999 को पोनू (अभि. 1), गणपति (अभि. 2) और चित्रावेलु (अभि.-3) आक्रामक आयुध लेकर निकले और एक स्ट्रीट होटल के निकट मुरुगन को देखा तथा उस पर आक्रमण कर दिया । पोनू (अभि.-1) ने अन्य दो अभियुक्तों को मुरुगन को काट देने के लिए उकसाया, गणपति (अभि.-2) ने मुरुगन के वक्ष पर चाकू घोंपा और चित्रावेलु (अभि.-3) ने मुरुगन को दरांती से काटने की क्षतियां पहुंचाईं, जिनकी वजह से उसकी तुरंत घटनास्थल पर ही मृत्यु हो गई । इसके पश्चात् हमलावर घटनास्थल से भाग गए । मृतक के पिता अभि. सा. 1

(आरमुगम) और अभि. सा. 2 (पूमुरुगन–आरमुगम का एक अन्य पुत्र) ने, जो निकट ही खड़े थे, घटना देखी थी ।

4. जब यह सब हो गया, तो उसी दिन जब पूमरी (आरमुगम-अभि. सा. 1 की पुत्री) अपनी पुत्री शकुंतला (अभि. सा. 3) के साथ कपड़े धोने और स्नान करने के लिए एक निकटवर्ती कुएं पर गई थी, तब चारों अभियुक्त वहां आए और पूमरी पर उसकी पुत्री के सामने आक्रमण कर दिया । चित्रावेलु (अभि. 3) ने दरांती से पूमरी को काटने की क्षतियां कारित कीं और गणपति (अभि.-2) ने उसके उदर पर तीन बार चाकू घोंपा, जिससे उसकी आंत उसके उदर से बाहर आ गई । उसके पश्चात् चित्रावेलु (अभि.-3) ने दरांती मुथुलक्ष्मी (अभि. 4) को दी और उसे पूमरी पर आक्रमण करने के लिए उकसाया और फिर मुथुलक्ष्मी ने उसके सिर, हाथ और चेहरे पर नाक के निकट दरांती से काटने की क्षतियां पहुंचाई और पूमरी की घटनास्थल पर ही मृत्यु हो गई । पूमरी की पुत्री, दस वर्ष की विद्यालय में पढ़ने वाली बालिका, जो घटनास्थल पर मौजूद थी, ने इस अपराध को देखा था ।

5. अभि. सा. 1 की शिकायत (प्रदर्श पी 1) के आधार पर पुलिस थाना, ओट्टापिडरम में अभियुक्तों के विरुद्ध भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के अधीन 1999 का अपराध मामला सं. 72 रजिस्ट्रीकृत किया गया और अन्वेषण किया गया । अन्वेषक अधिकारी ने घटनास्थल का दौरा किया, मृत्यु-समीक्षा (प्रदर्श पी 31) की, संप्रेक्षण महाजर (प्रदर्श पी 2 और पी 3) तैयार किए और मृत्यु-स्थलों के खाके (प्रदर्श पी 27 और पी 29) बनाए, रक्तरंजित मिट्टी और सादा मिट्टी बरामद की, साक्षियों की मौजूदगी में घटनास्थल से बालों में लगाने वाली क्लिप, मंगलसूत्र और अपराध में आलिप्त करने वाली अन्य वस्तुएं उठाईं और उनके हस्ताक्षर अभिप्राप्त किए गए । साक्षियों के कथन अभिलिखित करने और मृतकों के शवों को मरणोत्तर परीक्षा के लिए भेजने जैसी अन्य औपचारिकताएं पूरी की गई । अभियुक्तों को ओट्टापिडरम चौराहे पर स्थित वेल्यूथापुरम जंक्शन से तारीख 5 अगस्त, 1999 को 5:30 बजे पूर्वाह्न में गिरफ्तार किया गया और पुलिस ने उनसे वे आयुध अभिगृहीत किए जो अपराध करने में प्रयुक्त किए गए थे और उन्हें रासायनिक परीक्षण के लिए भेजा । उसके पश्चात् मामला सेशन न्यायालय के सुपुर्द किया गया और दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 313 के अधीन अभियुक्तों के कथन अभिलिखित किए गए ।

अभियुक्तों ने दोषी न होने का अभिवाक् किया और विचारण किए जाने का दावा किया ।

6. अभियोजन पक्ष ने अभियुक्तों की दोषिता को सिद्ध करने के लिए कुल 21 साक्षियों का अवलंब लिया और प्रदर्श पी1 से पी31 चिह्नित किए तथा अभिलेख पर 27 तात्विक वस्तुएं थी । प्रतिरक्षा पक्ष की तरफ से साक्षी के रूप में विद्यालय के एक मुख्य अध्यापक की परीक्षा की गई और प्रदर्श डी 1 चिह्नित किया गया । विचारण न्यायालय ने पूर्ण रूप से विचारण करने के पश्चात् अभियुक्तों को दोषी पाया और अभियुक्त पोन्नू (अभि. 1) को भारतीय दंड संहिता की धारा 302/34 के अधीन दोषसिद्ध किया और आजीवन कारावास भुगतने का दंडादेश दिया तथा 500/- रुपए का जुर्माना अधिरोपित किया और जुर्माने के संदाय में व्यतिक्रम करने पर 6 माह का अतिरिक्त कारावास भुगतने का दंडादेश दिया । गणपति (अभि.-2) और चित्रावेलु (अभि.-3) को भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के अधीन (दो आरोपों के लिए) आजीवन कारावास और 1,000/- रुपए के जुर्माने और जुर्माने के संदाय में व्यतिक्रम करने पर छह माह का अतिरिक्त कारावास भुगतने का दंडादेश दिया । तथापि, प्रत्येक आरोप के लिए दिए गए दंडादेशों को साथ-साथ चलने का निदेश दिया गया । मुथुलक्ष्मी (अभि.-4) को भारतीय दंड संहिता की धारा 302 के अधीन आजीवन कारावास भुगतने के साथ-साथ 500/- रुपए के जुर्माने का संदाय करने और जुर्माने के संदाय में व्यतिक्रम करने पर छह माह का अतिरिक्त कारावास भुगतने का दंडादेश दिया ।

7. अभियुक्तों ने व्यथित होकर अपील के माध्यम से उच्च न्यायालय में समावेदन किया । उच्च न्यायालय ने इस अपील में आक्षेपित निर्णय द्वारा अभियुक्त सं. 1 के विरुद्ध दोषसिद्धि और दंडादेश को अपास्त कर दिया और अभियुक्त सं. 2 से 4 के विरुद्ध विचारण न्यायालय द्वारा अधिनिर्णीत दोषिसिद्धि और दंडादेश की अभिपुष्टि की । अपीलार्थी निचले न्यायालयों के निर्णयों से असंतुष्ट होकर हमारे समक्ष आए हैं । क्योंकि राज्य ने अभियुक्त सं. 1 की दोषमुक्ति के विरुद्ध कोई अपील फाइल नहीं की है, इसलिए हमारा सरोकार केवल दोषसिद्धि से उद्भूत हुई अपीलों से है ।

8. हमने पक्षकारों की ओर से विद्वान् काउंसेलों को सुना और अभिलेख पर की सम्पूर्ण सामग्री पर सावधानीपूर्वक विचार किया ।

9. अपीलार्थियों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेल द्वारा

दिए गए विवादग्रस्त तर्क यह हैं कि निचले न्यायालयों ने अभि. सा. 1 और 2 के साक्ष्य को असम्यक् महत्व देकर गलती की है, जो कि हितबद्ध साक्षी हैं क्योंकि वे क्रमशः मृतकों के पिता और भाई हैं और उनकी अभियुक्तों के साथ दुश्मनी है । उच्च न्यायालय ने यद्यपि अभियुक्त सं. 1 के विरुद्ध उनके साक्ष्य को अविश्वसनीय पाया था, फिर भी अभियुक्त सं. 2 और 3 (अपीलार्थी) की दोषसिद्धि और दंडादेश को कायम रखने के लिए उनके साक्ष्य का अवलंब लिया । अभियोजन के पक्षकथन पर केवल इस कारण से ही विश्वास नहीं किया जा सकता है कि मृतक मुरुगन से संबंधित अधिकथित घटना एक होटल पर घटित हुई थी जो कि एक सार्वजनिक स्थान है, किंतु घटना का कोई स्वंतत्र साक्षी नहीं है । अभियुक्त सं. 4, मृतक मुरुगन की पत्नी के मामले के संबंध में विद्वान् काउंसेल ने जोरदार रूप से यह दलील दी कि निचले न्यायालयों ने मृतका पूमरी की दस वर्षीय पुत्री-अभि. सा. 3 के साक्ष्य को महत्व देकर जबकि पोनराज (प्रति. सा. 1), जो उस विद्यालय का मुख्याध्यापक है जहां अभि. सा. 3 पढ़ रही थी, के साक्ष्य पर अविश्वास करके गंभीर गलती की है, जिसने यह अभिसाक्ष्य दिया है कि यह बालिका घटना के समय विद्यालय में मौजूद थी और उसने अपने दावे का समर्थन विद्यालय के हाजिरी रजिस्टर, प्रदर्श डी-1 से किया था, जिसमें स्पष्ट रुप से यह दिखाया गया है कि यह विद्यार्थी विद्यालय में मौजूद थी ।

10. तथापि, राज्य की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेल ने अभियुक्त सं. 2 से 4 (अपीलार्थी) के विरुद्ध विचारण न्यायालय द्वारा अधिनिर्णीत दोषसिद्धि और दंडादेश की अभिपुष्टि करने के लिए उच्च न्यायालय द्वारा अपनाए गए दृष्टिकोण का समर्थन किया है ।

11. संबंधित विद्वान् काउंसेलों द्वारा दी गई दलीलों पर सावधानीपूर्वक विचार करने के पश्चात् हमने मामले के तथ्यों और परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए अभिलेख पर की सामग्री का परिशीलन किया है । इस तथ्य से इंकार नहीं किया गया है कि मृतक मुरुगन और अभियुक्त-मुथुलक्ष्मी के बीच विवाह सौहार्दपूर्ण वातावरण में नहीं हुआ था और पति-पत्नी के साथ-साथ उनके परिवारों के बीच भी तनातनी के संबंध थे । अभियुक्त सं. 4 अपने विवाह के लगभग एक माह पश्चात् अपने दांपत्य गृह से निकल आई थी और इस तथ्य के कारण अन्य अभियुक्त व्यक्तियों (अभि.-4 के भाइयों) को मुरुगन तथा उसकी बहिन-पूमरी से, जो अभिकथित रूप से पति-पत्नी के बीच विवाद की जड़ थी, ईर्ष्या हो गई थी । इस प्रकार, अभियुक्तों द्वारा

अपराध कारित करने का हेतु पूरी तरह से स्पष्ट है क्योंकि घटना से पहले दिन भी पक्षकार पुलिस थाने में मिले थे और अभियुक्तों की विपदग्रस्त व्यक्तियों के साथ गर्मागरम बहस हुई थी और मुरुगन और उसकी बहन पूमरी को समाप्त कर देने की चुनौती दी थी ।

12. प्रत्यक्षदर्शी साक्षियों, अभि. सा. 1 और 2, जो मृतक का पिता और भाई है, के साक्ष्य से स्पष्ट रूप से वह रीति प्रदर्शित होती है जिस रीति में अभियुक्तों ने मृतक मुरुगन के जीवन का अंत किया था । उनके साक्ष्य में अभियुक्तों की दोषिता को युक्तियुक्त संदेह के परे वर्णित किया गया है और इसकी संपुष्टि डा. धनराज (अभि. सा. 12) के उस चिकित्सीय साक्ष्य से होती है, जिन्होंने मृतक मुरुगन के शव की मरणोत्तर परीक्षा की थी और कुल दस काटने वाली क्षतियों का उल्लेख किया था, जिनमें से क्षति सं. 1, 2, 5, 6, 7, 8, 9 और 10 घातक हैं और जिन्हें दरांती द्वारा कारित करना संभव था और मृत्यु कारित करने के लिए समर्थ थीं, जबकि क्षति सं. 7 और 9 को चाकू द्वारा कारित करना संभव था । यह प्रतीत होता है कि अभियोजन पक्ष द्वारा प्रयोजित किए गए दो स्वतंत्र साक्षी (अभि. सा. 5 और 6) थे किंतु वे पक्षद्रोही हो गए थे । कई मामलों में घटना के समय केवल परिवार के सदस्य ही मौजूद होते हैं, तब अभियोजन का पक्षकथन केवल उनके साक्ष्य पर आधारित होगा । जब केवल उनका साक्ष्य ही उपलब्ध साक्ष्य हो, तब न्यायालयों को सतर्क रहना चाहिए और विचारण की प्रक्रिया में साक्ष्य का मूल्यांकन सावधानीपूर्वक करना चाहिए और हम अभियुक्तों की ओर से दी गई इस दलील का समर्थन नहीं कर सकते हैं कि स्वतंत्र साक्षियों की परीक्षा न कराना और परिवार के सदस्यों के साक्ष्य पर आधारित दोषसिद्धि अभियोजन के पक्षकथन के लिए घातक है ।

13. "नातेदार" और "हितबद्ध" समानार्थी नहीं हैं । किसी साक्षी को "हितबद्ध" केवल तब कहा जा सकता है जब वह किसी मुकदमेबाजी, किसी सिविल मामले में डिक्री के परिणामस्वरूप कोई फायदा प्राप्त करता है या करती है, या किसी अभियुक्त व्यक्ति को दंडित होते हुए देखना चाहता है । कोई साक्षी, जो स्वाभाविक है और मामले की परिस्थितियों में एकमात्र संभव प्रत्यक्षदर्शी साक्षी है, उसे "हितबद्ध" नहीं कहा जा सकता है (**राजस्थान राज्य** बनाम **श्रीमती कल्की और एक अन्य**[1] वाला मामला देखें) ।

---

[1] (1981) 2 एस. सी. सी. 752.

14. केवल इस कारण कि प्रत्यक्षदर्शी साक्षी परिवार के सदस्य हैं, उनके साक्ष्य को स्वतः त्यक्त नहीं किया जा सकता है । जब हितबद्धता का अभिकथन किया गया है, तो उसे सिद्ध किया जाना चाहिए था । केवल यह कथन कि साक्षी मृतक के नातेदार होने के कारण उनके द्वारा अभियुक्तों को मिथ्या रूप से फंसाने की संभावना है, उनके उस साक्ष्य को त्यक्त करने का आधार नहीं हो सकता है जो कि अन्यथा तर्कपूर्ण और विश्वसनीय है । नातेदारी किसी साक्षी की विश्वसनीयता को प्रभावित करने वाली बात नहीं है । प्रायः यह कहा जाता है कि कोई नातेदार वास्तविक अपराधी को नहीं छिपाएगा और किसी निर्दोष व्यक्ति के विरुद्ध अभिकथन नहीं करेगा । यदि मिथ्या फंसाए जाने का अभिवाक् किया जाता है तो उसका आधार भी दिया जाना चाहिए (**मरांडु और एक अन्य** बनाम **पुलिस निरीक्षक की मार्फत तमिलनाडु राज्य**[1] वाला मामला देखें) ।

15. प्रस्तुत मामले में, अभि. सा. 1 और 2, यद्यपि मृतकों के पिता और भाई हैं, स्वाभाविक साक्षी हैं और परिवार के सदस्यों या अन्य व्यक्ति की साक्षियों के रूप में परीक्षा करने के लिए विधि में कोई वर्जना नहीं है । उनके परिसाक्ष्यों में अभियुक्तों द्वारा मृतकों पर किए गए हमले का स्पष्ट वर्णन किया गया है । हमने अभिलेख से यह पाया है कि अभि. सा. 1 और 2 के साक्ष्य संगत हैं और न्यायालय के मन में विश्वास प्रेरित करते हैं । निचले न्यायालयों ने भी उनके साक्ष्यों को विचार में लेने से पूर्व उनकी उचित रूप से संवीक्षा की है और उनके परिसाक्ष्यों पर विश्वास करने में कुछ भी अप्रायिक नहीं है । इसके अतिरिक्त, अभियोजन पक्ष ने स्वतंत्र साक्षी, अभि. सा. 5 और 6, की परीक्षा की थी जो पक्षद्रोही हो गए थे । अभियोजन पक्ष ने अभियुक्तों की दोषिता को सिद्ध करने के लिए सभी संभव उपाय किए हैं । इसलिए अभि. सा. 1 और 2 के साक्ष्य पर आधारित दोषसिद्धि अभियोजन के पक्षकथन के लिए घातक नहीं है ।

16. इसी प्रकार, शकुंतला (अभि. सा. 3) के साक्ष्य में अभियुक्त सं. 2, 3 और 4 द्वारा निभाई गई भूमिका को स्पष्ट करते हुए जिस परिस्थिति में और जिस तरीके से अभियुक्तों द्वारा मृतका पूमरी पर आक्रमण किया गया था उसका विशद वर्णन किया गया है । उसका साक्ष्य विश्वासप्रद है और इसकी स्पष्ट रूप से चिकित्सीय साक्ष्य द्वारा संपुष्टि

---

[1] (2008) 16 एस. सी. सी. 529.

होती है । मृतका पूमरी की मरणोत्तर परीक्षा रिपोर्ट (प्रदर्श पी 16) से यह दर्शित होता है कि मृतका के शरीर पर तीन घोंपने वाली क्षतियों के अतिरिक्त लगभग 10 काटने वाली क्षतियां थीं । अभि. सा. 12 डा. धनराज के अनुसार काटने वाली क्षतियां दरांती द्वारा कारित करना संभव था और घोंपने वाली क्षतियां संभवतः चाकू द्वारा कारित की गईं थीं । उन क्षतियों में से क्षति सं. 1, 10, 11, 12 और 13 गंभीर हैं और तुरंत मृत्यु कारित करने योग्य हैं ।

17. अभियुक्तों की ओर से विद्वान् काउंसेल का यह तर्क कि निचले न्यायालयों ने प्रति. सा. 1 के साक्ष्य पर विश्वास न करके गलती की है, स्वीकार नहीं किया जा सकता है और इसका कारण यह है कि अभिलेख से यह स्पष्ट होता है कि उस विद्यालय के हाजिरी रजिस्टर में, जिसमें अभि. सा. 3 पढ़ रही थी, सभी विद्यार्थियों की सात माह अर्थात् जून, 1999 से दिसंबर, 1999 तक की लगातार अवधि की हाजिरी लगाई गई है और उसमें एक भी विद्यार्थी गैर-हाजिर नहीं है । इस प्रकार, यह बात इस तथ्य का सूचक है कि इस बात को विचार में लाए बिना कि विद्यार्थी विद्यालय में हाजिर हुए हैं या नहीं, सभी विद्यार्थियों की हाजिरी लगाई गई है । इन परिस्थितियों में, न तो प्रति. सा. 1 के साक्ष्य से और न ही प्रदर्श डी 1 से अभियुक्तों का बचाव होता है और इस आधार पर अभि. सा. 3 के साक्ष्य को अविश्वसनीय नहीं कहा जा सकता है ।

18. हमारे द्वारा परिस्थितियों पर समग्र रूप से विचार करने पर, हम उच्च न्यायालय द्वारा अभियुक्तों को दोषसिद्ध करने के लिए अपनाए गए मत में कोई त्रुटि नहीं पा सकते हैं, जिनकी दोषिता युक्तियुक्त संदेह के परे साबित की गई है । सभी पूर्वगामी कारणों से, हमारी यह सुविचारित राय है कि उच्च न्यायालय द्वारा पारित किए गए निर्णय में साक्ष्य का मूल्यांकन करने या विधि संबंधी कोई गलती नहीं है । अतः, हम आक्षेपित निर्णय में हस्तक्षेप करने के लिए तैयार नहीं हैं । इसलिए, ये अपीलें खारिज की जाती हैं ।

अपीलें खारिज की गईं ।

जस.

पी. मीनाक्षीसुन्दरम्

बनाम

पी. विजय कुमार और एक अन्य

28 मार्च, 2018

न्यायमूर्ति आर. भानुमति और न्यायमूर्ति उदय उमेश ललित

संविधान, 1950 – अनुच्छेद 136 [सपठित विनिर्दिष्ट अनुतोष अधिनियम, 1963 की धारा 12 और 15] – विशेष इजाजत अपील – संपत्ति का विक्रय करार – संपत्ति विल्लंगम रहित होने का मिथ्या अभिवाक् करना – विक्रय करार का निष्पादन नहीं होना – निष्पादन कराने के लिए विनिर्दिष्ट वाद फाइल करना – वाद खारिज किया जाना – यदि पक्षकारों के बीच किसी संपत्ति के बारे में विक्रय करार, इस निबंधन के अधीन किया जाता है कि संपत्ति किसी भी विल्लंगम से रहित है, किन्तु बाद में उस संपत्ति पर बैंक का ऋण बकाया पाया जाता है तो क्रेता पर यह निर्भर करता है कि वह या तो बैंक का ऋण संदत्त करके विक्रय करार निष्पादित करा ले या उसे शून्य घोषित करा दे, किन्तु, यदि वह उस विक्रय करार का निष्पादन कराने के लिए विनिर्दिष्ट पालन के लिए वाद फाइल करता है तो वह ऐसा तभी कर सकता है जब वह स्वयं उस करार के अपने भाग का पालन करने के लिए सदैव ही "तैयार और रजामंद" रहा है, अन्यथा नहीं ।

वर्तमान मामले में, प्रश्नगत संपत्ति, ग्राम परशुरमनपति, मदुरै नार्थ तालुक, तल्कुलकम् सब-डिवीजन, मदुरै नार्थ में स्थित भू-खंड माप लगभग 3708 वर्गफीट एक मैरेज हाल (संक्षेप में वाद संपत्ति) से संबंधित है । अपीलार्थी ने वाद संपत्ति को कैथोलिक सिरियन बैंक (बाद में फेडेरल बैंक लिमिटेड हो गया) के पास बंधक रखा था और बैंक ने वसूली कार्यवाहियां अर्थात् 1996 की मूल वाद सं. 40, अपर एडिशनल सब-कोर्ट, मदुरै के समक्ष आरंभ की थी जो बाद में डीआरटी, कोयम्बटूर को अंतरित हो गया था और इसे 2004 की अंतरण आवेदन सं. 1443 के रूप में पुनः संख्यांकित किया गया था । तारीख 30 जून, 2000 को अपीलार्थी ने प्रत्यर्थी सं. 1 के साथ वाद संपत्ति का विक्रय करने के आशय से एक करार (प्रदर्श ए-1) किया । प्रतिफल की रकम 19 लाख रुपए पर सहमति हुई थी जिसमें से एक लाख रुपए अग्रिम रकम के रूप में संदत्त की गई

थी । अपीलार्थी की ओर से इस करार में यह आश्वासन दिया गया था कि "..... अनुसूचित उल्लिखित संपत्ति पर कोई विल्लंगम नहीं है" किन्तु यह कथन किया गया है कि – "द्वितीय पक्षकार का यह कथन है कि संपत्ति के मूल दस्तावेज द्वितीय पक्षकार के पास उपलब्ध नहीं है और यह बैंक के पास है । यदि या तो अनुसूचित संपत्ति या अन्य संपत्ति के बारे में द्वितीय पक्षकार के पास कोई ऋण उपलब्ध है तो वह उक्त ऋण की रकम का संदाय प्रथम पक्षकार को कर सकता है और अनुसूचित संपत्ति के मूल दस्तावेज और अन्य समर्थित अभिलेखों को प्राप्त कर सकता है और द्वितीय पक्षकार उसे प्रथम पक्षकार को सौप सकता है ।" इसके पश्चात्, प्रत्यर्थी सं. 1 द्वारा जारी चैक अनादृत हो गए थे (जैसा कि तारीख 18 सितम्बर, 2000 के नोटिस प्रदर्श ए-2 से प्रकट है) किन्तु पक्षकारों ने तारीख 20 सितम्बर, 2000 को एक पश्चात्वर्ती करार (संक्षेप में जिसे "वाद करार" कहा गया है) किया जिसके अधीन प्रतिफल की रकम 37.5 लाख रुपए नियत किया गया था । इस करार के अनुसार, मैरेज हाल का मूर्त उपयोग करना भी सम्मिलित था । 1 लाख रुपए के ऊपर जिसे अग्रिम रकम के रूप में पहले ही प्राप्त किया जा चुका था अतिरिक्त 2 लाख रुपए के रकम चैक द्वारा और 3 लाख रुपए डिमांड ड्राफ्ट द्वारा उसी दिन संदत्त किए गए थे । उक्त करार में यह वर्णित था कि अतिशेष रकम संदत्त किया जाना था और निम्नलिखित निबंधनों में तारीख 20 मार्च, 2001 तक विक्रय विलेख रजिस्ट्रीकृत किया जाना था – यद्यपि, वाद करार के सुसंगत निबंधन उस करार (प्रदर्श ए-1) के समरूप ही थे, उस तारीख को पक्षकारों के बीच यह समझ बनी थी कि जब वाद करार किया गया था तो तारीख 22 सितम्बर, 2001 को प्रत्यर्थी सं. 1 की पश्चात्वर्ती संसूचना (प्रदर्श ए-6) प्राप्त हुई थी । तारीख 1 सितम्बर, 2002 को प्रत्यर्थी सं. 1 के अधिवक्ता द्वारा अपीलार्थी को एक टेलीग्राम भेजा गया था । इसके तत्काल पश्चात्, अर्थात् तारीख 2 सितम्बर, 2002 को प्रत्यर्थी सं. 1 द्वारा डीआरटी कोयम्बटूर के समक्ष 2002 की अंतरण आवेदन सं. 1441 में स्वयं को पक्षकार बनाए जाने के लिए 2002 की आई. ए. सं. 126 प्रस्तुत की थी । तारीख 3 सितम्बर, 2002 के टेलीग्राम के उत्तर में अपीलार्थी ने प्रत्यर्थी सं. 1 के अधिवक्ता द्वारा किए गए सभी प्राख्यान से इनकार किया और तारीख 20 सितम्बर, 2000 के करार को रद्द कर दिया । अपीलार्थी ने सुसंगत रेंज के डीआईजी से भी शिकायत की और पुलिस संरक्षण की ईप्सा की और प्रत्यर्थी सं. 1, पुलिस निरीक्षक, उमाचीकुलम और संबंधित डिवीजन के पुलिस उप-अधीक्षक के विरुद्ध मद्रास उच्च न्यायालय में 2002 की मूल याचिका सं. 226 प्रस्तुत की । अपीलार्थी के अनुसार उसे प्रत्यर्थी सं. 1

द्वारा नियोजित किराए के टट्टुओं द्वारा धमकी दी गई और तारीख 16 सितम्बर, 2002 को प्रत्यर्थी सं. 1 द्वारा वाद संपत्ति का कब्जा ले लिया गया था । इसके तत्काल पश्चात् ही अपीलार्थी ने पुलिस अधीक्षक, मदुरै, ग्रामीण के समक्ष समुचित याचिका प्रस्तुत की । पूर्वोक्त पृष्ठभूमि में, तारीख 19 फरवरी, 2002 को प्रत्यर्थी सं. 1 ने तारीख 20 सितम्बर, 2000 के करार की विनिर्दिष्ट पालन की ईप्सा करते हुए 2002 की मूल वाद सं. 764 फाइल की । विचारण न्यायालय ने तारीख 1 अक्तूबर, 2010 के अपने निर्णय और डिक्री द्वारा 2002 की मूल वाद सं. 764 को डिक्री कर दिया और अपीलार्थी द्वारा प्रस्तुत प्रति-दावे को खारिज कर दिया । इससे व्यथित होकर अपीलार्थी द्वारा मामले को मद्रास उच्च न्यायालय, मदुरै न्यायपीठ के समक्ष अपीलों को फाइल करते हुए लाया गया था । उच्च न्यायालय ने यह निष्कर्ष निकाला कि प्रत्यर्थी सं. 1 की ओर से तैयार और रजामंद होना सिद्ध होता है । इस प्रकार, उच्च न्यायालय ने अपने तारीख 7 जनवरी, 2014 के निर्णय और आदेश से अपीलार्थी द्वारा प्रस्तुत अपीलों अर्थात् 2010 की अपील वाद सं. 218-219 को खारिज कर दिया । इससे व्यथित होकर, माननीय उच्चतम न्यायालय के समक्ष अपीलें फाइल की गईं । न्यायालय द्वारा अपीलें मंजूर करते हुए,

अभिनिर्धारित – अपीलार्थी द्वारा आश्वासन उस समय पर दिया गया था जब तारीख 30 जून, 2000 को यह करार (प्रदर्श ए-1) निष्पादित हुआ था कि वाद संपत्ति पर कोई विल्लंगम नहीं है, जो तथ्य का सही कथन नहीं था । यह भी वर्णित है कि "मूल दस्तावेज" बैंक में है, जो पुनः ऋजु और पूर्ण प्रकटीकरण नहीं था । यह सत्य है कि इन प्रकथनों को तारीख 20 सितम्बर, 2000 के पश्चात्वर्ती वाद करार में पुनः दोहराया गया था । तथापि, प्रत्यर्थी सं. 1 से प्राप्त तारीख 20 सितम्बर, 2001 की संसूचना (प्रदर्श ए-6) में यह अभिलिखित है कि वाद करार किए जाने के समय पर विल्लंगम अस्तित्व में था अत्यधिक सुज्ञात तथ्य है । वर्तमान मामले के प्रयोजन के लिए क्या महत्वपूर्ण है यह सामान्य समझ की बात है जिससे पक्षकारों के बीच समझौते हुए थे । यदि प्रत्यर्थी सं. 1 को उस समय वाद संपत्ति पर विल्लंगम के अस्तित्व के बारे में अच्छी तरह जानकारी थी, जब वाद करार किए गए थे, तो इसके पश्चात् वह इसके प्रतिकूल निवेदन नहीं कर सकता है । आमुख पर ही यह स्पष्ट समझदारी प्रतीत होती है जिसके अधीन वाद करार किए गए थे, उच्च न्यायालय ने यह मत व्यक्त करने में पूर्णतः त्रुटि की है कि अपीलार्थी का संपूर्ण पक्षकथन संक्षिप्ततः त्यक्त किए जाने योग्य है । जहां तक विनिर्दिष्ट पालन के लिए वाद का संबंध है, इस बारे में विधि अत्यधिक स्पष्ट है कि वादी को इसका अभिवचन करना

चाहिए और संविदा की तारीख से वाद की सुनवाई होने की तारीख तक सभी प्रकार से संविदा के अपने भाग का पालन करने के लिए स्वयं को तैयार और रजामंद होना साबित करना चाहिए । यदि प्रत्यर्थी सं. 1 को विल्लंगम के बारे में अच्छी तरह जानकारी थी और पक्षकारों ने यह चुनाव किया था कि अतिशेष प्रतिफल अपीलार्थी को तारीख 20 मार्च, 2001 के पूर्व संदत्त किया जाना था, ताकि विक्रय विलेख बिना किसी विल्लंगम के रजिस्ट्रीकृत किया जा सके, तो इस बारे में प्रत्यर्थी सं. 1 का दायित्व था कि वह संव्यवहार पूरा करने के लिए उस एवज में समुचित कदम उठाता । अभिलेख पर मौजूद तथ्यों से यह प्रकट होता है कि प्रत्यर्थी सं. 1 द्वारा उठाया गया प्रथम कदम वाद करार के पश्चात् था अर्थात् चार माह के पश्चात् उठाया गया था जब तारीख 21 जनवरी, 2001 को और 2,00,000/- रुपए की रकम संदत्त की थी । इसके पश्चात्, तारीख 20 मार्च, 2001 तक कुछ भी नहीं किया गया था जिससे कि संव्यवहार को पूरा किया जा सकता था । संव्यवहार पूरा करने के बारे में तारीख 20 मार्च, 2001 के आस-पास भेजी गई किसी संसूचना में इस बारे में अभिलेख पूर्णतः चुप है । तथ्य यह है कि प्रथम कदम छह माह के पश्चात् अर्थात तारीख 22 सितम्बर, 2001 को अंतिम तारीख बीतने के पश्चात् उठाया गया था जब 10,00,000/- रुपए की रकम के साथ संसूचना (प्रदर्श ए-6) भेजी गई थी । प्रत्यर्थी सं. 1 की ओर से फाइल लिखित निवेदन से भी उस समय तक कोई कदम उठाने के बारे में उपदर्शित नहीं किया गया है जिससे कि यह कहा जा सके कि वह संव्यवहार पूरा करने के लिए सभी प्रकार से तैयार और रजामंद था । प्रत्यर्थी सं. 1 द्वारा वादपत्र के पैरा 7 में किया गया प्राख्यान, मात्र ऐसे किसी सुसंगत वर्णन के किया गया प्राख्यान है कि उसने ठीक तौर पर अपनी बाध्यताओं को पूरा करने और संव्यवहार को पूरा करने के बारे में क्या किया था ? तथ्यात्मक पहलू, जैसा उपर्युक्त सविस्तार है से नितांत स्पष्ट होता है कि प्रत्यर्थी सं. 1 अपनी बाध्यताओं को पूरा करने में पूर्णतः असफल रहा था और संविदा के अपने भाग का पालन करने के लिए तैयार और रजामंद नहीं था । प्रत्यर्थी सं. 1 द्वारा स्थापित मामले से भी यह प्रकट होता है कि तारीख 29 जुलाई, 2002 के आस-पास एक समझौता हुआ था जिसके अधीन अतिशेष रकम 19.5 लाख रुपए में से 13.5 लाख रुपए प्रत्यर्थी सं. 1 द्वारा सीधे तौर पर बैंक में जमा किए जाने थे और शेष 6 लाख रुपए की रकम अपीलार्थी को नकद में संदत्त किया जाना था, तथ्यों से इन शर्तों का अनुपालन किया जाना उपदर्शित नहीं होता है । पक्षकार बनाए जाने के लिए आवेदन फाइल करने के अलावा, जिसे खारिज कर दिया गया था, प्रत्यर्थी सं. 1 ने कोई

कदम नहीं उठाया है । अपीलार्थी के द्वारा 13.5 लाख रुपए की रकम स्वतंत्र तौर पर जमा किया था और उन्मोचन प्राप्त किया था । प्रत्यर्थी सं. 1 को उसके द्वारा दिए गए सुझाव के अनुरूप समझौते के अनुसरण में वाद संपत्ति का कब्जा सौंपा गया था, तो ऐसे समझौते के अधीन उसकी बाध्यता दोहरी हो जाती है, अर्थात् सीधे तौर पर बैंक के बकायों का संदाय करना और शेष रकम का संदाय अपीलार्थी को करना था । अभिलेख पर ऐसा कुछ नहीं है जिससे कि प्रत्यर्थी सं. 1 की ओर से ऐसी बाध्यता का निर्वहन करने से संगत हो सकता है । प्रत्यर्थी सं. 1 द्वारा स्थापित पक्षकथन यह है कि उसे तारीख 29 जुलाई, 2002 को या उसके आस-पास किए गए समझौते के अनुसरण में कब्जा सौंपा गया था, संदेह से परे नहीं है । उस मामले में जहां 19.5 लाख रुपए अब भी बकाया थे, तो यह स्वीकार करना संभव नहीं है कि विक्रेता, क्रेता को कब्जा सौंप सकता है, जबकि विक्रय विलेख का निष्पादन करने के पूर्व कब्जा सौंपने के बारे में मूल करार में अनुध्यात नहीं है । समकालीन तथ्यों जिसमें यह पहलू भी सम्मिलित है कि अपीलार्थी ने प्रत्यर्थी सं. 1 द्वारा बलपूर्वक कब्जा लेने के बारे में दांडिक कार्यवाहियां आरंभ की थीं और कतिपय प्राधिकारियों के समक्ष शिकायतें दर्ज कराई थीं, से भी प्रत्यर्थी सं. 1 का दावा मिथ्या उपदर्शित होता है । ऐसा होते हुए भी मूल विवाद्यक यह है कि क्या प्रत्यर्थी सं. 1 उस संविदा के अपने भाग का पालन करने के लिए तैयार और रजामंद था जिसमें हमारे सुविचारित मत में उसके विरुद्ध उत्तर दिया जा सकता है । हम, इस बारे में सचेत हैं कि दोनों न्यायालयों ने तथ्य के निष्कर्ष निकाले हैं किन्तु हमारे मत में ऐसे निष्कर्ष अभिलेख पर के तथ्यों के पूर्णतः विरोध में हैं और विरुद्ध हैं और इसे पूर्णतः कायम रखे जाने योग्य नहीं है । (पैरा 7, 8, 9, 10 और 11)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[2011]	(2011) 1 एस. सी. सी. 429 : **जे. पी. बिल्डर्स और एक अन्य** बनाम **ए. रामादास राव और एक अन्य** ;	6
[1994]	(1994) 1 एस. सी. सी. 1 : **एस. पी. चेंगलवराया नायडू (मृत) मार्फत इसके विधिक प्रतिनिधिगण** बनाम **जगनाथ (मृत) मार्फत इसके विधिक प्रतिनिधिगण और अन्य** ;	3,7

[1967]	[1967] 1 एस. सी. आर. 227 : **गोमतीनयगम् पिल्लई और अन्य** बनाम **पल्लनीस्वामी नाडर** ;	5
	एल. आर. 55 आई. ए. 360 : **आर्देशिर मामा** बनाम **फ्लोरा सेसून** ।	5

अपीली (सिविल) अधिकारिता : 2018 की सिविल अपील सं. 3353-3354.

संविधान, 1950 के अनुच्छेद 136 के अधीन विशेष इजाजत अपील ।

अपीलार्थी की ओर से सर्वश्री वी. मोहन, ज्येष्ठ अधिवक्ता, बी. रघुनाथ, एन. सी. कविता और विजय कुमार, अधिवक्तागण

प्रत्यर्थियों की ओर से सर्वश्री वी. प्रभाकर, (सुश्री) ज्योति पराशर, एन. जे. रामचन्दर और एस. राजप्पा, अधिवक्तागण

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति उदय उमेश ललित ने दिया ।

न्या. ललित – इजाजत दी जाती है ।

2. विशेष इजाजत द्वारा इन अपीलों में मद्रास उच्च न्यायालय द्वारा 2010 की अपील वाद (एम डी) सं. 218-219 में पारित तारीख 7 जनवरी, 2014 के निर्णय और आदेश की सत्यता को चुनौती दी गई है ।

3. इन अपीलों को फाइल करने के मुख्य तथ्य संक्षिप्त में निम्नलिखित हैं :–

क. प्रश्नगत संपत्ति, ग्राम परशुरमनपति, मदुरै नार्थ तालुक, तल्कुलकम् सब-डिवीजन, मदुरै नार्थ में स्थित भू-खंड माप लगभग 3708 वर्गफीट एक मैरेज हाल (संक्षेप में वाद संपत्ति) से संबंधित है । अपीलार्थी ने वाद संपत्ति को कैथोलिक सिरियन बैंक (बाद में फेडेरल बैंक लिमिटेड हो गया) के पास बंधक रखा था और बैंक ने वसूली कार्यवाहियां अर्थात् 1996 की मूल वाद सं. 40, अपर एडिशनल सब-कोर्ट, मदुरै के समक्ष आरंभ की थी जो बाद में डीआरटी, कोयम्बटूर को अंतरित हो गया था और इसे 2004 की अंतरण आवेदन सं. 1443 के रूप में पुनः संख्यांकित किया गया था ।

ख. तारीख 30 जून, 2000 को अपीलार्थी ने प्रत्यर्थी सं. 1 के साथ वाद संपत्ति का विक्रय करने के आशय से एक करार (प्रदर्श ए-1) किया । प्रतिफल की रकम 19 लाख रुपए पर सहमति हुई थी जिसमें से एक लाख रुपए अग्रिम रकम के रूप में संदत्त की गई थी । अपीलार्थी की ओर से इस करार में यह आश्वासन दिया गया था कि "..... अनुसूचित उल्लिखित संपत्ति पर कोई विल्लंगम नहीं है" किन्तु यह कथन किया गया है कि –

> "द्वितीय पक्षकार का यह कथन है कि संपत्ति के मूल दस्तावेज द्वितीय पक्षकार के पास उपलब्ध नहीं है और यह बैंक के पास है । यदि या तो अनुसूचित संपत्ति या अन्य संपत्ति के बारे में द्वितीय पक्षकार के पास कोई ऋण उपलब्ध है तो वह उक्त ऋण की रकम का संदाय प्रथम पक्षकार को कर सकता है और अनुसूचित संपत्ति के मूल दस्तावेज और अन्य समर्थित अभिलेखों को प्राप्त कर सकता है और द्वितीय पक्षकार उसे प्रथम पक्षकार को सौप सकता है ।"

ग. इसके पश्चात्, प्रत्यर्थी सं. 1 द्वारा जारी चैक अनादृत हो गए थे (जैसा कि तारीख 18 सितम्बर, 2000 के नोटिस प्रदर्श ए-2 से प्रकट है) किन्तु पक्षकारों ने तारीख 20 सितम्बर, 2000 को एक पश्चात्वर्ती करार (संक्षेप में जिसे 'वाद करार' कहा गया है) किया जिसके अधीन प्रतिफल की रकम 37.5 लाख रुपए नियत किया गया था । इस करार के अनुसार, मैरेज हाल का मूर्त उपयोग करना भी सम्मिलित था । एक लाख रुपए के ऊपर जिसे अग्रिम रकम के रूप में पहले ही प्राप्त किया जा चुका था अतिरिक्त 2 लाख रुपए के रकम चैक द्वारा और 3 लाख रुपए डिमांड ड्राफ्ट द्वारा उसी दिन संदत्त किए गए थे । उक्त करार में यह वर्णित था कि अतिशेष रकम संदत्त किया जाना था और निम्नलिखित निबंधनों में तारीख 20 मार्च, 2001 तक विक्रय विलेख रजिस्ट्रीकृत किया जाना था –

> "..... प्रथम पक्षकार को या तो सब रजिस्ट्रार के समक्ष या व्यक्तिगत रूप में तारीख 20 मार्च, 2001 तक अतिशेष विक्रय प्रतिफल की रकम 26,50,000/- रुपए (छब्बीस लाख पचास हजार रुपए मात्र) को संदत्त किया जाना था और द्वितीय पक्षकार को उसे प्राप्त करना था और इस प्रभाव का सबूत देना था और उक्त विक्रय विलेख विल्लंगम रहित द्वितीय पक्षकार द्वारा रजिस्ट्रीकृत किया जाना था और यह कि द्वितीय पक्षकार के सिवाय किसी अन्य व्यक्ति का उस पर हक नहीं होना था ।"

घ. यद्यपि, वाद करार के सुसंगत निबंधन उस करार (प्रदर्श ए-1) के

समरूप ही थे, उस तारीख को पक्षकारों के बीच यह समझ बनी थी कि जब वाद करार किया गया था तो तारीख 22 सितम्बर, 2001 को प्रत्यर्थी सं. 1 की पश्चात्वर्ती संसूचना (प्रदर्श ए-6) प्राप्त हुई थी जो निम्नलिखित है :–

> "कि पक्षकारों के बीच यह भी दृढ़ विश्वास और बातचीत हुई है कि वे उक्त कल्याण मण्डांपम् और उपाबंध के संदर्भ में नया विक्रय करार किए जाने की सहमति हुई थी । क्योंकि आपका मुवक्किल स्वयं ही कैथोलिक सिरियन बैंक का संपूर्ण ऋण चुकाना चाहता है, इसलिए, उक्त संपत्ति का विक्रय मूल्य 37,50,000/- रुपए की सहमति हुई थी और आपके मुवक्किल को अतिरिक्त तौर पर डीडी के माध्यम से 5,00,000/- रुपए (पांच लाख रुपए मात्र) संदत्त किया गया था, कुल अग्रिम रकम 6,00,000/- रुपए जिसमें तारीख 30 जून, 2000 के करार के पूर्व 1,00,000/- रुपए की रकम नकद अग्रिम के रूप में पहले ही संदत्त कर दी गई थी, मेरे मुवक्किल द्वारा संदत्त किया जा चुका है, इसलिए, तारीख 30 जून, 2000 के पूर्ववर्ती करार को अधिक्रांत करते हुए संबंधित पक्षकारों के बीच तारीख 20 सितम्बर, 2000 को एक नया विक्रय करार किया गया था ।

ङ. प्रत्यर्थी सं. 1 ने तारीख 21 फरवरी, 2001 को चैक द्वारा 2 लाख रुपए की रकम और संदत्त की थी । यद्यपि, तारीख 22 मार्च, 2001 तक संव्यवहार पूर्ण हो गया था, फिर भी, अभिलेख, संव्यवहार पूरा होने के बारे में उस समय के आस-पास पक्षकारों के बीच किसी संसूचना के बारे में चुप है । यद्यपि, तारीख 22 सितम्बर, 2001 को चैक द्वारा 10 लाख रुपए की रकम संदत्त कर दी गई थी, प्रत्यर्थी सं. 1 के अनुसार, जो अपीलार्थी को संदत्त की गई थी ताकि वह बैंक के बकायों का भुगतान कर सके ।

च. अभिलेख, तारीख 22 सितम्बर, 2001 के पश्चात्, तारीख 29 जुलाई, 2002 तक की किसी प्रगति के बारे में पुनः चुप है, जब प्रत्यर्थी सं. 1 ने अपने अधिवक्ता के माध्यम से विधिक नोटिस जारी किया था । प्रत्यर्थी सं. 1 के अनुसार, अपीलार्थी के अधिवक्ता द्वारा इसका उत्तर दिया गया था और आगामी चर्चा में यह सहमति हुई थी कि वाद संपत्ति का कब्जा प्रत्यर्थी सं. 1 को सौंप दिया जाए । प्रत्यर्थी सं. 1 के अनुसार, अतिशेष 19.5 लाख रुपए की रकम में से 13.5 लाख रुपए प्रत्यर्थी सं. 1 द्वारा सीधे बैंक को संदत्त किया जाना था और अतिशेष 6 लाख रुपए की रकम नकद में अपीलार्थी को उस दिन संदत्त किए जाने पर सहमति हुई

थी, जिस दिन दस्तावेज रजिस्ट्रीकृत होना था । प्रत्यर्थी सं. 1 के अनुसार, अपीलार्थी द्वारा वाद संपत्ति का कब्जा उसे तारीख 3 अगस्त, 2002 को सौंपा गया था ।

प्रत्यर्थी सं. 1 द्वारा स्थापित पूर्वोक्त पक्षकथन विवादित है और अपीलार्थी द्वारा इनकार किया गया है और उसके अनुसार, स्थानीय पुलिस और अन्य किराए के टट्टुओं के हस्तक्षेप से प्रत्यर्थी सं. 1 ने तारीख 16 सितम्बर, 2002 को बलपूर्वक कब्जा लिया था ।

छ. तारीख 1 सितम्बर, 2002 को प्रत्यर्थी सं. 1 के अधिवक्ता द्वारा अपीलार्थी को एक टेलीग्राम भेजा गया था । इसके तत्काल पश्चात्, अर्थात् तारीख 2 सितम्बर, 2002 को प्रत्यर्थी सं. 1 द्वारा डीआरटी कोयम्बटूर के समक्ष 2002 की अंतरण आवेदन सं. 1441 में स्वयं को पक्षकार बनाए जाने के लिए 2002 की आई. ए. सं. 126 प्रस्तुत की थी । तारीख 3 सितम्बर, 2002 के टेलीग्राम के उत्तर में अपीलार्थी ने प्रत्यर्थी सं. 1 के अधिवक्ता द्वारा किए गए सभी प्राख्यान से इनकार किया और तारीख 20 सितम्बर, 2000 के करार को रद्द कर दिया । अपीलार्थी ने सुसंगत रेंज के डीआईजी से भी शिकायत की और पुलिस संरक्षण की ईप्सा की और प्रत्यर्थी सं. 1, पुलिस निरीक्षक, उमाचीकुलम और संबंधित डिवीजन के पुलिस उप-अधीक्षक के विरुद्ध मद्रास उच्च न्यायालय में 2002 की मूल याचिका सं. 226 प्रस्तुत की । अपीलार्थी के अनुसार उसे प्रत्यर्थी सं. 1 द्वारा नियोजित किराए के टट्टुओं द्वारा धमकी दी गई और तारीख 16 सितम्बर, 2002 को प्रत्यर्थी सं. 1 द्वारा वाद संपत्ति का कब्जा ले लिया गया था । इसके तत्काल पश्चात् ही अपीलार्थी ने पुलिस अधीक्षक, मदुरै, ग्रामीण के समक्ष समुचित याचिका प्रस्तुत की ।

ज. पूर्वोक्त पृष्ठभूमि में, तारीख 19 फरवरी, 2002 को प्रत्यर्थी सं. 1 ने तारीख 20 सितम्बर, 2000 के करार की विनिर्दिष्ट पालन की ईप्सा करते हुए 2002 की मूल वाद सं. 764 फाइल की । वादपत्र को बाद में संशोधित किया गया था और फेडेरल बैंक लिमिटेड ने अपने शाखा प्रबंधक के माध्यम से द्वितीय प्रतिवादी के रूप में स्वयं को जोड़ा था । जहां तक उस व्यवस्थापन जिसके अधीन प्रत्यर्थी सं. 1 ने कब्जा लिया था, इस प्रकार वर्णित था :–

> "....... इसी बीच में, क्योंकि वाद संपत्ति पर लिए गए ऋण का भुगतान करने के लिए आवश्यक कदम उठाए गए, दोनों पक्षकारों के अधिवक्ताओं ने तारीख 20 सितम्बर, 2000 को किए गए विक्रय

करार को निष्पादित करने के लिए तारीख 29 जुलाई, 2002 को एक बैठक आयोजित किया और इस बात पर सहमति हुई कि यह प्रतिवादी इस वर्ष के मध्य माह के अठारहवें दिन (तारीख 3 अगस्त, 2002) को वाद संपत्ति के संबंध में विक्रय विलेख निष्पादित करना है, कि 19,50,000/- रुपए में से 13,00,000/- रुपए की अतिशेष विक्रय प्रतिफल वादी द्वारा मामले में समझौते करने के लिए संदत्त किया जाना है जो ऋण वसूली अधिकरण के समक्ष किया जाना है, कि शेष 6,50,000/- रुपए (छह लाख पचास हजार रुपए मात्र) की रकम प्रथम प्रतिवादी को नकद में दिया जाना है.....।"

प्रत्यर्थी सं. 1 की ओर से वाद करार के अधीन अपनी बाध्यताओं का अनुपालन करने के लिए तैयार और रजामंद होने के संबंध में संशोधित वादपत्र का पैरा 7 निम्नलिखित है :–

"(7) उपर्युक्त उक्त समझौते के अनुसार, जब कि यह वादी तारीख 3 अगस्त, 2002 को विक्रय करार को पूर्ण करने के लिए तैयार था, जैसा कि विक्रय विलेख का निष्पादन करने के लिए या तो अवनि माह के तीसरे दिन (तारीख 19 अगस्त, 2002) या अवनि माह के पांचवें दिन (21 अगस्त, 2002) पर सहमति हुई थी और यह कि आदी के माह में विक्रय विलेख रजिस्ट्रीकृत करने में धार्मिक रिवाजों के अनुसार कुछ कठिनाइयां हैं और इस वादी को मैरेज हाल का कब्जा लेने की सहमति दी गई थी, इस वादी ने तारीख 3 अगस्त, 2002 को आदी माह के अठारहवें दिन पर वाद संपत्ति का कब्जा ले लिया था और उसने उसका उपभोग किया है । विवाह कार्यक्रम जो प्रथम प्रतिवादी द्वारा बुक किए गए थे, अपने निरीक्षण के अधीन इस वादी द्वारा संचालित किए गए थे ।"

झ. अपने लिखित कथन में अपीलार्थी ने प्रतिवादी सं. 1 द्वारा किए गए सुसंगत प्राख्यानों से इनकार किया है । जहां तक प्रत्यर्थी सं. 1 की ओर से तैयार और रजामंद होने का संबंध है, यह कथित है कि :–

"यह निवेदन किया जाता है कि प्रतिवादी की बार-बार मांग करने के बावजूद, वादी ने न तो अतिशेष विक्रय मूल्य का संदाय किया अथवा न ही तत्काल विक्रय विलेख निष्पादित किया । यद्यपि, विक्रय पूरा होने की विनिर्दिष्ट दशा तारीख 20 मार्च, 2001 को या इसके पूर्व पूर्ण हो गई थी, जैसा कि विक्रय करार में उल्लिखित है और संविदा में 'समय' सार के रूप में उल्लिखित है, वादी ने

अनुध्यात समय के भीतर विक्रय पूरा नहीं किया । वादी संविदा के अपने भाग का अनुपालन करने के लिए तैयार और रजामंद नहीं था यद्यपि, प्रतिवादी वाद संपत्ति पर के विल्लंगमों को चुकाने के लिए तैयार था ।"

कब्जा सौंपने के बारे में मामला निम्नलिखित रूप से वर्णित है :–

"तारीख 16 सितम्बर, 2002 को वादी अपने आदमियों के साथ आया और प्रतिवादी को यह धमकी दिया कि क्यों उसने विक्रय करार रद्द कर दिया और यदि वह उसके पक्ष में विक्रय करार निष्पादित नहीं करेगा तो वह प्रतिवादी को वाद संपत्ति का उपभोग करने की अनुज्ञा नहीं देगा । इसके तत्काल बाद प्रतिवादी पुलिस आयुक्त मदुरै सिटी के कार्यालय गया जहां उसे अगले दिन आने के लिए कहा गया । तारीख 17 सितम्बर, 2002 को उसने पुलिस आयुक्त मदुरै सिटी के समक्ष एक याचिका प्रस्तुत की और इसे पुलिस अधीक्षक, मदुरै ग्रामीण को अग्रेषित कर दिया गया था । जब प्रतिवादी, पुलिस अधीक्षक, मदुरै ग्रामीण के कार्यालय में था तब वादी के उकसाने पर पुडुर के कार्तिक मुनीसामी अपने आदमियों अर्थात् राजेश, कन्नन्, मुनीसामी और अन्यों के साथ वाद संपत्ति के वाचमैन पर हमला कर दिया था और वाद संपत्ति में अवैध तौर पर अतिक्रमण किया और वाद संपत्ति को क्षति पहुंचाया और वाद संपत्ति पर अवैध तौर पर कब्जा कर लिया । जब उसे वादी के आदमियों द्वारा वाद संपत्ति पर अवैध कब्जा लेने के बारे में जानकारी हुई तो प्रतिवादी ने तत्काल ही इसकी सूचना पुलिस अधीक्षक, मदुरै ग्रामीण को दिया जिन्होंने याचिका पर पृष्ठांकन करते हुए, वादी और उसके आदमियों के विरुद्ध प्रथम इत्तिला रिपोर्ट रजिस्ट्रर करने के लिए पुलिस निरीक्षक, उमाचिकुलम को निर्देश दिया .....।"

ञ. अपीलार्थी ने अपने अतिरिक्त लिखित कथन-सह-प्रतिदावा में निम्नलिखित निवेदन किया :–

"डीआरटी, कोयम्बटूर के समक्ष लंबित 2002 की टीए सं. 1441 में वादी द्वारा फाइल 2002 की आई. ए. सं. 126 में आवेदन को तारीख 3 जनवरी, 2003 को खारिज कर दिया था । इसी बीच में, प्रतिवादी ने इस तारीख तक वाद फाइल करने के पश्चात् फेडेरल बैंक, मदुरै को 13 लाख रुपए का भी संदाय कर दिया ।"

उसने यह भी निवेदन किया कि –

यह निवेदन किया जाता है कि वादी ने वाद संपत्ति का कब्जा अवैध तौर पर लिया है जैसा कि उपर्युक्त कथित है और उसका कब्जा अविधिमान्य है । उसने वाद संपत्ति का अवैध कब्जा लेने के नाते अविधिमान्य लाभ और आय अभिप्राप्त किया । उसने वाद संपत्ति का निम्नतम 30 मुहुर्तम्स प्रतिवर्ष के लिए बुक करते हुए उपभोग किया । वाद संपत्ति से प्रतिवर्ष आय के सभी खर्चों को घटाने के पश्चात् 1,80,000/- रुपए बचता है । तारीख 17 सितम्बर, 2002 से इस प्रति-दावे को फाइल करने तक लगभग पिछला अंतःकालीन लाभ 5,40,000/- रुपए होता है । वादी, तारीख 17 सितम्बर, 2002 से इस अतिरिक्त लिखित कथन-सह-प्रतिदावा को फाइल करने की तारीख तक पिछले अंतःकालीन लाभों के रूप में 5,40,000/- रुपए का संदाय करने के लिए दायी है । इन परिस्थितियों में, आज्ञापक व्यादेश और अंतःकालीन लाभों के लिए डिक्री मंजूर किया जा सकता है जहां प्रथम प्रतिवादी ने वाद संपत्ति के बारे में अपूर्णीय हानि और क्षति कारित किया है ।

इन परिस्थितियों में, अपीलार्थी ने वाद संपत्ति का कब्जा प्रदान करने, पिछले अंतःकालीन लाभों के रूप में 5,40,000/- रुपए का संदाय करने और साथ ही भविष्य में होने वाले अंतःकालीन लाभों के लिए प्रार्थना की है ।

ट. फेडेरल बैंक लिमिटेड के उपस्थिति अधिकारी ने डीआरटी, कोयम्बटूर के समक्ष कार्यवाहियों में तारीख 8 दिसम्बर, 2009 को एक ज्ञापन यह फाइल किया कि अपीलार्थी ने लेखा के पूर्ण और अंतिम भुगतान के बारे में तारीख 16 नवम्बर, 2009 को 13,42,173/- रुपए का छूट प्राप्त किया था । इसलिए, उपस्थित अधिकारी द्वारा यह प्रार्थना की गई थी कि दावे की संतुष्टि अभिलिखित किया जाए ।

ठ. विचारण न्यायालय ने तारीख 1 अक्तूबर, 2010 के अपने निर्णय और डिक्री द्वारा 2002 की मूल वाद सं. 764 को डिक्री कर दिया और अपीलार्थी द्वारा प्रस्तुत प्रति-दावे को खारिज कर दिया । सभी विवाद्यकों के उत्तर प्रत्यर्थी सं. 1 के पक्ष में दिए गए थे । अपीलार्थी को तीन माह के भीतर अतिशेष विक्रय प्रतिफल प्राप्त करने के पश्चात्, प्रत्यर्थी सं. 1 के पक्ष में वाद संपत्ति के बारे में विक्रय विलेख निष्पादित करने और उसे रजिस्ट्रर करने का निर्देश दिया गया था और अपीलार्थी को वाद खर्चे के बारे में रु. 3,23,038/- का भुगतान प्रत्यर्थी को करने का भी निर्देश दिया गया था । यह मत व्यक्त किया गया था कि 'समय' संविदा का सार नहीं है । जहां तक प्रत्यर्थी सं. 1 की ओर से तैयार और रजामंद होने का संबंध

है, निम्नलिखित मत व्यक्त किया गया था :–

> "वाद संपत्तियों का क्रय करने के लिए वादी का तैयार और रजामंद होने पर विचार करते समय, वादी के विद्वान् काउंसेल द्वारा यह निवेदन किया गया था कि सहमति के अनुसार, वादी ने प्रथम प्रतिवादी को पूर्ण प्रतिफल प्राप्त करने के पश्चात् वाद संपत्तियों को रजिस्टर करने के लिए विधिक नोटिस जारी किया था और वादी सहमति के अनुसार वाद संपत्तियों को रजिस्टर करने के लिए उप रजिस्ट्रार कार्यालय में तारीख 3 अगस्त, 2002 को इंतजार भी कर रहा था और वादी पूर्ण रकम का संदाय करने और वाद संपत्तियों को क्रय करने के लिए तैयार भी था ।"

ङ. मामले को, अपीलार्थी द्वारा मद्रास उच्च न्यायालय, मदुरै न्यायपीठ के समक्ष अपीलों को फाइल करते हुए लाया गया था । उच्च न्यायालय के अनुसार, वाद करार के निष्पादन के पूर्व अपीलार्थी ने विल्लंगम के अस्तित्व के बारे में कोई प्रकटीकरण नहीं किया था, जिस तथ्य की जानकारी प्रत्यर्थी सं. 1 को बाद में हुई थी । **एस. पी. चेंगलवराया नायडू (मृत)** मार्फत **इसके विधिक प्रतिनिधिगण** बनाम **जगनाथ (मृत)** मार्फत **इसके विधिक प्रतिनिधिगण और अन्य**[1] वाले मामले में, इस न्यायालय के विनिश्चय का अवलंब लेते हुए, निम्नलिखित मत व्यक्त किया गया था :–

> "चूंकि प्रथम प्रतिवादी ने इस तथ्य को छिपाया है कि उसने वाद संपत्ति को विल्लंगम के माध्यम से ऋण प्राप्त किया था और प्रदर्श ए-3 के निष्पादन के समय पर 1996 की मूल वाद सं. 40 भी लंबित है, यह स्पष्ट होता है कि प्रथम प्रतिवादी की ओर से की गई संपूर्ण प्रतिरक्षा मिथ्या पर आधारित है ।
>
> .....किन्तु, कारण जिसे वह ही बेहतर तरीके से जानता है, योजनाबद्ध तरीके से, जानबूझकर वाद संपत्ति पर बंधक होने के तथ्य को छिपाया गया और प्रदर्श ए-3 में इस प्रभाव का कथन भी किया गया कि वाद संपत्ति पर कोई विल्लंगम नहीं है । इसलिए, प्रथम प्रतिवादी की ओर से की गई संपूर्ण प्रतिरक्षा शुद्धता मिथ्या पर आधारित है और माननीय उच्चतम न्यायालय द्वारा दी गई युक्ति के अनुसार, वर्तमान मामले में प्रथम प्रतिवादी द्वारा की गई प्रतिरक्षा को संक्षिप्ततः त्यक्त किया जा सकता है ।"

---

[1] (1994) 1 एस. सी. सी. 1.

उच्च न्यायालय ने यह निष्कर्ष निकाला कि प्रत्यर्थी सं. 1 की ओर से तैयार और रजामंद होना सिद्ध होता है । इस प्रकार, उच्च न्यायालय ने अपने तारीख 7 जनवरी, 2014 के निर्णय और आदेश से अपीलार्थी द्वारा प्रस्तुत अपीलों अर्थात् 2010 की अपील वाद सं. 218-219 को खारिज कर दिया ।

4. इस न्यायालय ने विशेष इजाजत अपील के लिए याचिकाओं में तारीख 25 अगस्त, 2014 को नोटिस जारी किया । पक्षकारों ने अभिवचनों की अदला-बदली की और अभिलेख पर दस्तावेज भी फाइल किए ।

हमने, अपीलों के समर्थन में सुश्री वी. मोहना, विद्वान् ज्येष्ठ अधिवक्ता तथा प्रत्यर्थी सं. 1 के श्री वी. प्रभाकर, विद्वान् अधिवक्ता को सुना । सुनवाई के निष्कर्ष के पश्चात्, प्रत्यर्थी सं. 1 द्वारा अन्य बातों को प्रस्तुत करने के सिवाय निम्नलिखित लिखित निवेदन किया गया :–

"तैयार और रजामंद होने के बारे में प्रकथन के अलावा प्रत्यर्थी सं. 1 के आचरण द्वारा यह साबित होता है, जो इस प्रकार है :–

(i) तारीख 20 सितम्बर, 2000 को अग्रिम रकम के रूप में रु. 6,00,000/- का संदाय ;

(ii) तारीख 21 जनवरी, 2001 को अग्रिम रकम के रूप में रु. 2,00,000/- का और संदत्त किया जाना ;

(iii) तारीख 22 सितम्बर, 2001 को अग्रिम रकम के रूप में रु. 10,00,000/- का और संदत्त किया जाना ;

(iv) प्रत्यर्थी द्वारा याची को विक्रय विलेख निष्पादित करने के लिए तारीख 22 सितम्बर, 2001 को नोटिस जारी किया जाना ;

(v) याची, उसके विद्वान् काउंसेल का प्रत्यर्थी और उसके विद्वान् काउंसेल के साथ करार के पालन के तरीके पर विचार करने के लिए बैठक आयोजित किया जाना । बैठक करने के उक्त तथ्य और उसके परिणाम जिसे प्रत्यर्थी द्वारा अपनी ओर से जारी तारीख 29 अगस्त, 2002 के नोटिस में खंड II के पृष्ठ 136 के पैरा 6 में वादपत्र में स्वीकार किया गया है जिसे प्रदर्श ए-15 के रूप में चिह्नित किया गया था ;

(vi) तारीख 3 अगस्त, 2002 को संपत्ति का कब्जा लेना ;

(vii) प्रत्यर्थी से बकाया ऋण का भुगतान करने को ध्यान में

रखते हुए, ऋण वसूली कार्यवाहियों में पक्षकार बनाए जाने की ईप्सा करना ;

(viii) याची द्वारा करार रद्द करने के लिए जारी तारीख 3 सितम्बर, 2002 के टेलीग्राम करने के पश्चात् 9 दिनों के भीतर वाद फाइल करना । वाद, तारीख 12 सितम्बर, 2002 को फाइल किया गया था......।

प्रत्यर्थी सं. 1 द्वारा अतिशेष प्रतिफल को जमा नहीं करना, प्रत्यर्थी सं. 1 के विरुद्ध नहीं जा सकता है, क्योंकि विल्लंगम का भार, विक्रय करार करने के पश्चात् प्रकाश में आया था जिसे याची द्वारा विशेष इजाजत याचिका पेपर बुक के पृष्ठ 37 पर वर्णित निबंधनों में उन्मोचन के लिए रकम की मांग करते हुए भुगतान किया जाना ईप्सित था जिसे याची द्वारा कभी भी नहीं किया गया था । विक्रय करार के अनुसार, याची द्वारा मूल हक विलेख और अन्य समर्थित दस्तावेजों को सौंपना था जिसे पुनः विक्रय प्रतिफल का लगभग आधा से अधिक रकम प्राप्त करने के बावजूद नहीं सौंपा गया था, चूंकि मूल हक विलेख, जैसा कि करार के अधीन अपेक्षित था, सौंपा नहीं गया था, इसलिए, प्रत्यर्थी सं. 1 को कब्जा दिया गया था ।"

5. **आर्देशिर मामा** बनाम **फ्लोरा सेसून**[1] वाले मामले में, प्रिवी काउंसिल की मताभिव्यक्तियों को निर्दिष्ट करने के पश्चात् **गोमतीनयगम् पिल्लई और अन्य** बनाम **पल्लनीस्वामी नाडर**[2] वाले मामले में, इस न्यायालय ने यह अधिकथित किया कि एक करार के विशिष्ट पालन के लिए वाद में, वादी को यह अभिवाचित और साबित करना चाहिए कि वह संविदा की तारीख से वाद की सुनवाई होने की सही तारीख तक संविदा के अपने भाग का पालन करने के लिए तैयार और रजामंद था । इस न्यायालय द्वारा इस एवज में निम्नलिखित मत व्यक्त किए गए थे :–

"किन्तु, प्रत्यर्थी ने विनिर्दिष्ट पालन की डिक्री के लिए दावा किया है और उसे यह सिद्ध करना है कि वह संविदा की तारीख से संविदा के अपने भाग का पालन करने के लिए निरंतर तैयार और रजामंद था । यदि वह ऐसा करने में असफल रहता है तो उसका विनिर्दिष्ट पालन के लिए दावा असफल हो जाएगा । जैसा कि आर्देशिर मामा **बनाम** फ्लोरा सेसून (उपर्युक्त) वाले मामले में, प्रिवी

[1] एल. आर. 55 आई. ए. 360.

[2] [1967] 1 एस. सी. आर. 227.

कौंसिल के न्यायिक समिति द्वारा मत व्यक्त किया गया है :–

> "दूसरी ओर, विनिर्दिष्ट पालन के लिए वाद में, वह उपस्थित हुआ और न्यायालय द्वारा संविदा अस्तित्व में बने रहने के रूप में समझा जाना अपेक्षित था । वह अभिकथन करने के लिए उस वाद में उपस्थित हुआ था और यदि इस तथ्य पर विचार किया जाए तो उससे संविदा की तारीख से सुनवाई के समय तक संविदा के अपने भाग का पालन करने के लिए निरंतर तैयार और रजामंद होना साबित किया जाना अपेक्षित था । इस प्रकथन को करने में असफल रहने पर अनिवार्य रूप से उसका वाद खारिज किए जाने योग्य होगा ।"

प्रत्यर्थी को करार के विनिर्दिष्ट पालन के लिए वाद में, उसे अभिवाचित किया जाना चाहिए और यह साबित करना चाहिए कि वह संविदा की तारीख और वाद सुनवाई की तारीख के बीच निरंतर तौर पर संविदा के अपने भाग का पालन करने के लिए तैयार और रजामंद था ।"

6. इसी प्रकार, **जे. पी. बिल्डर्स और एक अन्य** बनाम **ए. रामादास राव और एक अन्य**[1] वाले मामले में, इस न्यायालय द्वारा पैराग्राफ 21 और 25 में निम्नलिखित मत व्यक्त किया गया था :–

> "21. तीन खंडों में से, हम खंड (ग) से अत्यधिक संबंध रखते हैं । खंड (ग) में, "तैयार और रजामंद" समाविष्ट है, जो पुराने अधिनियम, 1877 में मौजूद था तथापि, इसे 9वें विधि आयोग की रिपोर्ट की सिफारिशों के अनुसार बाद में अंतःस्थापित किया गया था । यह खंड, यह उपबंध करती है कि विनिर्दिष्ट पालन की ईप्सा करने वाले व्यक्ति को यह साबित करना चाहिए कि उसने संविदा के आवश्यक निबंधनों का पालन किया है अथवा पालन करने के लिए तैयार और रजामंद रहा है, जो उसके द्वारा पालन किया जाना था ।
>
> 25. विनिर्दिष्ट अनुतोष अधिनियम, 1963 की धारा 16(ग) में यह समादेश है कि वादी की ओर से "तैयार और रजामंद" होना चाहिए और यह विनिर्दिष्ट पालन का अनुतोष प्राप्त करने के लिए एक पूर्ववर्ती शर्त है । यह भी स्पष्ट होता है कि विनिर्दिष्ट पालन के लिए वाद में, वादी को अभिकथन करना चाहिए और उसे संविदा की

---

[1] (2011) 1 एस. सी. सी. 429.

तारीख से संविदा के अपने भाग का पालन करने के लिए निरंतर "तैयार और रजामंद" रहने को साबित करना चाहिए । यह साबित करने का भार वादी पर है ।"

7. अपीलार्थी द्वारा आश्वासन उस समय पर दिया गया था जब तारीख 30 जून, 2000 को यह करार (प्रदर्श ए-1) निष्पादित हुआ था कि वाद संपत्ति पर कोई विल्लंगम नहीं है, जो तथ्य का सही कथन नहीं था । यह भी वर्णित है कि "मूल दस्तावेज" बैंक में है, जो पुनः ऋजु और पूर्ण प्रकटीकरण नहीं था । यह सत्य है कि इन प्रकथनों को तारीख 20 सितम्बर, 2000 के पश्चात्वर्ती वाद करार में पुनः दोहराया गया था । तथापि, प्रत्यर्थी सं. 1 से प्राप्त तारीख 20 सितम्बर, 2001 की संसूचना (प्रदर्श ए-6) में यह अभिलिखित है कि वाद करार किए जाने के समय पर विल्लंगम अस्तित्व में था अत्यधिक सुज्ञात तथ्य है । वर्तमान मामले के प्रयोजन के लिए क्या महत्वपूर्ण है यह सामान्य समझ की बात है जिससे पक्षकारों के बीच समझौते हुए थे । यदि प्रत्यर्थी सं. 1 को उस समय वाद संपत्ति पर विल्लंगम के अस्तित्व के बारे में अच्छी तरह जानकारी थी, जब वाद करार किए गए थे, तो इसके पश्चात् वह इसके प्रतिकूल निवेदन नहीं कर सकता है । आमुख पर ही यह स्पष्ट समझदारी प्रतीत होती है जिसके अधीन वाद करार किए गए थे, उच्च न्यायालय ने यह मत व्यक्त करने में पूर्णतः त्रुटि की है कि अपीलार्थी का संपूर्ण पक्षकथन संक्षिप्ततः त्यक्त किए जाने योग्य है । **एस. पी. चेंगलवराया नायडू** (उपर्युक्त) वाले मामले के विनिश्चय के अवलंब लेना भी भ्रांतिपूर्ण है । उस मामले में, विनिर्दिष्ट पालन के लिए वाद उद्भूत नहीं हुआ था और उस मामले में, अधिक से अधिक वादी ने सुसंगत दस्तावेजों को रोक लिया था और इस प्रकार विचारण न्यायालय द्वारा उसके दावे को खारिज करते हुए दिया गया निर्णय इस न्यायालय द्वारा पुनः स्थापित कर दिया गया था । उसमें अधिकथित सिद्धांत को वर्तमान मामले के तथ्यों या विधि में लागू नहीं किया जा सकता है ।

8. जहां तक विनिर्दिष्ट पालन के लिए वाद का संबंध है, इस बारे में विधि अत्यधिक स्पष्ट है कि वादी को इसका अभिवचन करना चाहिए और संविदा की तारीख से वाद की सुनवाई होने की तारीख तक सभी प्रकार से संविदा के अपने भाग का पालन करने के लिए स्वयं को तैयार और रजामंद होना साबित करना चाहिए । यदि प्रत्यर्थी सं. 1 को विल्लंगम के बारे में अच्छी तरह जानकारी थी और पक्षकारों ने यह चुनाव किया था कि अतिशेष

प्रतिफल अपीलार्थी को तारीख 20 मार्च, 2001 के पूर्व संदत्त किया जाना था, ताकि विक्रय विलेख बिना किसी विल्लंगम के रजिस्ट्रीकृत किया जा सके, तो इस बारे में प्रत्यर्थी सं. 1 का दायित्व था कि वह संव्यवहार पूरा करने के लिए उस एवज में समुचित कदम उठाता । अभिलेख पर मौजूद तथ्यों से यह प्रकट होता है कि प्रत्यर्थी सं. 1 द्वारा उठाया गया प्रथम कदम वाद करार के पश्चात् था अर्थात् चार माह के पश्चात् उठाया गया था जब तारीख 21 जनवरी, 2001 को और 2,00,000/- रुपए की रकम संदत्त की थी । इसके पश्चात्, तारीख 20 मार्च, 2001 तक कुछ भी नहीं किया गया था जिससे कि संव्यवहार को पूरा किया जा सकता था । संव्यवहार पूरा करने के बारे में तारीख 20 मार्च, 2001 के आस-पास भेजी गई किसी संसूचना में इस बारे में अभिलेख पूर्णतः चुप है । तथ्य यह है कि प्रथम कदम छह माह के पश्चात् अर्थात् तारीख 22 सितम्बर, 2001 को अंतिम तारीख बीतने के पश्चात् उठाया गया था जब 10,00,000/- रुपए की रकम के साथ संसूचना (प्रदर्श ए-6) भेजी गई थी । प्रत्यर्थी सं. 1 की ओर से फाइल लिखित निवेदन से भी उस समय तक कोई कदम उठाने के बारे में उपदर्शित नहीं किया गया है जिससे कि यह कहा जा सके कि वह संव्यवहार पूरा करने के लिए सभी प्रकार से तैयार और रजामंद था ।

9. प्रत्यर्थी सं. 1 द्वारा वादपत्र के पैराग्राफ 7 में किया गया प्राख्यान, मात्र ऐसे किसी सुसंगत वर्णन के किया गया प्राख्यान है कि उसने ठीक तौर पर अपनी बाध्यताओं को पूरा करने और संव्यवहार को पूरा करने के बारे में क्या किया था ? तथ्यात्मक पहलू, जैसा उपर्युक्त सविस्तार है से नितांत स्पष्ट होता है कि प्रत्यर्थी सं. 1 अपनी बाध्यताओं को पूरा करने में पूर्णतः असफल रहा था और संविदा के अपने भाग का पालन करने के लिए तैयार और रजामंद नहीं था । प्रत्यर्थी सं. 1 द्वारा स्थापित मामले से भी यह प्रकट होता है कि तारीख 29 जुलाई, 2002 के आस-पास एक समझौता हुआ था जिसके अधीन अतिशेष रकम 19.5 लाख रुपए में से 13.5 लाख रुपए प्रत्यर्थी सं. 1 द्वारा सीधे तौर पर बैंक में जमा किए जाने थे और शेष 6 लाख रुपए की रकम अपीलार्थी को नगद में संदत किया जाना था, तथ्यों से इन शर्तों का अनुपालन किया जाना उपदर्शित नहीं होता है । पक्षकार बनाए जाने के लिए आवेदन फाइल करने के अलावा, जिसे खारिज कर दिया गया था, प्रत्यर्थी सं. 1 ने कोई कदम नहीं उठाया है । अपीलार्थी के द्वारा 13.5 लाख रुपए की रकम स्वतंत्र तौर पर जमा किया था और उन्मोचन प्राप्त किया था ।

10. प्रत्यर्थी सं. 1 को उसके द्वारा दिए गए सुझाव के अनुरूप

समझौते के अनुसरण में वाद संपत्ति का कब्जा सौंपा गया था, तो ऐसे समझौते के अधीन उसकी बाध्यता दोहरी हो जाती है, अर्थात् सीधे तौर पर बैंक के बकायों का संदाय करना और शेष रकम का संदाय अपीलार्थी को करना था । अभिलेख पर ऐसा कुछ नहीं है जिससे कि प्रत्यर्थी सं. 1 की ओर से ऐसी बाध्यता का निर्वहन करने से संगत हो सकता है ।

11. प्रत्यर्थी सं. 1 द्वारा स्थापित पक्षकथन यह है कि उसे तारीख 29 जुलाई, 2002 को या उसके आस-पास किए गए समझौते के अनुसरण में कब्जा सौंपा गया था, संदेह से परे नहीं है । उस मामले में जहां 19.5 लाख रुपए अब भी बकाया थे, तो यह स्वीकार करना संभव नहीं है कि विक्रेता, क्रेता को कब्जा सौंप सकता है, जबकि विक्रय विलेख का निष्पादन करने के पूर्व कब्जा सौंपने के बारे में मूल करार में अनुध्यात नहीं है । समकालीन तथ्यों जिसमें यह पहलू भी सम्मिलित है कि अपीलार्थी ने प्रत्यर्थी सं. 1 द्वारा बलपूर्वक कब्जा लेने के बारे में दांडिक कार्यवाहियां आरंभ की थीं और कतिपय प्राधिकारियों के समक्ष शिकायतें दर्ज कराईं थीं, से भी प्रत्यर्थी सं. 1 का दावा मिथ्या उपदर्शित होता है । ऐसा होते हुए भी मूल विवाद्यक यह है कि क्या प्रत्यर्थी सं. 1 उस संविदा के अपने भाग का पालन करने के लिए तैयार और रजामंद था जिसमें हमारे सुविचारित मत में उसके विरुद्ध उत्तर दिया जा सकता है । हम, इस बारे में सचेत हैं कि दोनों न्यायालयों ने तथ्य के निष्कर्ष निकाले हैं किन्तु हमारे मत में ऐसे निष्कर्ष अभिलेख पर के तथ्यों के पूर्णतः विरोध में हैं और विरुद्ध हैं और इसे पूर्णतः कायम रखे जाने योग्य नहीं है ।

12. इसलिए, हम, प्रत्यर्थी सं. 1 के दावे को नामंजूर करते हैं और यह अभिनिर्धारित करते हैं कि प्रत्यर्थी सं. 1 द्वारा प्रस्तुत विनिर्दिष्ट पालन के लिए वाद खारिज किया जाना अपेक्षित है । इसी समय पर, हम अपीलार्थी द्वारा किए प्रति-दावे को स्वीकार करते हैं और यह अभिनिर्धारित करते हैं कि वह कब्जा वापस पाने का हकदार है । यह प्रतीत होता है कि प्रति-दावे में किया गया यह प्राख्यान कि कल्याण मंडपम् का किराया 1,80,000/- रुपए प्रतिवर्ष था, प्रत्यर्थी सं. 1 द्वारा विवादित नहीं किया गया है अथवा इनकार नहीं किया गया है । यह सत्य है कि अपीलार्थी को पिछले 16 वर्षों से कल्याण मंडपम् से आय अर्जित करने से गलत तौर पर इनकार और वंचित किया गया है, इसलिए, वह युक्तियुक्त रकम वापस पाने का हकदार होगा । किन्तु, इसी समय पर, उसने कुल 18 लाख रुपए को रोके रखा और उसका उपभोग किया जिसे उसने प्रत्यर्थी सं. 1 से

अग्रिम रकम के रूप में प्राप्त किया था । इन परिस्थितियों में, यद्यपि, हम उसे 18 लाख रुपए को वापस करने का निर्देश देते हैं और साथ ही हम यह भी निर्देश देना समुचित समझते हैं कि इन परिस्थितियों में प्रत्यर्थी सं. 1 न तो 18 लाख रुपए पर कोई ब्याज पाने का हकदार होगा जिसे उसने अपीलार्थी के साथ वाद करार के अधीन अग्रिम रकम के रूप में दिया था न ही अपीलार्थी, प्रत्यर्थी सं. 1 द्वारा पिछले 18 वर्षों से वाद संपत्ति के दोषपूर्ण कब्जे के एवज में अंतःकालीन लाभों के रूप में कोई रकम पाने का हकदार होगा ।

13. अपील मंजूर की जाती है, इसलिए, हम यह निर्देश देते हैं कि :–

(क) प्रत्यर्थी सं. 1 द्वारा फाइल विनिर्दिष्ट पालन के लिए वाद खारिज किया जाता है । प्रत्यर्थी सं. 1 वाद करार के अधीन अग्रिम रकम के रूप में संदत्त रु. 18 लाख की रकम वापस पाने का हकदार होगा । उक्त रकम को अपीलार्थी द्वारा इस निर्णय की तारीख से तीन माह के भीतर वापस किया जाएगा । उक्त रकम पर कोई ब्याज देय नहीं होगा । तथापि, यदि उक्त रकम यथानिर्देशित आज से तीन माह के भीतर संदत्त नहीं किया जाता है तो उक्त तीन माह की अवधि के बीतने की तारीख से ब्याज के रूप में 7.5% प्रभारित किया जाएगा ।

(ख) अपीलार्थी द्वारा प्रस्तुत प्रति-दावा मंजूर किया जाता है । प्रत्यर्थी सं. 1, इस निर्णय की तारीख से 1 माह के भीतर अपीलार्थी को वाद संपत्ति का खाली और शांतिपूर्ण कब्जा सौंपेगा । तथापि, अपीलार्थी, प्रत्यर्थी सं. 1 द्वारा वाद संपत्ति के दोषपूर्ण कब्जे के संबंध में कोई अंतःकालीन लाभों का हकदार नहीं होगा ।

(ग) तद्नुसार, विचारण न्यायालय द्वारा पारित डिक्री और उच्च न्यायालय द्वारा की गई पुष्टि उपांतरित हो जाएगी । प्रत्येक पक्षकार सभी प्रकार के अपने खर्चे स्वयं वहन करेंगे ।

14. अपीलें, पूर्वोक्त निबंधनों में मंजूर की जाती हैं ।

अपीलें मंजूर की गईं ।

क.

संसद् के अधिनियम

केन्द्रीय विश्वविद्यालय अधिनियम, 2009

(2009 का अधिनियम संख्यांक 25)

[20 मार्च, 2009]

विभिन्न राज्यों में शिक्षण और अनुसंधान के लिए विश्वविद्यालयों की स्थापना और उनके निगमन तथा उनसे संबंधित या उनके आनुषंगिक विषयों का उपबंध करने के लिए

अधिनियम

भारत गणराज्य के साठवें वर्ष में संसद् द्वारा निम्नलिखित रूप में यह अधिनियमित हो :–

1. **संक्षिप्त नाम और प्रारम्भ** – (1) इस अधिनियम का संक्षिप्त नाम केन्द्रीय विश्वविद्यालय अधिनियम, 2009 है ।

(2) यह 15 जनवरी, 2009 को प्रवृत्त हुआ समझा जाएगा ।

2. **परिभाषाएं** – इस अधिनियम में, और इसके अधीन बनाए गए सभी परिनियमों में, जब तक कि संदर्भ से अन्यथा अपेक्षित न हो, –

(क) "विद्या परिषद्" से विश्वविद्यालय की विद्या परिषद् अभिप्रेत है ;

(ख) "शैक्षणिक कर्मचारिवृंद" से ऐसे प्रवर्गों के कर्मचारिवृंद अभिप्रेत हैं जो अध्यादेशों द्वारा शैक्षणिक कर्मचारिवृंद के रूप में अभिहित किए जाएं ;

(ग) "अध्ययन बोर्ड" से विश्वविद्यालय के किसी विभाग का अध्ययन बोर्ड अभिप्रेत है ;

(घ) "महाविद्यालय" से विश्वविद्यालय द्वारा पोषित महाविद्यालय अभिप्रेत है ;

(ङ) "कुलाधिपति", "कुलपति" और "प्रतिकुलपति" से क्रमशः विश्वविद्यालय के कुलाधिपति, कुलपति और प्रतिकुलपति अभिप्रेत हैं ;

(च) "सभा" से विश्वविद्यालय की सभा अभिप्रेत है ;

(छ) "विभाग" से कोई अध्ययन विभाग अभिप्रेत है और इसके अंतर्गत अध्ययन केन्द्र भी है ;

(ज) "दूर शिक्षा पद्धति" से संचार के किसी माध्यम जैसे कि प्रसारण, टेलीविजन प्रसारण, इंटरनेट, पत्राचार पाठ्यक्रम, सेमिनार, संपर्क कार्यक्रम अथवा ऐसे किन्हीं दो या अधिक माध्यमों के संयोजन द्वारा शिक्षा देने की पद्धति अभिप्रेत है ;

(झ) "कर्मचारी" से विश्वविद्यालय द्वारा नियुक्त कोई व्यक्ति अभिप्रेत है और इसके अंतर्गत विश्वविद्यालय के शिक्षक और अन्य कर्मचारिवृंद भी हैं ;

(ञ) "कार्य परिषद्" से विश्वविद्यालय की कार्य परिषद् अभिप्रेत है ;

(ट) "छात्र-निवास" से विश्वविद्यालय या विश्वविद्यालय द्वारा चलाए जा रहे महाविद्यालय या संस्था के छात्रों के लिए निवास या सामूहिक जीवन की इकाई अभिप्रेत है ;

(ठ) "संस्था" से विश्वविद्यालय द्वारा चलाई जा रही ऐसी शिक्षा संस्था अभिप्रेत है, जो महाविद्यालय नहीं है ;

(ड) "प्राचार्य" से विश्वविद्यालय द्वारा चलाए जा रहे किसी महाविद्यालय या किसी संस्था का प्रधान अभिप्रेत है और इसके अंतर्गत, जहां कोई प्राचार्य नहीं है वहां प्राचार्य के रूप में कार्य करने के लिए तत्समय सम्यक् रूप से नियुक्त व्यक्ति और प्राचार्य या कार्यकारी प्राचार्य के न होने पर उपाचार्य के रूप में सम्यक् रूप से नियुक्त व्यक्ति है ;

(ढ) "विनियम" से इस अधिनियम के अधीन विश्वविद्यालय के किसी प्राधिकारी द्वारा बनाए गए तत्समय प्रवृत्त विनियम अभिप्रेत हैं ;

(ण) "विद्यालय" से विश्वविद्यालय का अध्ययन विद्यालय अभिप्रेत है ;

(त) "परिनियम" और "अध्यादेश" से क्रमशः तत्समय प्रवृत्त विश्वविद्यालय के परिनियम और अध्यादेश अभिप्रेत है ;

(थ) "विश्वविद्यालय के अध्यापक" से आचार्य, सहबद्ध आचार्य, सहायक आचार्य और ऐसे अन्य व्यक्ति अभिप्रेत हैं, जो विश्वविद्यालय में या विश्वविद्यालय द्वारा चलाए जा रहे किसी महाविद्यालय या संस्था में शिक्षा देने या अनुसंधान का संचालन करने के लिए नियुक्त किए जाएं और अध्यादेशों द्वारा अध्यापक के रूप में अभिहित किए जाएं ; और

(द) "विश्वविद्यालय" से इस अधिनियम के अधीन विश्वविद्यालय के रूप में स्थापित और निगमित विश्वविद्यालय अभिप्रेत है ।

3. **विश्वविद्यालयों की स्थापना** – (1) मध्य प्रदेश विश्वविद्यालय अधिनियम, 1973 (1973 का मध्य प्रदेश अधिनियम 22) के अधीन स्थापित छत्तीसगढ़ राज्य में गुरू घासी दास विश्वविद्यालय और मध्य प्रदेश राज्य में डा. हरी सिंह गौड़ विश्वविद्यालय तथा उत्तर प्रदेश राज्य विश्वविद्यालय अधिनियम, 1973 (1973 का राष्ट्रपति अधिनियम 10) के अधीन स्थापित उत्तराखंड राज्य में हेमवती नंदन बहुगुणा गढ़वाल विश्वविद्यालय इस अधिनियम के अधीन क्रमशः "गुरू घासी दास विश्वविद्यालय", "डा. हरी सिंह गौड़ विश्वविद्यालय" और "हेमवती नंदन बहुगुणा गढ़वाल विश्वविद्यालय" के नाम से निगमित निकाय के रूप में स्थापित होंगे ।

(2) गुरू घासी दास विश्वविद्यालय, डा. हरी सिंह गौड़ विश्वविद्यालय और हेमवती नंदन बहुगुणा गढ़वाल विश्वविद्यालय के मुख्यालय क्रमशः बिलासपुर, सागर और श्रीनगर में होंगे ।

(3) गुरू घासी दास विश्वविद्यालय, डा. हरी सिंह गौड़ विश्वविद्यालय और हेमवती नंदन बहुगुणा गढ़वाल विश्वविद्यालय की अधिकारिता क्रमशः छत्तीसगढ़ राज्य के बिलासपुर, रायगढ़ और सरगुजा जिलों तक, मध्य प्रदेश राज्य के सागर, टीकमगढ़, छत्तरपुर, पन्ना, छिंदवाड़ा और दमोह जिलों तक तथा उत्तराखंड राज्य के चमोली, देहरादून, गढ़वाल, हरिद्वार, रुद्र प्रयाग, टिहरी गढ़वाल और उत्तर काशी जिलों तक विस्तारित होगी ।

(4) विभिन्न राज्यों में इस अधिनियम की पहली अनुसूची में यथा विनिर्दिष्ट नामों और क्षेत्रीय अधिकारिता के साथ निगमित निकायों के रूप में विश्वविद्यालय स्थापित किए जाएंगे ।

(5) उपधारा (4) में निर्दिष्ट प्रत्येक विश्वविद्यालय का मुख्यालय वह

होगा जो केन्द्रीय सरकार, राजपत्र में अधिसूचना द्वारा, नियत करे ।

(6) प्रत्येक विश्वविद्यालय का प्रथम कुलाधिपति, प्रथम कुलपति तथा सभा, कार्य परिषद् और विद्या परिषद् के प्रथम सदस्य और वे सभी व्यक्ति, जो उनके पश्चात् ऐसे अधिकारी या सदस्य बनें, जब तक वे ऐसा पद या सदस्यता धारण करते रहें, विश्वविद्यालय के नाम से निगमित निकाय का गठन करेंगे ।

(7) विश्वविद्यालय का शाश्वत् उत्तराधिकार होगा और उसकी सामान्य मुद्रा होगी तथा उक्त नाम से वह वाद लाएगा और उस पर वाद लाया जाएगा ।

[1][**3क. जम्मू-कश्मीर राज्य के संबंध में विशेष उपबंध** – (1) धारा 3 की उपधारा (4) के अधीन स्थापित जम्मू-कश्मीर केन्द्रीय विश्वविद्यालय कश्मीर केन्द्रीय विश्वविद्यालय के नाम से ज्ञात होगा और उसकी क्षेत्रीय अधिकारिता जम्मू-कश्मीर राज्य के कश्मीर खंड तक सीमित होगी ।

(2) जम्मू केन्द्रीय विश्वविद्यालय के नाम से ज्ञात एक विश्वविद्यालय स्थापित किया जाएगा, जो एक निगमित निकाय होगा, जिसकी क्षेत्रीय अधिकारिता जम्मू-कश्मीर राज्य के जम्मू खंड तक विस्तारित होगी ।

(3) जम्मू-कश्मीर राज्य के जम्मू खंड के क्षेत्र के संबंध में जम्मू-कश्मीर केन्द्रीय विश्वविद्यालय की समस्त आस्तियां और दायित्व, जम्मू केन्द्रीय विश्वविद्यालय की आस्तिओं और दायित्वों के रूप में अंतरित हो जाएंगी ।

(4) जम्मू-कश्मीर राज्य के जम्मू खंड के क्षेत्र के संबंध में जम्मू-कश्मीर विश्वविद्यालय द्वारा की गई कोई बात या कोई कार्रवाई जम्मू केन्द्रीय विश्वविद्यालय द्वारा की गई समझी जाएगी ।

(5) जम्मू-कश्मीर राज्य के जम्मू खंड के क्षेत्र के संबंध में जम्मू-कश्मीर केन्द्रीय विश्वविद्यालय द्वारा या उसके विरुद्ध संस्थित कोई वाद या जारी की गई विधिक कार्यवाही जम्मू केन्द्रीय विश्वविद्यालय द्वारा या उसके विरुद्ध संस्थित किया गया या जारी की गई समझी जाएगी ।]

[2][**3ख. बिहार राज्य के संबंध में विशेष उपबंध** – (1) धारा 3 की उपधारा (4) के अधीन स्थापित बिहार केन्द्रीय विश्वविद्यालय, दक्षिण बिहार

---

1 2009 के अधिनियम सं. 38 की धारा 2 द्वारा अंतःस्थापित ।
2 2014 के अधिनियम सं. 35 की धारा 2 द्वारा अंतःस्थापित ।

केन्द्रीय विश्वविद्यालय के नाम से ज्ञात होगा, जिसकी क्षेत्रीय अधिकारिता, इस अधिनियम की पहली अनुसूची में यथा विनिर्दिष्ट बिहार राज्य में गंगा नदी के दक्षिण में राज्यक्षेत्र पर विस्तारित होगी ।

(2) इस अधिनियम की पहली अनुसूची में यथा विनिर्दिष्ट महात्मा गांधी केन्द्रीय विश्वविद्यालय के नाम से ज्ञात एक विश्वविद्यालय स्थापित किया जाएगा, जो एक निगमित निकाय होगा, जिसकी क्षेत्रीय अधिकारिता बिहार राज्य में गंगा नदी के उत्तर में राज्यक्षेत्र पर विस्तारित होगी ।]

4. **विश्वविद्यालयों की स्थापना का प्रभाव** – इस अधिनियम के प्रारम्भ की तारीख से ही, –

(क) किसी संविदा या अन्य लिखत में गुरू घासी दास विश्वविद्यालय, डा. हरी सिंह गौड़ विश्वविद्यालय या हेमवती नंदन बहुगुणा गढ़वाल विश्वविद्यालय के प्रति किसी निर्देश के बारे में यह समझा जाएगा कि वह इस अधिनियम के अधीन स्थापित क्रमशः गुरू घासी दास विश्वविद्यालय, डा. हरी सिंह गौड़ विश्वविद्यालय और हेमवती नंदन बहुगुणा गढ़वाल विश्वविद्यालय के प्रति निर्देश हैं ;

(ख) गुरू घासी दास विश्वविद्यालय, डा. हरी सिंह गौड़ विश्वविद्यालय और हेमवती नंदन बहुगुणा गढ़वाल विश्वविद्यालय की सभी जंगम और स्थावर संपत्ति इस अधिनियम के अधीन स्थापित, यथास्थिति, गुरू घासी दास विश्वविद्यालय, डा. हरी सिंह गौड़ विश्वविद्यालय या हेमवती नंदन बहुगुणा गढ़वाल विश्वविद्यालय में निहित होंगी ;

(ग) गुरू घासी दास विश्वविद्यालय, डा. हरी सिंह गौड़ विश्वविद्यालय और हेमवती नंदन बहुगुणा गढ़वाल विश्वविद्यालय के सभी अधिकार और दायित्व इस अधिनियम के अधीन स्थापित क्रमशः गुरू घासी दास विश्वविद्यालय, डा. हरी सिंह गौड़ विश्वविद्यालय और हेमवती नंदन बहुगुणा गढ़वाल विश्वविद्यालय को अंतरित हो जाएंगे और ये उस विश्वविद्यालय के अधिकार और दायित्व होंगे ;

(घ) इस अधिनियम के प्रारम्भ के ठीक पहले, गुरू घासी दास विश्वविद्यालय, डा. हरी सिंह गौड़ विश्वविद्यालय और हेमवती नंदन बहुगुणा गढ़वाल विश्वविद्यालय द्वारा नियोजित प्रत्येक व्यक्ति, इस

अधिनियम के अधीन स्थापित क्रमशः गुरू घासी दास विश्वविद्यालय, डा. हरी सिंह गौड़ विश्वविद्यालय और हेमवती नंदन बहुगुणा गढ़वाल विश्वविद्यालय में अपना पद या सेवा, उसी अवधि तक, उसी पारिश्रमिक पर और उन्हीं निबंधनों और शर्तों पर और पेंशन, छुट्टी, उपदान, भविष्य निधि तथा अन्य मामलों के विषय में, उन्हीं अधिकारों और विशेषाधिकारों सहित धारण करेगा जैसा वह उस समय धारण करता मानो यह अधिनियम अधिनियमित नहीं हुआ हो और ऐसा तब तक करता रहेगा जब तक कि उसका नियोजन समाप्त नहीं कर दिया जाता है या जब तक ऐसी अवधि, पारिश्रमिक और निबंधन और शर्तें, परिनियमों द्वारा सम्यक् रूप से परिवर्तित नहीं कर दी जाती हैं :

परन्तु यदि इस प्रकार किया गया परिवर्तन ऐसे कर्मचारी को स्वीकार नहीं है तो विश्वविद्यालय द्वारा उस कर्मचारी के साथ की गई संविदा के निबंधनों के अनुसार, या यदि इस निमित्त, उसमें कोई उपबंध नहीं किया गया है तो विश्वविद्यालय द्वारा उसको, स्थायी कर्मचारियों की दशा में, तीन महीने के पारिश्रमिक के समतुल्य और अन्य कर्मचारियों की दशा में, एक मास के पारिश्रमिक के समतुल्य प्रतिकर के, संदाय पर, उसका नियोजन समाप्त किया जा सकेगा :

परन्तु यह और कि इस अधिनियम के प्रारम्भ से पूर्व नियुक्त प्रत्येक व्यक्ति, धारा 33 के अधीन किसी संविदा के निष्पादन के लंबित रहने के दौरान, इस अधिनियम और परिनियमों के उपबंधों से संगत किसी संविदा के उपबंधों के अनुसार नियुक्त किए गए समझे जाएंगे :

परन्तु यह भी कि गुरू घासी दास विश्वविद्यालय, डा. हरी सिंह गौड़ विश्वविद्यालय या हेमवती नंदन बहुगुणा गढ़वाल विश्वविद्यालय के कुलपति और प्रतिकुलपति को, तत्समय प्रवृत्त किसी विधि में या किसी लिखत या अन्य दस्तावेज में, किन्हीं शब्दों के रूप में, किए गए किसी निर्देश का यह अर्थ लगाया जाएगा कि वह इस अधिनियम के अधीन स्थापित, यथास्थिति, गुरू घासी दास विश्वविद्यालय, डा. हरी सिंह गौड़ विश्वविद्यालय या हेमवती नंदन बहुगुणा गढ़वाल विश्वविद्यालय के कुलपति और प्रतिकुलपति के प्रति निर्देश हैं ;

(ङ) मध्य प्रदेश विश्वविद्यालय अधिनियम, 1973 (1973 का

मध्य प्रदेश अधिनियम 22) के उपबंधों के अधीन नियुक्त गुरू घासी दास विश्वविद्यालय और डा. हरी सिंह गौड़ विश्वविद्यालय का कुलपति और उत्तर प्रदेश राज्य विश्वविद्यालय अधिनियम, 1973 (1973 का राष्ट्रपति अधिनियम 10) के उपबंधों के अधीन नियुक्त हेमवती नंदन बहुगुणा गढ़वाल विश्वविद्यालय का कुलपति इस अधिनियम के अधीन कुलपतियों के रूप में नियुक्त किए गए समझे जाएंगे और वे तीन मास की अवधि के लिए या इस अधिनियम की धारा 44 के अधीन, प्रथम कुलपति को नियुक्त किए जाने के समय तक, इसमें से जो भी पूर्वतर हो, पद धारण करेंगे ; और

(च) गुरू घासी दास विश्वविद्यालय, डा. हरी सिंह गौड़ विश्वविद्यालय और हेमवती नंदन बहुगुणा गढ़वाल विश्वविद्यालय से संबद्ध या उसके विशेषाधिकार प्राप्त या उसके द्वारा चलाए जा रहे सभी महाविद्यालय, संस्थाएं, विद्यालय या संकाय और विभाग, इस अधिनियम के अधीन स्थापित क्रमशः गुरू घासी दास विश्वविद्यालय, डा. हरी सिंह गौड़ विश्वविद्यालय और हेमवती नंदन बहुगुणा गढ़वाल विश्वविद्यालय से संबद्ध या उसके विशेषाधिकार प्राप्त होंगे या उसके द्वारा चलाए जाएंगे ।

5. **विश्वविद्यालय के उद्देश्य** – विश्वविद्यालय के उद्देश्य विद्या की ऐसी शाखाओं में, जो वह ठीक समझे, शिक्षा और अनुसंधान की सुविधाएं प्रदान करके ज्ञान का प्रसार और उसकी अभिवृद्धि करने ; विश्वविद्यालय के शिक्षा कार्यक्रमों में मानविकी, सामाजिक विज्ञान, विज्ञान और प्रौद्योगिकी के समेकित पाठ्यक्रमों के लिए विशेष उपबंध करने ; अध्यापन-विद्या की प्रक्रिया और अंतर विषयक अध्ययन और अनुसंधान में उत्तरोत्तर नवीनता लाने के लिए समुचित उपाय करना ; देश के विकास के लिए मानव-शक्ति को शिक्षित और प्रशिक्षित करने ; विज्ञान और प्रौद्योगिकी के संवर्धन के लिए उद्योगों से संपर्क स्थापित करने ; और जनता की सामाजिक और आर्थिक दशा को सुधारने तथा उनके कल्याण के लिए उनके बौद्धिक, शैक्षिक और सांस्कृतिक विकास के लिए विशेष ध्यान देना होगा ।

6. **विश्वविद्यालय की शक्तियां** – (1) विश्वविद्यालय की निम्नलिखित शक्तियां होंगी, अर्थात् :–

(i) प्राकृतिक विज्ञान, सामाजिक विज्ञान, मानविकी, इंजीनियरी,

प्रौद्योगिकी और औषधि जैसी विद्या की ऐसी शाखाओं में, जो विश्वविद्यालय समय-समय पर, अवधारित करे, शिक्षण की व्यवस्था करना तथा अनुसंधान के लिए और ज्ञान की अभिवृद्धि और प्रसार के लिए व्यवस्था करना ;

(ii) ऐसी शर्तों के अधीन रहते हुए, जो विश्वविद्यालय अवधारित करे, परीक्षाओं, मूल्यांकन या परीक्षण की किसी अन्य प्रणाली के आधार पर व्यक्तियों को डिप्लोमा या प्रमाणपत्र देना और उन्हें उपाधियां या अन्य विद्या संबंधी विशिष्टताएं प्रदान करना तथा उचित और पर्याप्त कारण होने पर ऐसे डिप्लोमाओं, प्रमाणपत्रों, उपाधियों या अन्य विद्या संबंधी विशिष्टताओं को वापस लेना ;

(iii) निवेशबाह्य अध्ययन, प्रशिक्षण और विस्तार सेवाओं का आयोजन करना और उन्हें प्रारम्भ करना ;

(iv) परिनियमों द्वारा विहित रीति से सम्मानिक उपाधियां या अन्य विशिष्टताएं प्रदान करना ;

(v) उन व्यक्तियों को, जिन्हें वह अवधारित करे, दूर शिक्षा पद्धति के माध्यम से सुविधाएं प्रदान करना ;

(vi) विश्वविद्यालय द्वारा अपेक्षित प्राचार्य, आचार्य, सहबद्ध आचार्य, सहायक आचार्य और अन्य अध्यापन या शैक्षणिक पद संस्थित करना और ऐसे प्राचार्य, आचार्य, सहबद्ध आचार्य, सहायक आचार्य या अन्य अध्यापन या शैक्षणिक पदों पर व्यक्तियों की नियुक्ति करना ;

(vii) उच्चतर विद्या की किसी संस्था को ऐसे प्रयोजनों के लिए, जो विश्वविद्यालय अवधारित करे, मान्यता देना और ऐसी मान्यता को वापस लेना ;

(viii) किसी अन्य विश्वविद्यालय या शैक्षणिक संस्था में जिसके अंतर्गत देश के बाहर अवस्थित संस्थाएं भी हैं, कार्य करने वाले व्यक्तियों को विनिर्दिष्ट अवधि के लिए विश्वविद्यालय के शिक्षकों के रूप में नियुक्त करना ;

(ix) प्रशासनिक, अनुसचिवीय और अन्य पदों का सृजन करना और उन पर नियुक्तियां करना ;

(x) किसी अन्य विश्वविद्यालय या प्राधिकारी या उच्चतर शिक्षा संस्था के साथ, जिसके अंतर्गत देश के बाहर अवस्थित संस्थाएं भी हैं, ऐसी रीति से और ऐसे प्रयोजनों के लिए, जो विश्वविद्यालय अवधारित करे, सहकार या सहयोग करना या सहयुक्त होगा ;

(xi) अनुसंधान और शिक्षण के लिए ऐसे केन्द्र और विशेषित प्रयोगशालाएं या अन्य इकाइयां स्थापित करना जो विश्वविद्यालय की राय में, उसके उद्देश्यों को अग्रसर करने के लिए आवश्यक हों ;

(xii) अध्येतावृत्तियां, छात्रवृत्तियां, अध्ययन वृत्तियां, पदक और पुरस्कार संस्थित करना और प्रदान करना ;

(xiii) महाविद्यालय, संस्थाएं और छात्र-निवास स्थापित करना और उन्हें चलाना ;

(xiv) अनुसंधान और सलाहकार सेवाओं के लिए व्यवस्था करना और अन्य संस्थाओं, औद्योगिक या अन्य संगठनों से उस प्रयोजन के लिए ऐसे ठहराव करना जो विश्वविद्यालय आवश्यक समझे ;

(xv) अध्यापकों, मूल्यांककों और अन्य शैक्षणिक कर्मचारिवृंद के लिए पुनश्चर्या पाठ्यक्रम, कार्यशालाएं, सेमिनार और अन्य कार्यक्रमों का आयोजन और संचालन करना ;

(xvi) अभ्यागत आचार्यों, प्रतिष्ठित आचार्यों, परामर्शदाताओं तथा ऐसे अन्य व्यक्तियों को संविदा पर या अन्यथा नियुक्त करना जो विश्वविद्यालय के उद्देश्यों की अभिवृद्धि में योगदान दे सकें ;

(xvii) परिनियमों के अनुसार, यथास्थिति, महाविद्यालय या संस्था या विभाग को स्वायत्त प्रास्थिति प्रदान करना ;

(xviii) विश्वविद्यालय में प्रवेश के लिए स्तरमान अवधारित करना, जिनके अंतर्गत परीक्षा, मूल्यांकन या परीक्षण की कोई अन्य पद्धति भी है ;

(xix) फीसों और अन्य प्रभारों की मांग करना और उन्हें प्राप्त करना ;

(xx) विश्वविद्यालय के छात्रों के आवासों का पर्यवेक्षण करना और उनके स्वास्थ्य और सामान्य कल्याण की अभिवृद्धि के लिए प्रबंध

करना ;

(xxi) सभी प्रवर्गों के कर्मचारियों की सेवा की शर्तें, जिनके अंतर्गत उनकी आचार संहिता भी है, अधिकथित करना ;

(xxii) छात्रों और कर्मचारियों में अनुशासन का विनियमन करना और उनके द्वारा अनुशासन का पालन कराना तथा इस संबंध में ऐसे अनुशासन संबंधी उपाय करना जो विश्वविद्यालय आवश्यक समझे ;

(xxiii) कर्मचारियों के स्वास्थ्य और सामान्य कल्याण की अभिवृद्धि के लिए प्रबंध करना ;

(xxiv) विश्वविद्यालयों के प्रयोजनों के लिए, केन्द्रीय सरकार के पूर्व अनुमोदन से, उपकृति, संदान और दान प्राप्त करना और किसी स्थावर या जंगम संपत्ति को, जिसके अंतर्गत न्यास और विन्यास संपत्ति है, अर्जित करना, धारण करना, उसका प्रबंध और व्ययन करना ;

(xxv) केन्द्रीय सरकार के अनुमोदन से, विश्वविद्यालय की संपत्ति की प्रतिभूति पर विश्वविद्यालय के प्रयोजनों के लिए धन उधार लेना ; और

(xxvi) ऐसे अन्य सभी कार्य और बातें करना जो उसके सभी या किन्हीं उद्देश्यों की प्राप्त के लिए आवश्यक, आनुषंगिक या सहायक हों ।

(2) विश्वविद्यालय का, उपधारा (1) में निर्दिष्ट अपनी शक्तियों का प्रयोग करते समय, यह प्रयास होगा कि वह अध्यापन और अनुसंधान के अखिल भारतीय स्वरूप और उच्च मानक बनाए रखे तथा विश्वविद्यालय ऐसे अन्य उपायों में, जो उक्त प्रयोजन के लिए आवश्यक हों, विशेषकर, निम्नलिखित उपाय करेगा :–

(i) छात्रों का प्रवेश और संकाय में भर्ती अखिल भारतीय स्तर पर की जाएगी ;

(ii) छात्रों का प्रवेश, या तो विश्वविद्यालय द्वारा व्यष्टिक रूप से या अन्य विश्वविद्यालयों के समन्वय से ली जाने वाली सामान्य प्रवेश परीक्षाओं के माध्यम से गुणागुण के आधार पर किए जाएंगे या ऐसे

पाठ्यक्रमों में अर्हक परीक्षा में अभिप्राप्त किए गए अंकों के आधार पर किए जाएंगे जहां छात्रों की संख्या कम हो ;

(iii) संकाय की अंतरविश्वविद्यालय वहनीयता अंतरणीय पेंशन और ज्येष्ठता के संरक्षण के साथ प्रोत्साहित की जाएगी ;

(iv) सेमेस्टर प्रणाली, नियमित मूल्यांकन और इच्छा पर आधारित क्रेडिट प्रणाली शुरू की जाएगी तथा विश्वविद्यालय अन्य विश्वविद्यालयों और शैक्षणिक संस्थाओं के साथ क्रेडिट अंतरण और संयुक्त डिग्री कार्यक्रमों के लिए करार करेगा ;

(v) अध्ययन के विकासशील पाठ्यक्रम और कार्यक्रम इस उपबंध के साथ लागू किए जाएंगे कि उनका सावधिक पुनर्विलोकन और पुनर्संरचना की जाएगी ;

(vi) विश्वविद्यालय के सभी शैक्षणिक कार्यकलापों में, जिनके अंतर्गत अध्यापकों का मूल्यांकन भी होगा, छात्रों की सक्रिय भागीदारी सुनिश्चित की जाएगी ;

(vii) राष्ट्रीय निर्धारण और प्रत्यायन परिषद् या राष्ट्रीय स्तर के किसी अन्य प्रत्यायन अभिकरण से प्रत्यायन प्राप्त किया जाएगा ; और

(viii) एक प्रभावी प्रबंधन सूचना प्रणाली के साथ ई-गवर्नेंस आरम्भ किया जाएगा ।

7. **विश्वविद्यालय का सभी जातियों, पंथों, मूलवंशों और वर्गों के लिए खुला होना** – विश्वविद्यालय सभी स्त्रियों और पुरुषों के लिए, चाहे वे किसी भी जाति, पंथ, मूलवंश या वर्ग के हों, खुला होगा और विश्वविद्यालय के लिए यह विधिपूर्ण नहीं होगा कि वह किसी व्यक्ति को विश्वविद्यालय के शिक्षक के रूप में नियुक्त किए जाने या उसमें कोई अन्य पद धारण करने या विश्वविद्यालय में छात्र के रूप में प्रवेश पाने या उसमें स्नातक होने या उसके किसी विशेष अधिकार का उपभोग या प्रयोग करने का हकदार बनाने के लिए उस पर कोई धार्मिक विश्वास या मान्यता संबंधी मानदंड अपनाए या उस पर अधिरोपित करे :

परन्तु इस धारा की कोई बात विश्वविद्यालय को महिलाओं, निःशक्त व्यक्तियों या समाज के दुर्बल वर्गों और विशिष्टतया अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों के व्यक्तियों और अन्य सामाजिक रूप से तथा

शैक्षणिक रूप से पिछड़े वर्गों के नागरिकों के नियोजन या प्रवेश के लिए विशेष उपबंध करने से निवारित करने वाली नहीं समझी जाएगी :

परन्तु यह और कि ऐसा कोई विशेष उपबंध निवास के आधार पर नहीं किया जाएगा ।

8. **विश्वविद्यालय का कुलाध्यक्ष** – (1) भारत का राष्ट्रपति विश्वविद्यालय का कुलाध्यक्ष होगा ।

(2) कुलाध्यक्ष, विश्वविद्यालय के, जिसके अंतर्गत उसके द्वारा चलाए जा रहे महाविद्यालय और संस्थाएं भी हैं, कार्य और प्रगति का पुनर्विलोकन करने के लिए और उस पर अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करने के लिए, समय-समय पर, एक या अधिक व्यक्तियों को नियुक्त कर सकेगा ; और उस रिपोर्ट की प्राप्ति पर कुलाध्यक्ष, उस पर कुलपति के माध्यम से कार्य परिषद् का विचार अभिप्राप्त करने के पश्चात् ऐसी कार्रवाई कर सकेगा और ऐसे निदेश दे सकेगा जो वह रिपोर्ट में चर्चित विषयों में से किसी के बारे में आवश्यक समझे और विश्वविद्यालय ऐसे कार्य से आबद्ध होगा तथा ऐसे निदेशों का पालन करने के लिए आबद्ध होगा ।

(3) कुलाध्यक्ष को ऐसे व्यक्ति या व्यक्तियों द्वारा, जिन्हें वह निदेश दे, विश्वविद्यालय, उसके भवनों, पुस्तकालयों, प्रयोगशालाओं तथा उपस्कर का और विश्वविद्यालय द्वारा चलाए जा रहे किसी महाविद्यालय या संस्था का ; और विश्वविद्यालय द्वारा संचालित की गई परीक्षा, दिए गए शिक्षण और अन्य कार्य का भी निरीक्षण कराने का और विश्वविद्यालय, महाविद्यालयों या संस्थाओं के प्रशासन या वित्त से संबंधित किसी मामले की बाबत उसी रीति से जांच कराने का अधिकार होगा ।

(4) कुलाध्यक्ष, उपधारा (3) में निर्दिष्ट प्रत्येक मामले में, निरीक्षण या जांच कराने के अपने आय की सूचना विश्वविद्यालय को देगा और विश्वविद्यालय को ऐसे अभ्यावेदन कुलाध्यक्ष को करने का अधिकार होगा, जो वह आवश्यक समझे ।

(5) कुलाध्यक्ष, विश्वविद्यालय द्वारा किए गए अभ्यावेदनों पर, यदि कोई हों, विचार करने के पश्चात्, ऐसा निरीक्षण या जांच करा सकेगा, जो उपधारा (3) में निर्दिष्ट है ।

(6) जहां कुलाध्यक्ष द्वारा कोई निरीक्षण या जांच कराई जाती है वहां,

विश्वविद्यालय एक प्रतिनिधि नियुक्त करने का हकदार होगा जिसे ऐसे निरीक्षण या जांच में उपस्थित होने और सुने जाने का अधिकार होगा ।

(7) कुलाध्यक्ष, यदि निरीक्षण या जांच विश्वविद्यालय या उसके द्वारा चलाए जा रहे किसी महाविद्यालय या संस्था के संबंध में की जाती है, ऐसे निरीक्षण या जांच के परिणाम के संदर्भ में कुलपति को संबोधित कर सकेगा और उस पर कार्रवाई करने के संबंध में ऐसे विचार और ऐसी सलाह दे सकेगा जो कुलाध्यक्ष देना चाहे, और कुलाध्यक्ष से संबोधन की प्राप्ति पर कुलपति कार्य परिषद् को कुलाध्यक्ष के विचार तथा ऐसी सलाह संसूचित करेगा जो कुलाध्यक्ष द्वारा उस पर की जाने वाली कार्रवाई के संबंध में दी गई हो ।

(8) कार्य परिषद् कुलपति के माध्यम से कुलाध्यक्ष को वह कार्रवाई, यदि कोई हो, संसूचित करेगा जो वह ऐसे निरीक्षण या जांच के परिणामस्वरूप करने की प्रस्थापना करता है या की गई है ।

(9) जहां कार्य परिषद् कुलाध्यक्ष के समाधानप्रद रूप में कोई कार्रवाई उचित समय के भीतर नहीं करता है वहां कुलाध्यक्ष कार्य परिषद् द्वारा दिए गए स्पष्टीकरण या किए गए अभ्यावेदन पर विचार करने के पश्चात् ऐसे निदेश जारी कर सकेगा जो वह ठीक समझे और कार्य परिषद् ऐसे निदेशों का पालन करेगी ।

(10) इस आधार के पूर्वगामी उपबंधों पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना, कुलाध्यक्ष विश्वविद्यालय की किसी ऐसी कार्यवाही को, जो इस अधिनियम, परिनियमों या अध्यादेशों के अनुरूप नहीं है, लिखित आदेश द्वारा, निष्प्रभाव कर सकेगा :

परन्तु ऐसा कोई आदेश करने से पहले, वह कुलसचिव से इस बात का कारण दर्शित करने की अपेक्षा करेगा कि ऐसा आदेश क्यों न किया जाए और यदि उचित समय के भीतर कोई कारण बताया जाता है तो वह उस पर विचार करेगा ।

(11) कुलाध्यक्ष को ऐसी अन्य शक्तियां होंगी जो परिनियमों द्वारा विहित की जाएं ।

9. **विश्वविद्यालय के अधिकारी** – विश्वविद्यालय के निम्नलिखित अधिकारी होंगे, अर्थात् :–

(1) कुलाधिपति ;

(2) कुलपति ;

(3) प्रतिकुलपति ;

(4) संकायाध्यक्ष ;

(5) कुलसचिव ;

(6) वित्त अधिकारी ;

(7) परीक्षा नियंत्रक ;

(8) पुस्तकालयाध्यक्ष ; और

(9) ऐसे अन्य अधिकारी जो परिनियमों द्वारा विश्वविद्यालय के अधिकारी घोषित किए जाएं ।

10. **कुलाधिपति** – (1) कुलाधिपति की नियुक्ति कुलाध्यक्ष द्वारा, ऐसी रीति से की जाएगी जो परिनियमों द्वारा विहित की जाए ।

(2) कुलाधिपति, अपने पदाभिधान से, विश्वविद्यालय का प्रधान होगा और यदि वह उपस्थित है तो उपाधियां प्रदान करने के लिए आयोजित विश्वविद्यालय के दीक्षांत समारोहों और सभा के अधिवेशनों में पीठासीन होगा ।

11. **कुलपति** – (1) कुलपति की नियुक्ति कुलाध्यक्ष द्वारा ऐसी रीति से की जाएगी, जो परिनियमों द्वारा विहित की जाए ।

(2) कुलपति, विश्वविद्यालय का प्रधान कार्यपालक और शैक्षणिक अधिकारी होगा और विश्वविद्यालय के कार्यकलापों पर साधारण पर्यवेक्षण और नियंत्रण रखेगा और विश्वविद्यालय के सभी प्राधिकारियों के विनिश्चयों को कार्यान्वित करेगा ।

(3) यदि कुलपति की यह राय है कि किसी मामले में तुरन्त कार्रवाई आवश्यक है तो वह किसी ऐसी शक्ति का प्रयोग कर सकेगा जो विश्वविद्यालय के किसी प्राधिकारी को इस अधिनियम द्वारा या उसके अधीन प्रदत्त है और अपने द्वारा उस मामले में की गई कार्रवाई की रिपोर्ट उस प्राधिकारी को उसके अगले अधिवेशन में देगा :

परन्तु यदि संबंधित प्राधिकारी की यह राय है कि ऐसी कार्रवाई नहीं

की जानी चाहिए थी तो वह ऐसा मामला कुलाध्यक्ष को निर्देशित कर सकेगा जिसका उस पर विनिश्चय अंतिम होगा :

परन्तु यह और कि विश्वविद्यालय की सेवा में के किसी ऐसे व्यक्ति को, जो इस उपधारा के अधीन कुलपति द्वारा की गई कार्रवाई से व्यथित है, यह अधिकार होगा कि जिस तारीख को ऐसी कार्रवाई का विनिश्चय उसे संसूचित किया जाता है, उससे तीन मास के भीतर वह उस कार्रवाई के विरुद्ध अभ्यावेदन, कार्य परिषद् को करे और तब कार्य परिषद् कुलपति द्वारा की गई कार्रवाई को पुष्ट कर सकेगी, उपांतरित कर सकेगी या उसे उलट सकेगी ।

(4) यदि कुलपति की यह राय है कि विश्वविद्यालय के किसी प्राधिकारी का कोई विनिश्चय इस अधिनियम, परिनियमों या अध्यादेशों के उपबंधों द्वारा प्रदत्त प्राधिकारी की शक्तियों के बाहर है या किया गया विनिश्चय विश्वविद्यालय के हित में नहीं है तो वह संबंधित प्राधिकारी से अपने विनिश्चय का ऐसे विनिश्चय के साठ दिन के भीतर पुनर्विलोकन करने के लिए कह सकेगा और यदि वह प्राधिकारी उस विनिश्चय का पूर्णतः या भागतः पुनर्विलोकन करने से इनकार करता है या उसके द्वारा उक्त साठ दिन की अवधि के भीतर कोई विनिश्चय नहीं किया जाता है तो वह मामला कुलाध्यक्ष को निर्दिष्ट किया जाएगा जिसका उस पर विनिश्चय अंतिम होगा ।

(5) कुलपति ऐसी अन्य शक्तियों का प्रयोग और ऐसे अन्य कर्तव्यों का पालन करेगा जो परिनियमों या अध्यादेशों द्वारा विहित किए जाएं ।

12. **प्रतिकुलपति** – प्रतिकुलपति की नियुक्ति ऐसी रीति से और सेवा के ऐसे निबंधनों और शर्तों पर की जाएगी और वह ऐसी शक्तियों का प्रयोग तथा ऐसे कर्तव्यों का पालन करेगा जो परिनियमों द्वारा विहित किए जाएं ।

13. **विद्यालय का संकायाध्यक्ष** – प्रत्येक विद्यालय के संकायाध्यक्ष की नियुक्ति ऐसी रीति से की जाएगी और वह ऐसी शक्तियों का प्रयोग तथा ऐसे कर्तव्यों का पालन करेगा जो परिनियमों द्वारा विहित किए जाएं ।

14. **कुलसचिव** – (1) कुलसचिव की नियुक्ति ऐसी रीति से और सेवा के ऐसे निबंधनों और शर्तों पर की जाएगी जो परिनियमों द्वारा विहित

की जाएं ।

(2) कुलसचिव को विश्वविद्यालय की ओर से करार करने, दस्तावेजों पर हस्ताक्षर करने और अभिलेखों को अधिप्रमाणित करने की शक्ति होगी और वह ऐसी शक्तियों का प्रयोग तथा ऐसे कर्तव्यों का पालन करेगा जो परिनियमों द्वारा विहित किए जाएं ।

15. **वित्त अधिकारी** – वित्त अधिकारी की नियुक्ति ऐसी रीति से की जाएगी और वह ऐसी शक्तियों का प्रयोग तथा ऐसे कर्तव्यों का पालन करेगा जो परिनियमों द्वारा विहित किए जाएं ।

16. **परीक्षा नियंत्रक** – परीक्षा नियंत्रक की नियुक्ति ऐसी रीति से की जाएगी और वह ऐसी शक्तियों का प्रयोग तथा ऐसे कर्तव्यों का पालन करेगा जो परिनियमों द्वारा विहित किए जाएं ।

17. **पुस्तकालयाध्यक्ष** – पुस्तकालयाध्यक्ष की नियुक्ति ऐसी रीति और सेवा के ऐसे निबंधनों और शर्तों पर की जाएगी और वह ऐसी शक्तियों का प्रयोग तथा ऐसे कर्तव्यों का पालन करेगा जो परिनियमों द्वारा विहित किए जाएं ।

18. **अन्य अधिकारी** – विश्वविद्यालय के अन्य अधिकारियों की नियुक्ति की रीति और उनकी शक्तियां तथा कर्तव्य परिनियमों द्वारा विहित किए जाएंगे ।

19. **विश्वविद्यालय के प्राधिकारी** – विश्वविद्यालय के निम्नलिखित प्राधिकारी होंगे –

(1) सभा ;

(2) कार्य परिषद् ;

(3) विद्या परिषद् ;

(4) अध्ययन बोर्ड ;

(5) वित्त समिति ; और

(6) ऐसे अन्य प्राधिकारी जो परिनियमों द्वारा विश्वविद्यालय के प्राधिकारी घोषित किए जाएं ।

20. **सभा** – (1) सभा का गठन तथा उसके सदस्यों की पदावधि

परिनियमों द्वारा विहित की जाएगी :

परन्तु उतने सदस्य जितने परिनियमों द्वारा विहित किए जाएं विश्वविद्यालय के अध्यापकों, कर्मचारियों और छात्रों में से निर्वाचित किए जाएंगे ।

(2) इस अधिनियम के उपबंधों के अधीन रहते हुए, सभा की निम्नलिखित शक्तियां और कृत्य होंगे, अर्थात् :–

(क) विश्वविद्यालय की व्यापक नीतियों और कार्यक्रमों का समय-समय पर पुनर्विलोकन करना तथा विश्वविद्यालय के सुधार और विकास के लिए उपाय सुझाना ;

(ख) विश्वविद्यालय की वार्षिक रिपोर्ट और वार्षिक लेखाओं पर तथा ऐसे लेखाओं की लेखापरीक्षा रिपोर्ट पर विचार करना और संकल्प पारित करना ;

(ग) कुलाध्यक्ष को किसी ऐसे मामले की बाबत सलाह देना जो उसे सलाह के लिए निर्देशित किया जाए ; और

(घ) ऐसे अन्य कृत्यों का निर्वहन करना जो परिनियमों द्वारा विहित किए जाएं ।

21. **कार्य परिषद्** – (1) कार्य परिषद्, विश्वविद्यालय की प्रधान कार्यपालक निकाय होगी ।

(2) कार्य परिषद् का गठन, उसके सदस्यों की पदावधि तथा उसकी शक्तियां और कृत्य परिनियमों द्वारा विहित किए जाएंगे :

परन्तु उतने सदस्य जितने परिनियमों द्वारा विहित किए जाएं, सभा के निर्वाचित सदस्यों में से होंगे ।

22. **विद्या परिषद्** – (1) विद्या परिषद्, विश्वविद्यालय की प्रधान शैक्षणिक निकाय होगी और इस अधिनियम, परिनियमों और अध्यादेशों के उपबंधों के अधीन रहते हुए, विश्वविद्यालय की शैक्षणिक नीतियों का समन्वय करेगी और उस पर साधारण पर्यवेक्षण रखेगी ।

(2) विद्या परिषद् का गठन, उसके सदस्यों की पदावधि तथा उसकी शक्तियां और कृत्य परिनियमों द्वारा विहित किए जाएंगे :

परन्तु उतने सदस्य जितने परिनियमों द्वारा विहित किए जाएं, सभा के निर्वाचित सदस्यों में से होंगे ।

23. **अध्ययन बोर्ड** – अध्ययन बोर्ड का गठन, उनकी शक्तियां और कृत्य परिनियमों द्वारा विहित किए जाएंगे ।

24. **वित्त समिति** – वित्त समिति का गठन, उसकी शक्तियां और कृत्य परिनियमों द्वारा विहित किए जाएंगे ।

25. **विश्वविद्यालय के अन्य प्राधिकारी** – ऐसे अन्य प्राधिकारियों का जो परिनियमों द्वारा विश्वविद्यालय के प्राधिकारियों के रूप में घोषित किए जाएं, गठन, उनकी शक्तियां और कृत्य, परिनियमों द्वारा विहित किए जाएंगे ।

26. **परिनियम बनाने की शक्ति** – इस अधिनियम के उपबंधों के अधीन रहते हुए, परिनियमों में निम्नलिखित सभी या किन्हीं विषयों के लिए उपबंध किया जा सकेगा, अर्थात् :–

(क) विश्वविद्यालय के प्राधिकारियों और अन्य निकायों का, जो समय-समय पर गठित किए जाएं, गठन, उनकी शक्तियां और कृत्य ;

(ख) उक्त प्राधिकारियों और निकायों के सदस्यों की नियुक्ति और उनका पदों पर बने रहना, सदस्यों के पदों की रिक्तियों का भरा जाना तथा उन प्राधिकारियों और अन्य निकायों से संबंधित अन्य सभी विषय जिनके लिए उपबंध करना आवश्यक या वांछनीय हो ;

(ग) विश्वविद्यालय के अधिकारियों की नियुक्ति, उनकी शक्तियां और कर्तव्य तथा उनकी उपलब्धियां ;

(घ) विश्वविद्यालय के अध्यापकों, शैक्षणिक कर्मचारिवृंद तथा अन्य कर्मचारियों की नियुक्ति, उनकी उपलब्धियां और सेवा की शर्तें ;

(ङ) किसी संयुक्त परियोजना को कार्यान्वित करने के लिए किसी अन्य विश्वविद्यालय या संगठन में काम करने वाले अध्यापकों और शैक्षणिक कर्मचारिवृंद की विनिर्दिष्ट अवधि के लिए नियुक्ति ;

(च) कर्मचारियों की सेवा की शर्तें जिनके अंतर्गत पेंशन, बीमा, भविष्य निधि, सेवा समाप्ति और अनुशासनिक कार्रवाई की रीति भी हैं ;

(छ) विश्वविद्यालय के कर्मचारियों की सेवा में ज्येष्ठता को

शासित करने वाले सिद्धांत ;

(ज) कर्मचारियों या छात्रों और विश्वविद्यालय के बीच विवाद के मामलों में माध्यस्थम् की प्रक्रिया ;

(झ) विश्वविद्यालय के किसी अधिकारी या प्राधिकारी की कार्रवाई के विरुद्ध किसी कर्मचारी या छात्र द्वारा कार्य परिषद् को अपील करने की प्रक्रिया ;

(ञ) किसी महाविद्यालय या किसी संस्था या किसी विभाग को स्वायत्त प्रास्थिति प्रदान करना ;

(ट) संकायों, विभागों, केन्द्रों, छात्र-निवासों, महाविद्यालयों और संस्थाओं की स्थापना और उत्सादन ;

(ठ) मानद उपाधियों का प्रदान किया जाना ;

(ड) उपाधियों, डिप्लोमाओं, प्रमाणपत्रों और अन्य विद्या संबंधी विशिष्टताओं का वापस लिया जाना ;

(ढ) विश्वविद्यालय द्वारा स्थापित महाविद्यालयों और संस्थाओं का प्रबंध ;

(ण) विश्वविद्यालय के प्राधिकारियों या अधिकारियों में निहित शक्तियों का प्रत्यायोजन ;

(त) कर्मचारियों और छात्रों में अनुशासन बनाए रखना ;

(थ) ऐसे सभी अन्य विषय जो इस अधिनियम के अनुसार परिनियमों द्वारा उपबंधित किए जाने हैं या किए जाएं ।

27. **परिनियम किस प्रकार बनाए जाएंगे** – (1) प्रथम परिनियम वे हैं जो इस अधिनियम की दूसरी अनुसूची में उपवर्णित हैं ।

(2) कार्य परिषद्, समय-समय पर, नए या अतिरिक्त परिनियम बना सकेगी या उपधारा (1) में निर्दिष्ट परिनियमों का संशोधन या निरसन कर सकेगी :

परन्तु कार्य परिषद् विश्वविद्यालय के किसी प्राधिकारी की प्रास्थिति, शक्तियों या गठन पर प्रभाव डालने वाले कोई परिनियम तब तक नहीं बनाएगी, उनका संशोधन नहीं करेगी या उनका निरसन नहीं करेगी जब

तक उस प्राधिकारी को प्रस्थापित परिवर्तनों पर अपनी राय लिखित रूप में अभिव्यक्त करने का अवसर नहीं दे दिया गया है और इस प्रकार अभिव्यक्त किसी राय पर कार्य परिषद् विचार करेगी ।

(3) प्रत्येक नए परिनियम या किसी परिनियम के परिवर्धन या उसके किसी संशोधन या निरसन के लिए कुलाध्यक्ष की अनुमति अपेक्षित होगी जो उस पर अनुमति दे सकेगा या अनुमति विधारित कर सकेगा या उसे कार्य परिषद् को उसके विचार के लिए वापस भेज सकेगा ।

(4) किसी नए परिनियम या विद्यमान परिनियम का संशोधन या निरसन करने वाला कोई परिनियम तब तक विधिमान्य नहीं होगा जब तक कुलाध्यक्ष द्वारा उसकी अनुमति न दे दी गई हो ।

(5) पूर्वगामी उपधाराओं में किसी बात के होते हुए भी, कुलाध्यक्ष इस अधिनियम के प्रारम्भ से ठीक बाद की तीन वर्ष की अवधि के दौरान नए या अतिरिक्त परिनियम बना सकेगा या उपधारा (1) में निर्दिष्ट परिनियमों का संशोधन या निरसन कर सकेगा :

परन्तु कुलाध्यक्ष, तीन वर्ष की उक्त अवधि की समाप्ति पर, ऐसे विस्तृत परिनियम, जो वह आवश्यक समझे, ऐसी समाप्ति की तारीख से एक वर्ष के भीतर बना सकेगा और ऐसे विस्तृत परिनियम संसद् के दोनों सदनों के समक्ष रखे जाएंगे ।

(6) इस धारा में किसी बात के होते हुए भी, कुलाध्यक्ष अपने द्वारा विनिर्दिष्ट किसी विषय के संबंध में परिनियमों में उपबंध करने के लिए विश्वविद्यालय को निदेश दे सकेगा और यदि कार्य परिषद् किसी ऐसे निदेश को उसकी प्राप्ति के साठ दिन के भीतर कार्यान्वित करने में असमर्थ रहती है तो कुलाध्यक्ष कार्य परिषद् द्वारा ऐसे निदेश का अनुपालन करने में उसकी असमर्थता के लिए संसूचित कारणों पर, यदि कोई हों, विचार करने के पश्चात्, यथोचित रूप से परिनियमों को बना या संशोधित कर सकेगा ।

28. **अध्यादेश बनाने की शक्ति** – (1) इस अधिनियम और परिनियमों के उपबंधों के अधीन रहते हुए, अध्यादेशों में निम्नलिखित सभी या किन्हीं विषयों के लिए उपबंध किए जा सकेंगे, अर्थात् :–

(क) विश्वविद्यालय में छात्रों का प्रवेश और उस रूप में उनका नाम दर्ज किया जाना ;

(ख) विश्वविद्यालय की सभी उपाधियों, डिप्लोमाओं और प्रमाणपत्रों के लिए अधिकथित किए जाने वाले पाठ्यक्रम ;

(ग) शिक्षण और परीक्षा का माध्यम ;

(घ) उपाधियों, डिप्लोमाओं, प्रमाणपत्रों और अन्य विद्या संबंधी विशेष उपाधियों का प्रदान किया जाना, उनके लिए अर्हताएं और उन्हें प्रदान करने और अभिप्राप्त करने के बारे में किए जाने वाले उपाय ;

(ङ) विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रमों के लिए और विश्वविद्यालय की परीक्षाओं, उपाधियों और डिप्लोमाओं में प्रवेश के लिए ली जाने वाली फीस ;

(च) अध्येतावृत्तियां, छात्रवृत्तियां, अध्ययनवृत्तियां, पदक और पुरस्कार प्रदान किए जाने की शर्तें ;

(छ) परीक्षाओं का संचालन, जिसके अंतर्गत परीक्षा निकायों, परीक्षकों और अनुसीमकों की पदावधि और नियुक्ति की रीति और उनके कर्तव्य हैं ;

(ज) विश्वविद्यालय के छात्रों के निवास की शर्तें ;

(झ) छात्राओं के निवास, अनुशासन और अध्यापन के लिए किए जाने वाले विशेष प्रबंध, यदि कोई हों, और उनके लिए विशेष पाठ्यक्रम विहित करना ;

(ञ) अध्ययन केन्द्रों, अध्ययन बोर्डों, विशेषित प्रयोगशालाओं और अन्य समितियों की स्थापना ;

(ट) अन्य विश्वविद्यालयों, संस्थाओं और अन्य अभिकरणों के साथ, जिनके अंतर्गत विद्वत् निकाय या संगम भी है, सहकार और सहयोग करने की रीति ;

(ठ) किसी अन्य ऐसे निकाय का, जो विश्वविद्यालय के शैक्षणिक जीवन में सुधार के लिए आवश्यक समझा जाए, सृजन, उसकी संरचना और उसके कृत्य ;

(ड) अध्येतावृत्तियों, अध्ययनवृत्तियों, पदकों और पुरस्कारों के

संस्थापन ;

(ढ) कर्मचारियों तथा छात्रों की शिकायतों को दूर करने के लिए किसी तंत्र की स्थापना ; और

(ण) ऐसे सभी अन्य विषय जो इस अधिनियम या परिनियमों के अनुसार अध्यादेशों द्वारा उपबंधित किए जाने हैं या किए जाएं ।

(2) प्रथम अध्यादेश, कार्य परिषद् के पूर्व अनुमोदन से, कुलपति द्वारा बनाए जाएंगे और इस प्रकार बनाए गए अध्यादेश, परिनियमों द्वारा विहित रीति से कार्य परिषद् द्वारा किसी भी समय संशोधित, निरसित या जोड़े जा सकेंगे :

परन्तु गुरू घासी दास विश्वविद्यालय तथा डा. हरी सिंह गौड़ विश्वविद्यालय और हेमवती नंदन बहुगुणा गढ़वाल विश्वविद्यालय की दशा में, उस समय तक जब तक कि उन मामलों के संबंध में जो इस अधिनियम और परिनियमों के अधीन अध्यादेशों द्वारा उपबंधित किए जाने हैं कुलपति द्वारा इस प्रकार प्रथम अध्यादेश नहीं किए जाते हैं तो इस अधिनियम के प्रारम्भ से ठीक पहले क्रमशः मध्य प्रदेश विश्वविद्यालय अधिनियम, 1973 (1973 का मध्य प्रदेश अधिनियम 22) और उत्तर प्रदेश राज्य विश्वविद्यालय अधिनियम, 1973 (1973 का राष्ट्रपति अधिनियम 10) के उपबंधों के अधीन बनाए गए परिनियमों और अध्यादेशों से सुसंगत उपबंध वहां तक लागू होंगे जहां तक वे इस अधिनियम और परिनियमों के उपबंधों से असंगत नहीं हैं ।

29. **विनियम** – विश्वविद्यालय के प्राधिकारी, स्वयं अपने और अपने द्वारा नियुक्त की गई समितियों के, यदि कोई हों, कार्य संचालन के लिए जिसका इस अधिनियम, परिनियमों या अध्यादेशों द्वारा उपबंध नहीं किया गया है, परिनियमों द्वारा विहित रीति से ऐसे विनियम बना सकेंगे, जो इस अधिनियम, परिनियमों और अध्यादेशों से संगत हों ।

30. **वार्षिक रिपोर्ट** – (1) विश्वविद्यालय की वार्षिक रिपोर्ट, कार्य परिषद् के निदेश के अधीन तैयार की जाएगी जिसमें, अन्य विषयों के साथ-साथ, विश्वविद्यालय द्वारा अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किए गए उपाय होंगे और वह सभा को उस तारीख को या उसके पहले प्रस्तुत की जाएगी, जो परिनियमों द्वारा विहित की जाएं और सभा अपने वार्षिक

अधिवेशन में उस रिपोर्ट पर विचार करेगी ।

(2) सभा, अपनी टीका-टिप्पणी सहित, यदि कोई हो, वार्षिक रिपोर्ट कुलाध्यक्ष को प्रस्तुत करेगी ।

(3) उपधारा (1) के अधीन तैयार की गई वार्षिक रिपोर्ट की एक प्रति, केन्द्रीय सरकार को भी प्रस्तुत की जाएगी, जो यथाशीघ्र उसे संसद् के दोनों सदनों के समक्ष रखवाएगी ।

31. **वार्षिक लेखे** – (1) विश्वविद्यालय के वार्षिक लेखे और तुलनपत्र, कार्य परिषद् के निदेश के अधीन तैयार किए जाएंगे और भारत के नियंत्रक-महालेखापरीक्षक द्वारा या ऐसे व्यक्तियों द्वारा जिन्हें वह इस निमित्त प्राधिकृत करे, प्रत्येक वर्ष कम से कम एक बार और पन्द्रह मास से अनधिक के अंतरालों पर उनकी लेखापरीक्षा की जाएगी ।

(2) वार्षिक लेखाओं की एक प्रति तथा उस पर लेखापरीक्षा की रिपोर्ट कार्य परिषद् के संप्रेक्षणों के साथ, सभा और कुलाध्यक्ष को, प्रस्तुत की जाएंगी ।

(3) वार्षिक लेखाओं पर कुलाध्यक्ष द्वारा किए गए संप्रेक्षण सभा की जानकारी में लाए जाएंगे और सभा के संप्रेक्षण, यदि कोई हों, कार्य परिषद् द्वारा विचार किए जाने के पश्चात् कुलाध्यक्ष को प्रस्तुत किए जाएंगे ।

(4) वार्षिक लेखाओं की एक प्रति, कुलाध्यक्ष को प्रस्तुत की गई लेखापरीक्षा रिपोर्ट के साथ केन्द्रीय सरकार को भी प्रस्तुत की जाएगी जो यथाशीघ्र उसे संसद् के दोनों सदनों के समक्ष रखवाएगी ।

(5) संपरीक्षित वार्षिक लेखे संसद् के दोनों सदनों के समक्ष रखे जाने के पश्चात् राजपत्र में प्रकाशित किए जाएंगे ।

32. **विवरणियां और जानकारी** – विश्वविद्यालय, केन्द्रीय सरकार को, अपनी संपत्ति या क्रियाकलापों की बाबत ऐसी विवरणियां या अन्य जानकारी केन्द्रीय सरकार द्वारा विनिर्दिष्ट की जाने वाली अवधि के भीतर देगा जो केन्द्रीय सरकार, समय-समय पर, अपेक्षा करे ।

33. **कर्मचारियों की सेवा की शर्तें** – (1) विश्वविद्यालय का प्रत्येक कर्मचारी, लिखित संविदा के अधीन नियुक्त किया जाएगा, जो विश्वविद्यालय के पास रखी जाएगी और उसकी एक प्रति संबंधित कर्मचारी

को दी जाएगी ।

(2) विश्वविद्यालय और किसी कर्मचारी के बीच संविदा से उत्पन्न होने वाला कोई विवाद, कर्मचारी के अनुरोध पर, माध्यस्थम् अधिकरण को निर्दिष्ट किया जाएगा, जिसमें कार्य परिषद् द्वारा नियुक्त एक सदस्य, संबंधित कर्मचारी द्वारा नामनिर्दिष्ट एक सदस्य और कुलाध्यक्ष द्वारा नियुक्त एक अधिनिर्णायक होगा ।

(3) अधिकरण का विनिश्चय अंतिम होगा और अधिकरण द्वारा विनिश्चित मामलों के संबंध में किसी सिविल न्यायालय में कोई वाद नहीं होगा :

परन्तु इस धारा की कोई बात कर्मचारी को संविधान के अनुच्छेद 32 और अनुच्छेद 226 के अधीन उपलब्ध न्यायिक उपचार प्राप्त करने से निवारित नहीं करेगी ।

(4) उपधारा (2) के अधीन कर्मचारी द्वारा किया गया प्रत्येक ऐसा अनुरोध माध्यस्थम् और सुलह अधिनियम, 1996 (1996 का 26) के अर्थ में इस धारा के निबंधनों पर माध्यस्थम् के लिए निवेदन समझा जाएगा ।

(5) अधिकरण के कार्य को विनियमित करने की प्रक्रिया परिनियमों द्वारा विहित की जाएगी ।

34. **छात्रों के विरुद्ध अनुशासनिक मामलों में अपील और माध्यस्थम् की प्रक्रिया** – (1) कोई छात्र या परीक्षार्थी, जिसका नाम विश्वविद्यालय की नामावली से, यथास्थिति, कुलपति, अनुशासन समिति या परीक्षा समिति के आदेशों या संकल्प द्वारा हटाया गया है और जिसे विश्वविद्यालय की परीक्षाओं में बैठने से एक वर्ष से अधिक के लिए विवर्जित किया गया है, उसको ऐसे आदेशों की या ऐसे संकल्प की प्रति की प्राप्ति की तारीख से दस दिन के भीतर कार्य परिषद् को अपील कर सकेगा और कार्य परिषद्, यथास्थिति, कुलपति या समिति के विनिश्चय को पुष्ट या उपांतरित कर सकेगी या उलट सकेगी ।

(2) विश्वविद्यालय द्वारा किसी छात्र के विरुद्ध की गई अनुशासनिक कार्रवाई से उत्पन्न होने वाला कोई विवाद उस छात्र के अनुरोध पर, माध्यस्थम् अधिकरण को निर्देशित किया जाएगा और धारा 33 की उपधारा

(2), उपधारा (3), उपधारा (4) और उपधारा (5) के उपबंध, इस उपधारा के अधीन किए गए निर्देश को यथाशक्य लागू होंगे ।

35. **अपील करने का अधिकार** – इस अधिनियम में अंतर्विष्ट किसी बात के होते हुए भी, विश्वविद्यालय या विश्वविद्यालय द्वारा चलाए जा रहे महाविद्यालय या संस्था के प्रत्येक कर्मचारी या छात्र को, यथास्थिति, विश्वविद्यालय के किसी अधिकारी या प्राधिकारी अथवा किसी महाविद्यालय या संस्था के प्राचार्य या प्रबंधतंत्र के विनिश्चय के विरुद्ध ऐसे समय के भीतर, जो परिनियमों द्वारा विहित किया जाए, कार्य परिषद् को अपील करने का अधिकार होगा और तब कार्य परिषद् उस विनिश्चय को, जिसके विरुद्ध अपील की गई है, पुष्ट या उपांतरित कर सकेगी या उलट सकेगी ।

36. **भविष्य निधि और पेंशन निधियां** – (1) विश्वविद्यालय अपने कर्मचारियों के फायदे के लिए ऐसी रीति से और ऐसी शर्तों के अधीन रहते हुए, जो परिनियमों द्वारा विहित की जाएं, ऐसी भविष्य निधि या पेंशन निधि का गठन करेगा या ऐसी बीमा स्कीमों की व्यवस्था करेगा जो वह ठीक समझे ।

(2) जहां ऐसी भविष्य निधि या पेंशन निधि का इस प्रकार गठन किया गया है वहां केन्द्रीय सरकार यह घोषित कर सकेगी कि भविष्य निधि अधिनियम, 1925 (1925 का 19) के उपबंध ऐसी निधि को इस प्रकार लागू होंगे मानो वह सरकारी भविष्य निधि हो ।

37. **प्राधिकारियों और निकायों के गठन के बारे में विवाद** – यदि यह प्रश्न उठता है कि क्या कोई व्यक्ति विश्वविद्यालय के किसी प्राधिकारी या अन्य निकाय के सदस्य के रूप में सम्यक् रूप से निर्वाचित या नियुक्त किया गया है या उसका सदस्य होने का हकदार है तो वह मामला कुलाध्यक्ष को निर्देशित किया जाएगा, जिसका उस पर विनिश्चय अंतिम होगा ।

38. **आकस्मिक रिक्तियों का भरा जाना** – विश्वविद्यालय के किसी प्राधिकारी या अन्य निकाय के (पदेन सदस्यों से भिन्न) सदस्यों में सभी आकस्मिक रिक्तियां, यथाशीघ्र, ऐसे व्यक्ति या निकाय द्वारा भरी जाएंगी जो उस सदस्य को, जिसका स्थान रिक्त हुआ है, नियुक्त, निर्वाचित या सहयोजित करती है और आकस्मिक रिक्ति में नियुक्त, निर्वाचित या सहयोजित व्यक्ति, ऐसे प्राधिकारी या निकाय का सदस्य उस शेष अवधि के लिए होगा, जिस तक वह व्यक्ति, जिसका स्थान वह भरता है, सदस्य

रहता ।

39. **प्राधिकारियों या निकायों की कार्यवाहियों का रिक्तियों के कारण अविधिमान्य न होना** – विश्वविद्यालय के किसी प्राधिकारी या अन्य निकाय का कोई कार्य या कार्यवाही केवल इस कारण अविधिमान्य नहीं होगी कि उसके सदस्यों के बीच कोई रिक्ति या रिक्तियां हैं ।

40. **सद्भावपूर्वक की गई कार्रवाई के लिए संरक्षण** – इस अधिनियम या परिनियमों या अध्यादेशों के उपबंधों में से किसी उपबंध के अनुसरण में सद्भावपूर्वक की गई या की जाने के लिए आशयित किसी बात के लिए कोई वाद या अन्य विधिक कार्यवाहियां विश्वविद्यालय के किसी अधिकारी या अन्य कर्मचारी के विरुद्ध नहीं होगी ।

41. **विश्वविद्यालय के अभिलेख को साबित करने का ढंग** – भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872 (1872 का 1) या तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि में किसी बात के होते हुए भी, विश्वविद्यालय के किसी प्राधिकारी या अन्य निकाय की किसी रसीद, आवेदन, सूचना, आदेश, कार्यवाही, संकल्प या अन्य दस्तावेज की, जो विश्वविद्यालय के कब्जे में है, या विश्वविद्यालय द्वारा सम्यक् रूप से रखे गए किसी रजिस्टर की किसी प्रविष्टि की प्रतिलिपि, कुलसचिव द्वारा प्रमाणित कर दिए जाने पर, उस दशा में, जिसमें उसकी मूल प्रति पेश किए जाने पर साक्ष्य में ग्राह्य होती, उस रसीद, आवेदन, सूचना, आदेश, कार्यवाही, संकल्प या दस्तावेज के या रजिस्टर की प्रविष्टि के अस्तित्व के प्रथमदृष्ट्या साक्ष्य के रूप में ली जाएगी और उससे संबंधित मामलों और संव्यवहारों के साक्ष्य के रूप में ग्रहण की जाएगी ।

42. **कठिनाइयों को दूर करने की शक्ति** – (1) यदि इस अधिनियम के उपबंधों को प्रभावी करने में कोई कठिनाई उत्पन्न होती है तो केन्द्रीय सरकार, राजपत्र में प्रकाशित आदेश द्वारा, ऐसे उपबंध कर सकेगी जो इस अधिनियम के उपबंधों से असंगत न हों, और जो उस कठिनाई को दूर करने के लिए उसे आवश्यक या समीचीन प्रतीत हों :

परन्तु इस धारा के अधीन ऐसा कोई आदेश इस अधिनियम के प्रारम्भ से तीन वर्ष के अवसान के पश्चात् नहीं किया जाएगा ।

(2) उपधारा (1) के अधीन किया गया प्रत्येक आदेश किए जाने के

पश्चात् यथाशीघ्र संसद् के प्रत्येक सदन के समक्ष, जब वह सत्र में हो, कुल तीस दिन की अवधि के लिए रखा जाएगा । यह अवधि एक सत्र में अथवा दो या अधिक आनुक्रमिक सत्रों में पूरी हो सकेगी । यदि उस सत्र के या पूर्वोक्त आनुक्रमिक सत्रों के ठीक बाद के सत्र के अवसान के पूर्व दोनों सदन उस आदेश में कोई परिवर्तन करने के लिए सहमत हो जाएं तो तत्पश्चात् वह ऐसे परिवर्तित रूप में ही प्रभावी होगा । यदि उक्त अवसान के पूर्व दोनों सदन सहमत हो जाएं कि वह आदेश नहीं किया जाना चाहिए तो तत्पश्चात् वह निष्प्रभाव हो जाएगा । किन्तु आदेश के ऐसे परिवर्तित या निष्प्रभाव होने से उसके अधीन पहले की गई किसी बात की विधिमान्यता पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा ।

43. **परिनियमों, अध्यादेशों और विनियमों का राजपत्र में प्रकाशित किया जाना और संसद् के समक्ष रखा जाना** – (1) इस अधिनियम के अधीन बनाया गया प्रत्येक परिनियम, अध्यादेश या विनियम राजपत्र में प्रकाशित किया जाएगा ।

(2) इस अधिनियम के अधीन बनाया गया प्रत्येक परिनियम, अध्यादेश या विनियम, बनाए जाने के पश्चात् यथाशीघ्र, संसद् के प्रत्येक सदन के समक्ष, जब वह सत्र में हो, कुल तीस दिन की अवधि के लिए रखा जाएगा । यह अवधि एक सत्र में अथवा दो या अधिक आनुक्रमिक सत्रों में पूरी हो सकेगी । यदि उस सत्र के या पूर्वोक्त आनुक्रमिक सत्रों के ठीक बाद के सत्र के अवसान के पूर्व दोनों सदन उस परिनियम, अध्यादेश या विनियम में कोई परिवर्तन करने के लिए सहमत हो जाएं, तो तत्पश्चात् वह परिनियम, अध्यादेश या विनियम ऐसे परिवर्तित रूप में ही प्रभावी होगा । यदि उक्त अवसान के पूर्व दोनों सदन सहमत हो जाएं कि वह परिनियम, अध्यादेश या विनियम नहीं बनाया जाना चाहिए तो तत्पश्चात् वह परिनियम, अध्यादेश या विनियम निष्प्रभाव हो जाएगा । तथापि, परिनियम, अध्यादेश या विनियम के ऐसे परिवर्तित या निष्प्रभाव होने से उसके अधीन पहले की गई किसी बात की विधिमान्यता पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा ।

(3) परिनियम, अध्यादेश या विनियम बनाने की शक्ति के अंतर्गत परिनियमों, अध्यादेशों या विनियमों या उनमें से किसी को उस तारीख से, जो इस अधिनियम के प्रारम्भ की तारीख से पूर्वतर न हों, भूतलक्षी प्रभाव देने की शक्ति भी होगी किन्तु किसी परिनियम, अध्यादेश या विनियम को

भूतलक्षी प्रभाव इस प्रकार नहीं दिया जाएगा जिससे कि किसी ऐसे व्यक्ति के, जिसको ऐसा परिनियम, अध्यादेश या विनियम लागू हो, हितों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़े ।

44. **संक्रमणकालीन उपबंध** – इस अधिनियम और परिनियमों में किसी बात के होते हुए भी, –

(क) प्रथम कुलाधिपति और प्रथम कुलपति, कुलाध्यक्ष द्वारा ऐसी रीति में और ऐसी शर्तों पर, जो ठीक समझी जाएं, नियुक्त किए जाएंगे और उक्त प्रत्येक अधिकारी पांच वर्ष से अनधिक की ऐसी अवधि तक, जो कुलाध्यक्ष द्वारा विनिर्दिष्ट की जाए, पद धारण करेगा ;

(ख) प्रथम कुलसचिव और प्रथम वित्त अधिकारी, कुलाध्यक्ष द्वारा नियुक्त किए जाएंगे और उक्त प्रत्येक अधिकारी तीन वर्ष की अवधि तक पद धारण करेगा ;

(ग) प्रथम सभा और प्रथम कार्य परिषद् में क्रमशः इकतीस और ग्यारह से अनधिक सदस्य होंगे जो केन्द्रीय सरकार द्वारा नामनिर्दिष्ट किए जाएंगे और तीन वर्ष की अवधि तक पद धारण करेंगे ; और

(घ) प्रथम विद्या परिषद् में इक्कीस से अनधिक सदस्य होंगे जो केन्द्रीय सरकार द्वारा नामनिर्दिष्ट किए जाएंगे और वे तीन वर्ष की अवधि तक पद धारण करेंगे :

परन्तु यदि उपरोक्त पदों या प्राधिकारियों में कोई रिक्ति होती है तो वह, यथास्थिति, कुलाध्यक्ष द्वारा नियुक्ति या केन्द्रीय सरकार द्वारा नामनिर्देशन द्वारा भरी जाएगी और इस प्रकार नियुक्त या नामनिर्दिष्ट व्यक्ति तब तक पद धारण करेगा जब तक वह अधिकारी या सदस्य, जिसके स्थान पर उसकी नियुक्ति या नामनिर्देशन किया गया है, यदि ऐसी रिक्ति नहीं हुई होती तो, पद धारण करता ।

45. **1973 के मध्य प्रदेश अधिनियम 22 का संशोधन** – (1) मध्य प्रदेश विश्वविद्यालय अधिनियम, 1973 (1973 के मध्य प्रदेश अधिनियम 22 का संशोधन) की दूसरी अनुसूची में गुरू घासी दास विश्वविद्यालय और डा. हरी सिंह गौड़ विश्वविद्यालय से संबंधित प्रविष्टियों का लोप किया जाएगा ।

(2) ऐसे लोप के होते हुए भी, –

(क) मध्य प्रदेश विश्वविद्यालय अधिनियम, 1973 (1973 का मध्य प्रदेश अधिनियम 22) के अधीन की गई सभी नियुक्तियां, जारी किए गए आदेश, प्रदत्त की गईं उपाधियां और अन्य विद्या संबंधी विशेष उपाधियां, प्रदान किए गए डिप्लोमा और प्रमाणपत्र, स्वीकृत किए गए विशेषाधिकार या की गई अन्य बातें इस अधिनियम के तत्स्थानी उपबंधों के अधीन क्रमशः की गई, जारी किए गए, प्रदत्त की गई, प्रदान किए गए, स्वीकृत किए गए या की गई समझी जाएंगी और जैसा इस अधिनियम या परिनियम के अधीन अन्यथा उपबंधित है, उसके सिवाय तब तक प्रवृत्त बने रहेंगे, जब तक कि वे इस अधिनियम या परिनियमों के अधीन किए गए किसी आदेश द्वारा अधिक्रांत नहीं कर दिए जाते हैं ; और

(ख) शिक्षकों की नियुक्ति या प्रोन्नति के लिए चयन समितियों की सभी कार्यवाहियां, जो इस अधिनियम के प्रारम्भ से पहले हो चुकी थीं और ऐसी चयन समितियों की सिफारिशों के संबंध में, कार्य परिषद् की सभी कार्रवाइयां, जहां इस अधिनियम के प्रारम्भ से पहले, उनके आधार पर नियुक्ति के कोई आदेश पारित नहीं किए गए थे, इस बात के होते हुए भी कि चयन के लिए प्रक्रिया का, इस अधिनियम द्वारा उपांतरण किया जा चुका है, विधिमान्य की गई समझी जाएंगी किन्तु ऐसे लंबित चयन के संबंध में आगे की कार्यवाही इस अधिनियम के उपबंधों के अनुसार होगी और उस प्रक्रम से जारी होगी जहां पर ऐसे प्रारम्भ होने के ठीक पहले थीं सिवाय तब के जब संबद्ध प्राधिकारी, कुलाध्यक्ष के अनुमोदन से तत्प्रतिकूल विनिश्चय लेते हैं ।

46. **1973 के राष्ट्रपति अधिनियम 10 का संशोधन** – (1) उत्तर प्रदेश राज्य विश्वविद्यालय अधिनियम, 1973 में, –

(क) धारा 4 की उपधारा (1) में, "और गढ़वाल विश्वविद्यालय का नाम, 25 अप्रैल, 1989 से हेमवती नंदन बहुगुणा गढ़वाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर (जिला गढ़वाल) होगा," शब्दों, अंकों और कोष्ठकों का लोप किया जाएगा ;

(ख) धारा 20 की उपधारा (1) के खंड (घ) में, "हेमवती नंदन बहुगुणा गढ़वाल विश्वविद्यालय" शब्दों का लोप किया जाएगा ;

(ग) धारा 52 की उपधारा (2) में, "कुमायूं और गढ़वाल विश्वविद्यालय" शब्दों के स्थान पर, "कुमायूं विश्वविद्यालय" शब्द रखे जाएंगे ;

(घ) धारा 72ख का लोप किया जाएगा ;

(ङ) अनुसूची में क्रम सं. 8 और उससे संबंधित प्रविष्टियों का लोप किया जाएगा ।

(2) उपधारा (1) में निर्दिष्ट ऐसे लोप और प्रतिस्थापन के होते हुए भी, –

(क) उत्तर प्रदेश राज्य विश्वविद्यालय अधिनियम, 1973 (1973 का राष्ट्रपति अधिनियम 10) के अधीन की गई सभी नियुक्तियां, जारी किए गए आदेश, प्रदत्त की गई उपाधियां और अन्य विद्या संबंधी विशेष उपाधियां, प्रदान किए गए डिप्लोमा और प्रमाणपत्र, स्वीकृत किए गए विशेषाधिकार या की गई अन्य बातें इस अधिनियम के तत्स्थानी उपबंधों के अधीन क्रमशः की गई, जारी किए गए, प्रदत्त की गई, प्रदान किए गए, स्वीकृत किए गए या की गई समझी जाएंगी और जैसा इस अधिनियम या परिनियम के अधीन अन्यथा उपबंधित है, उसके सिवाय तब तक प्रवृत्त बने रहेंगे, जब तक कि वे इस अधिनियम या परिनियमों के अधीन किए गए किसी आदेश द्वारा अधिक्रांत नहीं कर दिए जाते है ; और

(ख) शिक्षकों की नियुक्ति या प्रोन्नति के लिए चयन समितियों की सभी कार्यवाहियां, जो इस अधिनियम के प्रारम्भ से पहले हो चुकी थीं और ऐसी चयन समितियों की सिफारिशों के संबंध में, कार्य परिषद् की सभी कार्रवाइयां, जहां इस अधिनियम के प्रारम्भ से पहले, उनके आधार पर नियुक्ति के कोई आदेश पारित नहीं किए गए थे, इस बात के होते हुए भी कि चयन के लिए प्रक्रिया का, इस अधिनियम द्वारा उपांतरण किया जा चुका है, विधिमान्य की गई समझी जाएंगी किन्तु ऐसे लम्बित चयन के संबंध में आगे की कार्यवाही इस अधिनियम के उपबंधों के अनुसार होगी और उस प्रक्रम से जारी होगी जहां पर ऐसे प्रारम्भ होने के ठीक पहले थीं सिवाय तब के जब संबद्ध प्राधिकारी, कुलाध्यक्ष के अनुमोदन से तत्प्रतिकूल

विनिश्चय लेते हैं ।

47. **निरसन और व्यावृति** – (1) केन्द्रीय विश्वविद्यालय अध्यादेश, 2009 (2009 का अध्यादेश 3) इसके द्वारा निरसित किया जाता है ।

(2) ऐसे निरसन के होते हुए भी, उक्त अध्यादेश के अधीन की गई कोई बात या कोई कार्रवाई इस अधिनियम के तत्स्थानी उपबंध के अधीन की गई समझी जाएगी और, –

(क) केन्द्रीय विश्वविद्यालय अध्यादेश, 2009 (2009 का अध्यादेश 3) के अधीन की गई सभी नियुक्तियां, जारी किए गए आदेश, प्रदत्त की गई उपाधियां और अन्य विद्या संबंधी विशेष उपाधियां, प्रदान किए गए डिप्लोमा और प्रमाणपत्र, स्वीकृत किए गए विशेषाधिकार या की गई अन्य बातें इस अधिनियम के तत्स्थानी उपबंधों के अधीन क्रमशः की गई, जारी किए गए, प्रदत्त की गई, प्रदान किए गए, स्वीकृत किए गए या की गई समझी जाएंगी और जैसा इस अधिनियम या परिनियम के अधीन अन्यथा उपबंधित है, उसके सिवाय तब तक प्रवृत्त बने रहेंगे, जब तक कि वे इस अधिनियम या परिनियमों के अधीन किए गए किसी आदेश द्वारा अधिक्रांत नहीं कर दिए जाते हैं ; और

(ख) शिक्षकों की नियुक्ति या प्रोन्नति के लिए, चयन समितियों की सभी कार्यवाहियां, जो इस अधिनियम के प्रारम्भ से पहले हो चुकी थीं और ऐसी चयन समितियों की सिफारिशों के संबंध में, कार्य परिषद् की सभी कार्रवाइयां, जहां इस अधिनियम के प्रारम्भ से पहले, उनके आधार पर नियुक्ति के कोई आदेश पारित नहीं किए गए थे, इस बात के होते हुए भी कि चयन के लिए प्रक्रिया का, इस अधिनियम द्वारा उपांतरण किया जा चुका है, विधिमान्य की गई समझी जाएंगी किन्तु ऐसे लम्बित चयन के संबंध में, आगे की कार्यवाही इस अधिनियम के उपबंधों के अनुसार होगी और उस प्रक्रम से जारी होगी जहां पर ऐसे प्रारम्भ होने के ठीक पहले थीं, सिवाय तब के जब संबद्ध प्राधिकारी, कुलाध्यक्ष के अनुमोदन से तत्प्रतिकूल विनिश्चय लेते हैं ।

पहली अनुसूची
[धारा 3(4) देखिए]

क्रम सं.	राज्य का नाम	विश्वविद्यालय का नाम	क्षेत्रीय अधिकारिता
(1)	(2)	(3)	(4)
[1][1.	बिहार	दक्षिण बिहार केन्द्रीय विश्वविद्यालय	बिहार राज्य में गंगा नदी का दक्षिण राज्यक्षेत्र
1क.	बिहार	महात्मा गांधी केन्द्रीय विश्वविद्यालय	बिहार राज्य में गंगा नदी का उत्तर राज्यक्षेत्र]
2.	गुजरात	गुजरात केन्द्रीय विश्वविद्यालय	संपूर्ण गुजरात राज्य
3.	हरियाणा	हरियाणा केन्द्रीय विश्वविद्यालय	संपूर्ण हरियाणा राज्य
4.	हिमाचल प्रदेश	हिमाचल प्रदेश केन्द्रीय विश्वविद्यालय	संपूर्ण हिमाचल प्रदेश राज्य
[2][5.	जम्मू-कश्मीर	कश्मीर केन्द्रीय विश्वविद्यालय	जम्मू-कश्मीर राज्य का कश्मीर खंड
5क.	जम्मू-कश्मीर	जम्मू केन्द्रीय विश्वविद्यालय	जम्मू-कश्मीर राज्य का जम्मू खंड]
6.	झारखंड	झारखंड केन्द्रीय विश्वविद्यालय	संपूर्ण झारखंड राज्य
7.	कर्नाटक	कर्नाटक केन्द्रीय विश्वविद्यालय	संपूर्ण कर्नाटक राज्य
8.	केरल	केरल केन्द्रीय विश्वविद्यालय	संपूर्ण केरल राज्य
9.	उड़ीसा	उड़ीसा केन्द्रीय विश्वविद्यालय	संपूर्ण उड़ीसा राज्य
10.	पंजाब	पंजाब केन्द्रीय विश्वविद्यालय	संपूर्ण पंजाब राज्य
11.	राजस्थान	राजस्थान केन्द्रीय विश्वविद्यालय	संपूर्ण राजस्थान राज्य
12.	तमिलनाडु	तमिलनाडु केन्द्रीय विश्वविद्यालय	संपूर्ण तमिलनाडु राज्य

शेष अगले अंक में जारी.........

[1] 2009 के अधिनियम सं. 38 की धारा 3 द्वारा प्रतिस्थापित ।
[2] 2014 के अधिनियम सं. 35 की धारा 3 द्वारा प्रतिस्थापित ।

प्रिवी कौंसिल

प्रिवी कौंसिल
निर्णय सूची

	पृष्ठ संख्या
केसर देव चामरिया **बनाम** आय कर आयुक्त, बंगाल	50
ठेलवाल टामस मारिस **बनाम** गोल्डसबरो मार्ट एंड कंपनी लि.	45
डगलस जार्ज राइट तथा अन्य **बनाम** न्यूजीलैंड फार्मर्स कोआपरेटिव एसोसिएशन आफ केण्टरबरी लि.	36
मूंगीबाई **बनाम** कूवरजी उमरसी	40
राम नारायण साहू तथा अन्य **बनाम** श्रीमती मखना	18
सर हरि शकर पाल तथा अन्य **बनाम** केदार नाथ साहा तथा अन्य	27
सी. पी. माथेन तथा अन्य **बनाम** जिला मजिस्ट्रेट, त्रिवेन्द्रम तथा अन्य	1

सी. पी. माथेन तथा अन्य .... अपीलार्थी

बनाम

जिला मजिस्ट्रेट, त्रिवेन्द्रम तथा अन्य .... प्रत्यर्थी

3.4.1939

न्यायमूर्ति लार्ड थैंकरटन, न्यायमूर्ति लार्ड पोर्टर व न्यायमूर्ति सर जार्ज लाउण्डेस

बंदी प्रत्यक्षीकरण रिट – उच्च न्यायालय या उसका कोई न्यायाधीश उन मामलों में जो दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 491 के अंतर्गत आते हैं बंदी प्रत्यक्षीकरण (हैबियस कार्पस) की कामन ला रिट जारी नहीं कर सकता ।

– वारंट में नामित मजिस्ट्रेट द्वारा ऐसे आदेश को अभिखंडित करने हेतु दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 561-क के अधीन उच्च न्यायालय को आवेदन ग्राह्य ।

मद्रास उच्च न्यायालय अपील नियमावली – नियम 2 और 2-क दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 491 के अधीन निदेश हेतु आवेदन को लागू होते हैं उच्च न्यायालय का एकल न्यायाधीश ऐसा आवेदन सुनने के लिए अक्षम ।

प्रत्यर्पण अधिनियम, 1903 (एक्स्ट्राडीशन ऐक्ट) – धारा 7 – इस धारा के अधीन जारी वारंट अधिनियम के अधीन निर्मित नियमों का अनुपालन करता है या नहीं, इस प्रश्न की जांच उच्च न्यायालय की विषयवस्तु नहीं, बल्कि यह प्रश्न प्रत्यर्पण अधिनियम की धारा 8-क के अधीन स्थानीय सरकार की रिपोर्ट हेतु आवेदन द्वारा उस मजिस्ट्रेट के समक्ष उठाया जाना चाहिए जिसके समक्ष बंदी पेश किया जाना है ।

– धारा 7 द्वारा केवल यह अपेक्षित कि स्थान और व्यक्ति पर्याप्त रूप से दर्शित किए जाने चाहिए, जिससे मुख्य प्रेसिडेंसी मजिस्ट्रेट जिसे वारंट संबोधित किया जाए – वारंटों के अनुसरण में कार्रवाई कर सके और तद्नुसार निदेश दे सके – पुलिस थाने का उल्लेख इस प्राधिकारी का पूर्णतया स्पष्ट वर्णन है जिसको अभ्यर्पण किया जाना है ।

– धारा 7 के अधीन जारी वारंट में यदि तारीख नहीं डाली गई, तो वह इस कारण अविधिमान्य नहीं ।

प्रत्यर्पण नियमावली – नियम 7 – उन अपराधों का विचारण बनावटी होने पर जिनके संबंध में प्रत्यर्पण किया गया मामला नियम 7 के अंतर्गत आता है और ऐसी दशा में राजनैतिक अभिकर्ता का यह कर्तव्य है कि वह बंदियों को अपनी अभिरक्षा में वापिस कराने के लिए मांग करे ।

दंड प्रक्रिया संहिता, 1898 – धारा 561-क – प्रत्यर्पण अधिनियम की धारा 7 के अधीन वारंट के अनुसार बंदी जिस मजिस्ट्रेट को सौंपा जाना है वह उस वारंट के निष्पादन को रोकने के आदेश के विरुद्ध इस धारा के अधीन आवेदन दे सकता है ।

इस अपील में मद्रास उच्च न्यायालय की बंदी प्रत्यक्षीकरण रिट याचिका करने की अधिकारिता और उच्च न्यायालय के एकल न्यायाधीश की ऐसी या दंड प्रक्रिया संहिता, 1898 की धारा 491 के अधीन सदृश रिट जारी करने की क्षमता से संबंधित महत्वपूर्ण प्रश्न अंतर्वलित है । अपील खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित – प्रथम कथन के बारे में हमारी स्पष्ट राय है कि प्रत्यर्थी सं. 1 अपीलार्थियों की अर्जी सं. 985 में मध्यक्षेप करने का हकदार था तथा उसने अर्जी सं. 1003 साधिकार पेश की । अपीलार्थियों के अभिवक्ता, प्रत्यर्पण अधिनियम 1903 की धारा 22 के अधीन सपरिषद् गवर्नर जनरल द्वारा बनाए गए देशीय राज्यों को अभियुक्त व्यक्ति अभ्यर्पित करने हेतु राजनैतिक अभिकर्ताओं की प्रक्रिया के विषय में नियमों (सं. 1862 इ. अ. दिनांक 13.5.1904) का हवाला देते हैं । विशेषकर नियम 2 का, जो निम्नलिखित व्यवस्था करता है : "राजनैतिक अभिकर्ता उक्त अधिनियम की धारा 7 के अधीन वारंट अपने से किए गए ऐसे लिखित अनुरोध के बिना जारी नहीं करेगा जो ऐसे व्यक्ति द्वारा उसके प्राधिकार से किया गया हो जो तत्समय उस राज्य की कार्यपालक सरकार का प्रशासन कर रहा हो जिसके लिए वह राजनैतिक अभिकर्ता हो या जो उस राज्य के भीतर के किसी ऐसे न्यायालय द्वारा हो जो सपरिषद् गवर्नर जनरल या, यथास्थिति, मद्रास या बंबई के सपरिषद् गवर्नर द्वारा शासकीय राजपत्र में अधिसूचना द्वारा निमित्त निर्दिष्ट किया गया हो ।" उनका कहना था कि प्रस्तुत मामले में वारंट से संबंधित कार्यवाही में भाग लेने के लिए वही पक्षकार हकदार थे (क) अपीलार्थी ; (ख) प्रत्यर्थी सं. 2 मुख्य प्रेसिडेंसी मजिस्ट्रेट ; (ग) मद्रास के देशीय राज्यों के ब्रिटिश रेजीडेंट और (घ) त्रावणकोर की सरकार । किंतु हमारी राय में वारंटों की भाषा दर्शित करती

है कि अधिनियम की धारा 7 के अनुसार जिस प्रधिकारी को अपीलार्थी दिए जाने वाले थे, वह वास्तव में प्रत्यर्थी सं. 1 है, जो उनकी अभिरक्षा नियंत्रित करेगा, यद्यपि त्रावणकोर की पुलिस सीमांत स्टेशन पर उनकी ओर से अपीलार्थियों की अभिरक्षा प्राप्त करेगी । उपर्युक्त नियमावली के नियम 7 से यह पर्याप्त स्पष्ट हो जाता है । इसमें उपबंध है : "7. किसी अभियुक्त के विचारण हेतु किसी देशीय राज्य के न्यायालय को सौंपे जाने की दशा में राजनैतिक अभिकर्ता स्वयं का समाधान कर लेगा कि अभियुक्त का उचित विचारण होता है और दोषसिद्ध होने पर उसे दिया गया दंड अत्यधिक या नृःशंस नहीं है और यदि उसका इस प्रकार समाधान नहीं होता तो वह यह मांग करेगा कि सपरिषद् गवर्नर जनरल के आदेश होने पर बंदी उसकी अभिरक्षा में लौटा दिया जाए ।" यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत मामले में यदि ऐसे आवेदन का अवसर उठता तो वह प्रत्यर्थी सं. 1 के न्यायालय में दिया जाता । हमारी राय में प्रत्यर्थी सं. 1 अपीलार्थियों की अभिरक्षा प्राप्त करने का हकदार है और अपीलार्थियों का तर्क असफल होता है । अब अपीलार्थियों के चौथे तर्क को निपटाना सुविधापूर्ण होगा । इस प्रश्न पर हम प्रस्तुत मामले में पूर्ण न्यायपीठ के निष्कर्ष से सहमत हैं, जो विद्वान् मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा दिए गए निर्णय में इस प्रकार है : "1861 का उच्च न्यायालय अधिनियम विधान-मंडल को यह अधिकार देता है कि यदि वह उचित समझे तो इस न्यायालय से वे शक्तियां ले ले जो उसने उच्चतम न्यायालय के उत्तराधिकारी के रूप में प्राप्त कीं और मेरे मन में इस विषय में कोई संदेह नहीं है कि विधान मंडल ने 1875 और बाद के वर्षों में विधिपूर्वक जो अधिनियम पारित किए उनके द्वारा उन मामलों में जो दंड प्रक्रिया संहिता, 1898 की धारा 491 में अनुध्यात हैं, उच्च न्यायालय से बंदी प्रत्यक्षीकरण की परमाधिकार रिट जारी करने की शक्ति ले ली गई है ।" नियम का वर्तमान रूप में परिवर्तन 17.8.1929 को 1929 के गजट के द्वितीय भाग के पृष्ठ 1309 पर प्रकाशित हुआ और संशोधन का विवरण पहले वाली अधिसूचना के समान है । तद्नुसार, न्यायमूर्ति पांडुरंग राव को एकल न्यायाधीश के रूप में अर्जी सं. 985 सुनने की अधिकारिता नहीं थी । अब केवल अपीलार्थियों के वारंट से संबंधित तर्कों पर विचार करना शेष रह जाता है । प्रथमतः, उनका कहना है कि साक्ष्य के आधार पर न्यायालय को यह जांच करने का अधिकार है कि क्या प्रत्यर्पण अधिनियम और उसकी धारा 22 के अधीन निर्मित नियमों का अनुपालन किया गया, और अपीलार्थी इन बातों के बारे में न्यायालय का समाधान करने के अवसर के हकदार थे (क) अपराध मद्रास में किए गए होने चाहिए तथा (ख) वास्तव

में त्रावणकोर के प्राधिकारी अपीलार्थियों को राजनैतिक अपराधों से आरोपित करने हेतु, जो प्रत्यर्पण योग्य अपराध नहीं हैं, अपनी अधिकारिता में लेना चाहते थे । यह स्मरणीय है कि वारंट भारत सरकार के अभिकर्ता द्वारा जारी किए गए हैं, न कि त्रावणकोर राज्य के अभिकर्ता द्वारा, और यह कार्यपालन कृत्य विभिन्न ढंगों से अधिनियम और नियमों द्वारा सुरक्षित है । उदाहरणार्थ, नियम 4 में उपबंध है कि अधिनियम की धारा 7 के अधीन वारंट जारी करने से पूर्व राजनैतिक अभिकर्ता सब मामलों में प्रारंभिक जांच द्वारा अथवा अन्यथा अपना समाधान कर लेगा कि अभियुक्तों के विरुद्ध प्रथमदृष्ट्या मामला बनता है । अपीलार्थियों का यह कहना नहीं है कि प्रस्तुत मामले में रेजीडेंट ने अपना ऐसा समाधान नहीं किया । यदि ऐसा कथन किया भी जाता तो हमारी राय है कि यह न्यायालय द्वारा जांच का विषय उचित रूप से नहीं होगा, बल्कि यह बात प्रत्यर्पण अधिनियम की धारा 8-क के अधीन स्थानीय सरकार को रिपोर्ट हेतु आवेदन द्वारा मजिस्ट्रेट से कही जानी चाहिए । हम कोई कारण नहीं पाते कि क्यों आरोपित अपराध त्रावणकोर में नहीं किए गए हो सकते, और जो हमने पहले कहा वह इस कथन को सीधे लागू होता है कि प्रत्यर्पण का वास्तविक उद्देश्य अपीलार्थियों को राजनैतिक अपराधों से आरोपित करने का है । यह भी जोड़ा जा सकता है कि उन अपराधों का बनावटी विचारण जिनके संबंध में प्रत्यर्पण किया गया, नियम 7 के अंतर्गत आता प्रतीत होगा और ऐसी दशा में राजनैतिक अभिकर्ता का यह कर्तव्य होगा कि वह बंदियों को अपनी अभिरक्षा में वापिस करने की मांग करें । अंत में, अपीलार्थियों का कहना है कि वारंट इन बातों के संबंध में प्रत्यक्षतः अवैध हैं : (क) वे पर्याप्त रूप से यह प्रकट नहीं करते कि अपीलार्थियों पर कौन से अपराध आरोपित किए गए हैं और वे कब किए गए, (ख) वे पर्याप्त रूप से यह नहीं बताते कि किस स्थान पर और किन व्यक्तियों को अपीलार्थी सौंपे जाने हैं तथा (ग) उन पर कोई तारीख नहीं पड़ी है । जहां तक (क) का संबंध है, प्रत्यर्पण अधिनियम या नियमों द्वारा वारंट का कोई प्ररूप विहित नहीं है, और वारंटों में स्पष्ट रूप से उन अपराधों का उल्लेख है जो अपीलार्थियों पर लगाए गए हैं । दंड प्रक्रिया संहिता की अनुसूची 5 के प्ररूप 2 और धारा 75 द्वारा गिरफ्तारी के लिए विहित साधारण वारंट के प्ररूप में इतनी ही अपेक्षा है । हम भारतीय दंड संहिता की धारा 477-क के स्पष्टीकरण का निर्देश कर सकते हैं । यह आपत्ति असफल होती है । (ख) के संबंध में, जहां तक कि प्रत्यर्पण अधिनियम की धारा 7(1) में प्रयुक्त शब्दों, "उसकी गिरफ्तारी और वारंट में दर्शित किसी स्थान पर और व्यक्ति को परिदान हेतु" का संबंध है

हमारी राय में इनसे केवल यह अपेक्षित है कि स्थान और व्यक्ति पर्याप्त रूप से व्यक्त किए जाने चाहिए, जिससे मुख्य प्रेसिडेंसी मजिस्ट्रेट जिसे वारंट संबोधित किए जाएं, वारंटों के अनुसार कार्रवाई कर सके, और तद्नुसार निदेश दे सके । यह स्पष्ट है कि प्रत्यर्थी सं. 2 को इस संबंध में कोई कठिनाई नहीं है और यदि केवल वारंटों को देखने पर कोई संशय था, जो हम मानने को तैयार नहीं हैं, तो मद्रास सरकार के गृह विभाग ने 10.3.1938 के आदेश सं. 1293 से मामले को संदेह से परे कर दिया है । उसके अधीन सरकार ने निदेश दिया है कि भविष्य में सब प्रत्यर्पित व्यक्ति "त्रावणकोर राज्य में निकटतम सीमांत थाने में" दिए जाने चाहिए । यहां आदेश, अन्य व्यक्तियों के साथ-साथ प्रत्यर्थी सं. 2 को भी संबोधित था । त्रिवेन्द्रम के जिला मजिस्ट्रेट के समक्ष पेश करने हेतु त्रावणकोर राज्य के निकटतम सीमांत थाने को पहचानने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती और हमारी राय में, पुलिस स्टेशन में उस प्राधिकारी का पूर्णतया स्पष्ट वर्णन है जिसको अभ्यर्पण किया जाना है । तारीख के अभाव के बारे में तर्क (ग) भी हमारी राय में असफल होता है । निस्संदेह वारंटों पर तारीख डालना सामान्य और बेहतर पद्धति होगा, किंतु अधिनियम या नियमों में कोई ऐसा उपबंध प्रतीत नहीं होता जो प्रत्यक्ष या गौण रूप से उपेक्षा करे कि वारंटों पर तारीख होनी चाहिए । वारंट की तारीख से कोई समय प्रारंभ होना कहीं व्यक्त नहीं किया गया है । इस प्रकार वारंटों की विधिमान्यता के विरुद्ध अपीलार्थियों की सारी आपत्तियों का निपटारा हो जाता है । हमने अब वह कारण बता दिए हैं जिनके आधार पर हमने 3.4.1939 को हिज मैजेस्टी को अपील खारिज करने की विनम्र सलाह दी थी । (पैरा 10, 11, 12, 17, 18 और 19)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[1927]	इं. ला रि. 54 कलकत्ता 727 = आ. इं. रि. 1927 कलकत्ता 496 : **गिरीन्द्र नाथ बनर्जी** बनाम **वीरेन्द्रनाथ पाल** ;	13
[1922]	इं. ला रि. 45 मद्रास 922 = आ. इं. रि. 1922 मद्रास 499 : **गोविंदन नायर का मामला** ।	3

सिविल अपीली अधिकारिता : **1938 की अपील सं. 102.**

अपीलार्थी की ओर से सर्वश्री डी. एन. प्रिट, सी. सिडनी स्मिथ और वी.के. कृष्णा मेनन

प्रत्यर्थी की ओर से सर्वश्री सर विलियम जोविट, जान फोस्टर, जे. मिलार्ड टुकर, डब्ल्यू. वालच और जे. मोगाव

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति लार्ड थैंकरटन ने दिया ।

न्या. लार्ड थैंकरटन – यह अपील मद्रास उच्च न्यायालय के निम्नलिखित निर्णयों के विरुद्ध है : (1) दांडिक प्रकीर्ण अर्जी सं. 1003 सन् 1938 में पूर्ण न्यायपीठ का 4.11.1938 का निर्णय जिसमें उसी न्यायालय के खंड न्यायपीठ द्वारा किए गए निर्देश में विनिश्चय किया गया कि न्यायालय के एकल न्यायमूर्ति पांडुरंग राव के बंदी प्रत्यक्षीकरण रिट अर्जी और संबंधित आवेदनों पर आदेश तथा दांडिक प्रकीर्ण अर्जी सं. 986, 990 तथा 985 सन् 1938 में क्रमशः 21, 24 और 26 अक्तूबर, 1938 के आदेश अकृत और शून्य हैं, (2) उक्त खंड न्यायपीठ का 7.11.1938 का निर्णय और आदेश जो उक्त निर्णय के कार्यान्वयन में अर्जी सं. 1003 में किया गया, तथा (3) अर्जी सं. 985 में उक्त खंड न्यायपीठ का 7.11.1938 का निर्णय और आदेश, जिससे बंदी प्रत्यक्षीकरण की रिट के लिए अर्जी खारिज की गई । अपीलार्थी भारतीय प्रत्यर्पण अधिनियम (सं. 15 सन् 1903) की धारा 7 के अधीन मद्रास के (देशीय) राज्य के रेजीडेंट द्वारा मुख्य प्रेसिडेंसी मजिस्ट्रेट को जारी किए गए कतिपय उन वारंटों की विधिमान्यता प्रश्नगत करते हैं, जिनके अधीन वे गिरफ्तार किए गए और वे उन्मोचित किए जाने की प्रार्थना की । जिस प्रक्रिया का अनुसरण किया गया उससे प्रस्तुत मामले में मद्रास उच्च न्यायालय की बंदी प्रत्यक्षीकरण रिट जारी करने की अधिकारिता और उच्च न्यायालय के एकल न्यायाधीश की ऐसी या दंड प्रक्रिया संहिता (सं. 5 सन् 1898) की धारा 491 के अधीन सदृश रिट जारी करने की क्षमता से सबंधित महत्वपूर्ण प्रश्न उठते हैं । अपीलार्थी सं. 1 के विरुद्ध वारंट इन शब्दों में था :–

"सेवा में,

मुख्य प्रेसिडेंसी मजिस्ट्रेट, मद्रास

यतः त्रावणकोर नेशनल एंड क्वीलन बैंक लि. (जो अब

परिसमापनाधीन है) के निदेशक, श्री सी. पी. माथेन, जिनके बारे में अब बताया गया है कि वे मार्बल हाल, स्टर्लिंग रोड, नंगमवाकम, मद्रास में रहते हैं और जिन पर त्रावणकोर दंड संहिता की धारा 410, 419, 421 तथा धारा 99 और 104 तत्समान भारतीय दंड संहिता की धारा 409, 418, 420, 477-क, 109 और 114 के अधीन आरोप हैं, जो त्रावणकोर राज्य में किए गए, अतः आपको निदेश दिया जाता है कि आप उक्त श्री सी. पी. माथेन को गिरफ्तार करें और जिला मजिस्ट्रेट, त्रिवेन्द्रम के समक्ष प्रस्तुत करने हेतु उन्हें त्रावणकोर राज्य में सीमांत पुलिस थाने पर अभ्यर्पित करें ।

इसमें असफल न हों ।

(ह.)

सी. पी. स्क्राइन
रेजीडेंट, मद्रास के राज्य"

2. अन्य तीन अपीलार्थियों के विरुद्ध भी वारंट इन्हीं शब्दों में थे । अपीलार्थी सं. 4 को इंकार है कि वह बैंक का निदेशक है किंतु इस प्रक्रम में यह महत्वपूर्ण नहीं है । यह ध्यान देने योग्य है कि वारंटों पर कोई तारीख नहीं पड़ी थी । मुख्य प्रेसिडेंसी मजिस्ट्रेट के, जो इस अपील में प्रत्यर्थी सं. 2 हैं, अनुदेश पर सब अपीलार्थी 20.10.1938 को गिरफ्तार कर लिए गए । त्रावणकोर नेशनल एंड क्वीलन बैंक दो बैंकों के समामेलन से बना था और सितंबर, 1937 में त्रावणकोर में निगमित किया गया, यद्यपि उसका मुख्यालय मद्रास में था और ऐसा प्रतीत होता है कि उसके कारबार का बड़ा भाग मद्रास प्रेसिडेंसी में होता था । अपीलार्थी त्रावणकोर के निवासी हैं । वहां कारबार करने की दृष्टि से वे 1937 में मद्रास में रहने लगे । वारंटों में निर्दिष्ट त्रिवेन्द्रम के जिला मजिस्ट्रेट इस अपील में प्रत्यर्थी सं. 1 हैं । यह ज्ञात होने पर कि अपीलार्थियों को त्रावणकोर 21.10.1938 को उस ट्रेन से ले जाया जाएगा जो प्रातः 11 बजे छूटती है और यह देखते हुए कि उच्च न्यायालय प्रातः पौने ग्यारह बजे से पहले नहीं बैठता, अपीलार्थी सं. 1 और 2 के पुत्रों ने सब अपीलार्थियों के संबंध में दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 491 के अधीन उस दिन प्रातःकाल उच्च न्यायालय के न्यायमूर्ति पांडुरंग राव के निवास-स्थान पर बंदी प्रत्यक्षीकरण रिट हेतु अर्जी (सं. 986 सन् 1938) दी । अपीलार्थी सं. 1 के पुत्र ने अर्जी के समर्थन में अपना शपथपत्र दाखिल किया । अर्जी के साथ एक अन्य

अर्जी (सं. 986 सन् 1939) भी न्यायाधीश के समक्ष प्रस्तुत की गई, जिसमें वारंटों के निष्पादन पर रोक लगाने की प्रार्थना की गई । पश्चात्वर्ती अर्जी (सं. 986 सन् 1938) पर न्यायमूर्ति पाडुरंग राव ने निम्नलिखित आदेश किया :–

> "क्योंकि मामला अत्यंत अर्जेण्ट है अतः एगमोर के मुख्य प्रेसिडेंसी मजिस्ट्रेट उच्च न्यायालय के अग्रिम आदेश होने तक इन बंदियों को अपनी अभिरक्षा में रखें और मद्रास से बाहर न भेजें ।"

3. इस बीच अपीलार्थी मुख्य प्रेसिडेन्सी मजिस्ट्रेट के समक्ष पेश कर दिए गए थे और उन्होंने प्रत्यर्पण अधिनियम की धारा 8(क) के अधीन स्थानीय सरकार को निर्देश करने हेतु एक आवेदन दिया । जब वह आवेदन सुना जा रहा था, न्यायामूर्ति पांडुरंग राव द्वारा पारित आदेश पेश किया गया और उस पर मजिस्ट्रेट ने अपीलार्थियों को अभिरक्षा हेतु प्रतिप्रेषित कर दिया । बाद में उसी दिन क्राउन अभियोजक ने अर्जी (सं. 990 सन् 1938) दी, जिसमें उन्होंने अर्जी सं. 986 सन् 1938 पर न्यायमूर्ति पांडुरंग राव के आदेश को समाप्त करने की प्रार्थना मुख्यतया इस आधार पर की कि वह अधिकारिता के बिना पारित किया गया था क्योंकि उच्च न्यायालय की अपील नियमावली के नियम 2(क) के अधीन दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 491 के अधीन अधिकारिता का प्रयोग उच्च न्यायालय का केवल खंड न्यायपीठ कर सकता है न कि एकल न्यायाधीश । न्यायमूर्ति पांडुरंग राव ने यह अर्जी सं. 990 सन् 1938 22.10.1938 को सुनी और विद्वान् न्यायमूर्ति ने 24.10.1938 को इस पर आदेश पारित किया । उन्होंने अर्जी सं. 986 पर पारित रोक आदेश समाप्त करने से इंकार कर दिया और अर्जी सं. 990 खारिज कर दी । उन्होंने विनिश्चय किया कि वे **गोविंदन नायर के मामले**[1] में मद्रास उच्च न्यायालय के पूर्ण न्यायपीठ के निर्णय से आबद्ध हैं जो इस आशय का है कि कामन ला में उच्च न्यायालय को बंदी प्रत्यक्षीकरण रिट जारी करने की अधिकारिता है और उन्होंने विनिश्चय किया कि ऐसी अधिकारिता उच्च न्यायालय के प्रत्येक न्यायाधीश में निहित है और वह नियमों द्वारा नहीं छीनी जा सकती ।

4. उसी दिन, अर्थात् 24.10.1938 को इन अर्जियों में से प्रथम अर्थात् सं. 985 की सुनवाई उच्च न्यायालय के (न्यायमूर्तिगण बर्न तथा स्टोडर्ट के) खंड न्यायपीठ के समक्ष हुई । उन्होंने मामले में कार्रवाई करने

---

[1] इं. ला रि. 45 मद्रास 922 = आ. इं. रि. 1922 मद्रास 499.

से इंकार कर दिया, क्योंकि वह न्यायमूर्ति पांडुरंग राव के हाथों में है । न्यायालय के पूछने पर आवेदकों के अभिवक्ता ने स्पष्ट रूप से कहा कि आवेदन कामन ला की बंदी प्रत्यक्षीकरण रिट के लिए दिया गया है, न कि उच्च न्यायालय के दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 491 के अधीन अपनी शक्तियों का प्रयोग करने हेतु । न्यायमूर्ति पांडुरंग राव ने 26.10.1938 को अर्जी सं. 985 सुनी और आदेश दिया कि बंदी प्रत्यक्षीकरण की रिट जारी की जाए और मामला मुख्य प्रेसिडेंसी मजिस्ट्रेट को 28.10.1938 को लौटाया जाए । तद्नुसार रिट जारी की गई । 26.10.1938 को ही त्रिवेन्द्रम के जिला मजिस्ट्रेट ने, जो इस अपील में प्रत्यर्थी सं. 1 हैं, दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 561-क तथा भारत शासन अधिनियम, 1935 की धारा 223 के अधीन उच्च न्यायालय में एक अर्जी (सं. 1003) पेश की, जिसमें प्रार्थना की कि न्यायमूर्ति पांडुरंग राव के 21, 24 और 26 अक्तूबर, 1938 के आदेश अभिखंडित किए जाएं क्योंकि वे अधिकारिता के बिना तथा प्रस्तुत अपीलार्थियों को प्रत्यर्थियों के रूप में बुलाए बिना किए गए । इस अर्जी के समर्थन में त्रावणकोर के सी. आई. डी., पुलिस अधीक्षक का शपथपत्र दाखिल किया गया था ।

5. यह अर्जी सं. 1003 न्यायमूर्तिगण बर्न और स्टोडर्ट के समक्ष 27 अक्तूबर को सुनवाई हेतु पेश हुई । क्योंकि सुनवाई उस दिन पूरी नहीं हो सकी अतः उन्होंने आदेश दिया कि न्यायमूर्ति पांडुरंग राव के 26.10.1938 के आदेश के अधीन जारी रिट का कार्यान्वयन निलंबित हो और न्यायालय के अग्रिम आदेश ज्ञात होने तक अर्जी सं. 985 में आगे की कार्यवाही रोकी जाए । प्रत्यर्थी सं. 2 को निदेश दिया गया कि वह अग्रिम आदेश होने तक बंदियों को अपनी अभिरक्षा में रखें । अर्जी सं. 1003 को आगे सुनने के पश्चात् न्यायमूर्तिगण बर्न और स्टोवर्ट ने 2.11.1938 को निम्नलिखित विधिक प्रश्न पूर्ण न्यायपीठ को निर्दिष्ट किए :–

(1) क्या उच्च न्यायालय या उसका कोई न्यायाधीश दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 491 के अंतर्गत आने वाले किसी मामले में कामन ला की बंदी प्रत्यक्षीकरण रिट जारी कर सकता है ?

(2) क्या कामन ला की बंदी प्रत्यक्षीकरण रिट हेतु या दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 491 के अधीन निदेश हेतु आवेदन इस न्यायालय के एकल न्यायाधीश द्वारा सुना और निपटाया जा सकता है ? दूसरे शब्दों में : अपील नियमावली के नियम 2 और 2-क शक्ति के अंतर्गत हैं या शक्ति-वाह्य ?

(3) यदि एकल न्यायाधीश को कामन ला के अधीन बंदी प्रत्यक्षीकरण रिट जारी करने की शक्ति है, तो क्या विद्वान् न्यायमूर्ति पांडुरंग राव द्वारा 26 अक्तूबर को जारी की गई रिट इस न्यायालय द्वारा इस कारण से अभिखंडनीय है कि वह इंग्लैंड के उच्च न्यायालय में प्रवृत्त नियमों के उल्लंघन में जारी की गई है ?

6. निर्देश के आदेश के कारण बताते हुए विद्वान् न्यायमूर्तियों ने अपने समक्ष किए गए तर्कों की इस प्रकार चर्चा की । अर्जीदार (इस अपील में प्रत्यर्थी सं. 1) ने तीन तर्क किए : प्रथमतः, दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 491 के अंतर्गत आने वाले मामलों में, जिनमें स्वीकृत रूप से प्रस्तुत मामला भी सम्मिलित है, उच्च न्यायालय को कामन ला की बंदी प्रत्यक्षीकरण रिट जारी करने की अधिकारिता नहीं है । विद्वान् न्यायाधीशों ने विनिश्चय किया कि वे उक्त **गोविन्दन नायर** के मामले में दिए गए पूर्ण न्यायपीठ के निर्णय के कारण इस तर्क को अमान्य करने के लिए आबद्ध हैं । साथ ही उन्होंने इसके कारण दिए कि क्यों उस निर्णय पर पुनर्विचार किया जाना चाहिए । द्वितीयतः, अर्जीदार का कहना था कि यदि उच्च न्यायालय को कामन ला की बंदी प्रत्यक्षीकरण रिट जारी करने की शक्ति थी तब भी नियम 2 शक्ति के अंतर्गत और न्यायालय के सब न्यायाधीशों पर आबद्धकर है और तद्नुसार एकल न्यायाधीश को ऐसी कार्यवाही पर विचार करने की शक्ति नहीं है । विद्वान् न्यायाधीशों ने विनिश्चय किया कि यह तर्क सुआधारित है । तृतीयतः अर्जीदार का कहना था कि यदि एकल न्यायमूर्ति को कामन ला की बंदी प्रत्यक्षीकरण रिट जारी करने की अधिकारिता थी तो भी इस मामले में प्रक्रिया उचित नहीं थी, क्योंकि न्यायमूर्ति पांडुरंग राव ने जो रिट जारी की थी वह नियत अवधि में स्वयं को लौटाई जाने वाली थी, न कि न्यायालय को, जो इंग्लैंड के उच्च न्यायालय में प्रवृत्त नियमों का उल्लंघन था, जो नियम मद्रास उच्च न्यायालय में कामन ला रिट के मामले में लागू होंगे । विद्वान् न्यायाधीश इस तर्क से सहमत थे । प्रत्यर्थियों – प्रस्तुत अपीलार्थियों – के दो तर्क थे, प्रथम - प्रस्तुत जैसे दांडिक मामले में, अपील का कोई अधिकार नहीं होता, किंतु विद्वान् न्यायाधीशों ने विनिश्चय किया कि दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 561-क के आधार पर न्यायालय को अर्जी सुनने का अधिकार है । दूसरे, प्रत्यर्थियों ने अर्जीदार के सुने जाने के अधिकार पर आपत्ति की क्योंकि वे रिट अर्जी में पक्षकार नहीं थे । विद्वान् न्यायाधीशों ने यह आपत्ति अस्वीकार कर दी । विद्वान् न्यायमूर्तियों के समक्ष जिन प्रश्नों पर बहस की गई, उनमें से तीन प्रश्नों के

महत्व को ध्यान में रखते हुए, उन्होंने उपर्युक्त निर्देश किया ।

7. बहस सुनने के पश्चात् 5.11.1938 को पूर्ण न्यायपीठ (मुख्य न्यायमूर्ति सर अल्फ्रेड लीच तथा न्यायमूर्तिगण माधवन नायर, वरदाचारियर, वाड्सवर्थ और लक्ष्मण राव) ने आदेश किया, जिसमें प्रश्नों का इस प्रकार उत्तर दिया गया :–

(1) इस जैसे मामले में ब्रिटिश भारत में कामन ला की बंदी प्रत्यक्षीकरण रिट जारी नहीं हो सकती । यह उपधारण करते हुए कि इस तरह के मामले में न्यायालय को पहले बंदी प्रत्यक्षीकरण रिट जारी करने की शक्ति थी, वह शक्ति अब ले ली गई है और उसके स्थान पर दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 491 द्वारा प्रदत्त शक्तियां दे दी गईं हैं ।

(2) इस न्यायालय के अपील पक्ष के नियम 2 और 2-क इस न्यायालय की शक्तियों के अंतर्गत हैं ।

(3) न्यायमूर्ति पांडुरंग राव का रिट आदेश जारी करने का आदेश अधिकारिता-रहित था और परिणामतः अकृत और शून्य है ।

(4) अतः स्थिति यह है कि प्रत्यर्थियों द्वारा दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 491 के अधीन दिए गए आवेदन पर न्यायालय के नियमों के अनुसार कार्य किया जाना चाहिए, जिसका अर्थ है कि उस पर दांडिक न्यायपीठ द्वारा विचार किया जाना चाहिए ।

8. इसी आदेश में विद्वान् मुख्य न्यायमूर्ति ने निदेश दिया कि धारा 491 के अधीन आवेदन (सं. 985) आने वाले सोमवार 7 नवंबर को दांडिक न्यायपीठ के सामने रखा जाए । पूर्ण न्यायपीठ के निर्णय के लिए कारण बाद में 8 नवंबर को मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा दिए गए निर्णय में दिए गए । न्यायमूर्ति बर्न और स्टोडर्ट ने 7.11.1938 को अर्जी सं. 1003 में फिर से कार्यवाही आरंभ की । उस दिन उन्होंने पूर्ण न्यायपीठ के उत्तर के अनुसार आदेश करते हुए अर्जी सं. 985 में न्यायमूर्ति पांडुरंग राव का 26.10.1938 का आदेश, जिससे उल्लिखित रिट जारी करने का निदेश दिया गया था, अपास्त कर दिया । 7.11.1938 को ही न्यायमूर्ति बर्न और स्टोडर्ट ने अर्जी सं. 985 पर विचार किया, जो मुख्य न्यायमूर्ति के निदेश के अधीन उनके समक्ष रखी गई । बहस सुनने और शपथपत्रों पर विचार करने के पश्चात्, विद्वान् न्यायाधीशों ने निर्णय सुनाया और अर्जी खारिज कर दी । यह अपील इन तीन निर्णयों के विरुद्ध की गई है : (1) अर्जी सं. 1003 में निर्दिष्ट

प्रश्नों पर, पूर्ण न्यायपीठ का 4.11.1938 का निर्णय, (2) अर्जी सं. 1003 में खंड न्यायपीठ का 7.11.1938 का निर्णय और (3) खंड न्यायपीठ का 7.11.1938 का निर्णय, जिससे अर्जी सं. 985 खारिज की गई ।

9. अपीलार्थियों के अभिवक्ता के तर्क चार हैं : (1) अपीलार्थियों की अर्जी सं. 985 में उठाए गए मामले में प्रत्यर्थी सं. 1 को सुने जाने का कोई अधिकार नहीं है तथा इसी कारण से उसकी अर्जी सं. 1003 अग्राह्य थी और ग्रहण नहीं की जानी चाहिए थी, (2) अपील पक्ष के नियम 2 और 2(क) शक्ति-वाह्य हैं, या किसी भी दशा में प्रस्तुत मामले में लागू नहीं होते ; (3) निम्नलिखित कारणों से वारंट अवैध और अविधिमान्य थे ; (क) उच्च न्यायालय को यह निश्चित अधिकारिता है कि वह साक्ष्य के आधार पर इसकी परीक्षा करे कि वारंट जारी करने हेतु प्रत्यर्पण अधिनियम अथवा तद्धीन निर्मित नियमों में वर्णित शर्तों का पालन हुआ है या नहीं ; (ख) इस प्रकार परीक्षा करने पर पता चलेगा कि ऐसी शर्तों का पालन नहीं हुआ ; (ग) दृश्यतः भी वारंट इन बातों के संबंध में प्रथमदृष्ट्या अविधिमान्य थे – (i) वे यह दर्शित नहीं करते कि शर्तों का पालन किया गया ; (ii) वे पर्याप्त रूप से यह नहीं प्रकट करते कि अपीलार्थियों के विरुद्ध किन अपराधों के आरोप लगाए गए थे या वे कब किए गए ; (iii) वे पर्याप्त रूप से नहीं प्रकट करते कि अपीलार्थी किसे और कहां दिए जाने थे, और (iv) उन पर कोई तारीख नहीं पड़ी थी । (4) प्रस्तुत जैसे मामले में कामन ला की रिट जारी करने की अधिकारिता अब भी विद्यमान है तथा न्यायमूर्ति पांडुरंग राव को निसी रिट जारी करने की अधिकारिता थी ।

10. प्रथम कथन के बारे में हमारी स्पष्ट राय है कि प्रत्यर्थी सं. 1 अपीलार्थियों की अर्जी सं. 985 में मध्यक्षेप करने का हकदार था तथा उसने अर्जी सं. 1003 साधिकार पेश की । अपीलार्थियों के अभिवक्ता, प्रत्यर्पण अधिनियम 1903 की धारा 22 के अधीन सपरिषद् गवर्नर जनरल द्वारा बनाए गए देशीय राज्यों को अभियुक्त व्यक्ति अभ्यर्पित करने हेतु राजनैतिक अभिकर्ताओं की प्रक्रिया के विषय में नियमों (सं. 1862 इ. अ. दिनांक 13.5.1904) का हवाला देते हैं । विशेषकर नियम 2 का, जो निम्नलिखित व्यवस्था करता है :–

> "राजनैतिक अभिकर्ता उक्त अधिनियम की धारा 7 के अधीन वारंट अपने से किए गए ऐसे लिखित अनुरोध के बिना जारी नहीं करेगा जो ऐसे व्यक्ति द्वारा उसके प्राधिकार से किया गया हो जो

तत्समय उस राज्य की कार्यपालक सरकार का प्रशासन कर रहा हो जिसके लिए वह राजनैतिक अभिकर्ता हो या जो उस राज्य के भीतर के किसी ऐसे न्यायालय द्वारा हो जो सपरिषद् गवर्नर जनरल या, यथास्थिति, मद्रास या बंबई के सपरिषद् गवर्नर द्वारा शासकीय राजपत्र में अधिसूचना द्वारा तत्निमित्त निर्दिष्ट किया गया हो ।" (अनुवाद – संपादक द्वारा)

11. उनका कहना था कि प्रस्तुत मामले में वारंट से संबंधित कार्यवाही में भाग लेने के लिए वही पक्षकार हकदार थे (क) अपीलार्थी ; (ख) प्रत्यर्थी सं. 2 मुख्य प्रेसिडेंसी मजिस्ट्रेट ; (ग) मद्रास के देशीय राज्यों के ब्रिटिश रेजीडेंट और (घ) त्रावणकोर की सरकार । किंतु हमारी राय में वारंटों की भाषा दर्शित करती है कि अधिनियम की धारा 7 के अनुसार जिस प्रधिकारी को अपीलार्थी दिए जाने वाले थे, वह वास्तव में प्रत्यर्थी सं. 1 है, जो उनकी अभिरक्षा नियंत्रित करेगा, यद्यपि त्रावणकोर की पुलिस सीमांत स्टेशन पर उनकी ओर से अपीलार्थियों की अभिरक्षा प्राप्त करेगी । उपर्युक्त नियमावली के नियम 7 से यह पर्याप्त स्पष्ट हो जाता है । इसमें उपबंध है :–

"7. किसी अभियुक्त के विचारण हेतु किसी देशीय राज्य के न्यायालय को सौंपे जाने की दशा में राजनैतिक अभिकर्ता स्वयं का समाधान कर लेगा कि अभियुक्त का उचित विचारण होता है और दोषसिद्ध होने पर उसे दिया गया दंड अत्यधिक या नृःशंस नहीं है और यदि उसका इस प्रकार समाधान नहीं होता तो वह यह मांग करेगा कि सपरिषद् गवर्नर जनरल के आदेश होने पर बंदी उसकी अभिरक्षा में लौटा दिया जाए ।" (अनुवाद – संपादक द्वारा)

12. यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत मामले में यदि ऐसे आवेदन का अवसर उठता तो वह प्रत्यर्थी सं. 1 के न्यायालय में दिया जाता । हमारी राय में प्रत्यर्थी सं. 1 अपीलार्थियों की अभिरक्षा प्राप्त करने का हकदार है और अपीलार्थियों का तर्क असफल होता है । अब अपीलार्थियों के चौथे तर्क को निपटाना सुविधापूर्ण होगा । इस प्रश्न पर हम प्रस्तुत मामले में पूर्ण न्यायपीठ के निष्कर्ष से सहमत हैं, जो विद्वान् मुख्य न्यायमूर्ति द्वारा दिए गए निर्णय में इस प्रकार है :–

"1861 का उच्च न्यायालय अधिनियम विधान मंडल को यह अधिकार देता है कि यदि वह उचित समझे तो इस न्यायालय से वे

शक्तियां ले ले जो उसने उच्चतम न्यायालय के उत्तराधिकारी के रूप में प्राप्त कीं और मेरे मन में इस विषय में कोई संदेह नहीं है कि विधान मंडल ने 1875 और बाद के वर्षों में विधिपूर्वक जो अधिनियम पारित किए उनके द्वारा उन मामलों में जो दंड प्रक्रिया संहिता, 1898 की धारा 491 में अनुध्यात हैं, उच्च न्यायालय से बंदी प्रत्यक्षीकरण की परमाधिकार रिट जारी करने की शक्ति ले ली गई है ।"

13. वास्तव में अपीलार्थियों के अभिवक्ता मानते हैं कि इस तर्क पर जोर देने में वे कठिनाई अनुभव करते हैं, और अपने निष्कर्ष में निर्दिष्ट विधायी अधिनियमों के विवरण सहित विद्वान् मुख्य न्यायमूर्ति के तर्क जिस पर उपर्युक्त निष्कर्ष आधारित है, इतने स्पष्ट और मान्य हैं कि हम उन्हें अपनाने में संतुष्ट हैं । विद्वान् मुख्य न्यायमूर्ति के समान हम यह भी कहेंगे कि हम **गिरीन्द्र नाथ बनर्जी** बनाम **वीरेन्द्रनाथ पाल**[1] में मुख्य न्यायमूर्ति रैंकिन के निर्णय से पूर्णतया सहमत हैं । तद्नुसार अपीलार्थियों का चौथा तर्क भी असफल होता है । इससे यही निकलता है कि अपीलार्थियों की अर्जी सं. 985 दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 491 के अधीन आवेदन समझी जानी चाहिए ।

14. अपीलार्थियों का द्वितीय तर्क मद्रास उच्च न्यायालय की अपीली नियमावली से संबंधित है । दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 491 का तात्विक अंश इस प्रकार है :–

"491. (1) कोई भी उच्च न्यायालय जब कभी वह यह ठीक समझे, निदेश दे सकेगा कि –

(ख) ऐसी सीमाओं (अर्थात् अपनी अपीली दांडिक अधिकारिता) के अंदर लोक या प्राइवेट अभिरक्षा में अवैध या अनुचित तौर पर निरुद्ध कोई व्यक्ति स्वतंत्र कर दिया जाएगा ;

(2) उच्च न्यायालय इस धारा के अधीन मामलों में प्रक्रिया का विनियमन करने के लिए समय-समय पर नियम बना सकेगा ।" (अनुवाद – संपादक द्वारा)

15. अपील पक्ष के तात्विक नियम इस प्रकार हैं :–

"2. निम्नलिखित मामले दो न्यायाधीशों के न्यायपीठ द्वारा सुने

[1] इं. ला रि. 54 कलकत्ता 727 = आ. इं. रि. 1927 कलकत्ता 496.

और अवधारित किए जा सकेंगे, परंतु यदि दोनों न्यायाधीश सहमत हों कि अवधारण में विधिक प्रश्न अंतर्ग्रस्त है तो वे आदेश कर सकेंगे कि वह मामला या विधिक प्रश्न पूर्ण न्यायपीठ को निर्दिष्ट किया जाए ....

(4) (ग) बंदी प्रत्यक्षीकरण रिट जारी करने के लिए ।

2क. बंदी प्रत्यक्षीकरण रिट के सारे आवेदन दांडिक कार्य करने वाले न्यायाधीशों के न्यायपीठ के समक्ष रखे जाएंगे ।" (अनुवाद – संपादक द्वारा)

16. वर्तमान मामले में कामन ला रिट जारी करने की अक्षमता के विषय में हमारी पहले ही व्यक्त राय को देखते हुए अपीलार्थियों के इस तर्क के लिए अवसर नहीं आता कि ये नियम, जहां तक वे ऐसी रिट जारी करने को प्रभावित करते हैं, शक्ति-वाह्य हैं । किंतु अपीलार्थियों का तर्क है कि उचित अर्थ करने पर ये नियम धारा 491 के अधीन निदेश देने के आवेदन को लागू नहीं होते । उनका कहना है कि ऐसा आवेदन नियम 2-क के शब्द "बंदी प्रत्यक्षीकरण रिट के सारे आवेदन" के अंतर्गत नहीं आता । हम यह तर्क मानने में असमर्थ हैं, और हमारे विचार की नियम 2-क के विषय में फोर्ट सेंट जार्ज गजट में प्रकाशित कानूनी अधिसूचनाओं की भाषा से पुष्टि होती है । यह पहली बार 1925 के गजट के भाग 2 पृष्ठ 307 पर दिनांक 3.1.1925 के साथ कुछ भिन्न रूप में है । उसमें इसे अभिव्यक्त रूप से दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 491(1) के अधीन प्रक्रिया विनियमित करने के नियमों के संशोधन के रूप में वर्णित किया गया है और वह इस प्रकार था :–

"बंदी प्रत्यक्षीकरण रिट के सारे आवेदन तीन न्यायाधीशों के न्यायपीठ के समक्ष रखे जाएंगे, जिनमें जब तक अन्यथा आदेश न हो, मुख्य न्यायमूर्ति एक होंगे ।"

17. नियम का वर्तमान रूप में परिवर्तन 17.8.1929 को 1929 के गजट के द्वितीय भाग के पृष्ठ 1309 पर प्रकाशित हुआ और संशोधन का विवरण पहले वाली अधिसूचना के समान है । तद्नुसार, न्यायमूर्ति पांडुरंग राव को एकल न्यायाधीश के रूप में अर्जी सं. 985 सुनने की अधिकारिता नहीं थी ।

18. अब केवल अपीलार्थियों के वारंट से संबंधित तर्कों पर विचार करना शेष रह जाता है । प्रथमतः, उनका कहना है कि साक्ष्य के आधार

पर न्यायालय को यह जांच करने का अधिकार है कि क्या प्रत्यर्पण अधिनियम और उसकी धारा 22 के अधीन निर्मित नियमों का अनुपालन किया गया, और अपीलार्थी इन बातों के बारे में न्यायालय का समाधान करने के अवसर के हकदार थे (क) अपराध मद्रास में किए गए होने चाहिए तथा (ख) वास्तव में त्रावणकोर के प्राधिकारी अपीलार्थियों को राजनैतिक अपराधों से आरोपित करने हेतु, जो प्रत्यर्पण योग्य अपराध नहीं हैं, अपनी अधिकारिता में लेना चाहते थे । यह स्मरणीय है कि वारंट भारत सरकार के अभिकर्ता द्वारा जारी किए गए हैं, न कि त्रावणकोर राज्य के अभिकर्ता द्वारा, और यह कार्यपालन कृत्य विभिन्न ढंगों से अधिनियम और नियमों द्वारा सुरक्षित है । उदाहरणार्थ, नियम 4 में उपबंध है कि अधिनियम की धारा 7 के अधीन वारंट जारी करने से पूर्व राजनैतिक अभिकर्ता सब मामलों में प्रारंभिक जांच द्वारा अथवा अन्यथा अपना समाधान कर लेगा कि अभियुक्तों के विरुद्ध प्रथमदृष्ट्या मामला बनता है । अपीलार्थियों का यह कहना नहीं है कि प्रस्तुत मामले में रेजीडेंट ने अपना ऐसा समाधान नहीं किया । यदि ऐसा कथन किया भी जाता तो हमारी राय है कि यह न्यायालय द्वारा जांच का विषय उचित रूप से नहीं होगा, बल्कि यह बात प्रत्यर्पण अधिनियम की धारा 8-क के अधीन स्थानीय सरकार को रिपोर्ट हेतु आवेदन द्वारा मजिस्ट्रेट से कही जानी चाहिए । हम कोई कारण नहीं पाते कि क्यों आरोपित अपराध त्रावणकोर में नहीं किए गए हो सकते, और जो हमने पहले कहा वह इस कथन को सीधे लागू होता है कि प्रत्यर्पण का वास्तविक उद्देश्य अपीलार्थियों को राजनैतिक अपराधों से आरोपित करने का है । यह भी जोड़ा जा सकता है कि उन अपराधों का बनावटी विचारण जिनके संबंध में प्रत्यर्पण किया गया, नियम 7 के अंतर्गत आता प्रतीत होगा और ऐसी दशा में राजनैतिक अभिकर्ता का यह कर्तव्य होगा कि वह बंदियों को अपनी अभिरक्षा में वापिस करने की मांग करें ।

19. अंत में, अपीलार्थियों का कहना है कि वारंट इन बातों के संबंध में प्रत्यक्षतः अवैध हैं : (क) वे पर्याप्त रूप से यह प्रकट नहीं करते कि अपीलार्थियों पर कौन से अपराध आरोपित किए गए हैं और वे कब किए गए, (ख) वे पर्याप्त रूप से यह नहीं बताते कि किस स्थान पर और किन व्यक्तियों को अपीलार्थी सौंपे जाने हैं तथा (ग) उन पर कोई तारीख नहीं पड़ी है । जहां तक (क) का संबंध है, प्रत्यर्पण अधिनियम या नियमों द्वारा वारंट का कोई प्ररूप विहित नहीं है, और वारंटों में स्पष्ट रूप से उन अपराधों का उल्लेख है जो अपीलार्थियों पर लगाए गए हैं । दंड प्रक्रिया संहिता की अनुसूची 5 के प्ररूप 2 और धारा 75 द्वारा गिरफ्तारी के लिए

विहित साधारण वारंट के प्ररूप में इतनी ही अपेक्षा है । हम भारतीय दंड संहिता की धारा 477-क के स्पष्टीकरण का निर्देश कर सकते हैं । यह आपत्ति असफल होती है । (ख) के संबंध में, जहां तक कि प्रत्यर्पण अधिनियम की धारा 7(1) में प्रयुक्त शब्दों, "उसकी गिरफ्तारी और वारंट में दर्शित किसी स्थान पर और व्यक्ति को परिदान हेतु" का संबंध है हमारी राय में इनसे केवल यह अपेक्षित है कि स्थान और व्यक्ति पर्याप्त रूप से व्यक्त किए जाने चाहिए, जिससे मुख्य प्रेसिडेंसी मजिस्ट्रेट जिसे वारंट संबोधित किए जाएं, वारंटों के अनुसार कार्रवाई कर सके, और तद्नुसार निदेश दे सके । यह स्पष्ट है कि प्रत्यर्थी सं. 2 को इस संबंध में कोई कठिनाई नहीं है और यदि केवल वारंटों को देखने पर कोई संशय था, जो हम मानने को तैयार नहीं हैं, तो मद्रास सरकार के गृह विभाग ने 10.3.1938 के आदेश सं. 1293 से मामले को संदेह से परे कर दिया है । उसके अधीन सरकार ने निदेश दिया है कि भविष्य में सब प्रत्यर्पित व्यक्ति "त्रावणकोर राज्य में निकटतम सीमांत थाने में" दिए जाने चाहिए । यहां आदेश, अन्य व्यक्तियों के साथ-साथ प्रत्यर्थी सं. 2 को भी संबोधित था । त्रिवेन्द्रम के जिला मजिस्ट्रेट के समक्ष पेश करने हेतु त्रावणकोर राज्य के निकटतम सीमांत थाने को पहचानने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती और हमारी राय में, पुलिस स्टेशन में उस प्राधिकारी का पूर्णतया स्पष्ट वर्णन है जिसको अभ्यर्पण किया जाना है । तारीख के अभाव के बारे में तर्क (ग) भी हमारी राय में असफल होता है । निस्संदेह वारंटों पर तारीख डालना सामान्य और बेहतर पद्धति होगा, किंतु अधिनियम या नियमों में कोई ऐसा उपबंध प्रतीत नहीं होता जो प्रत्यक्ष या गौण रूप से उपेक्षा करे कि वारंटों पर तारीख होनी चाहिए । वारंट की तारीख से कोई समय प्रारंभ होना कहीं व्यक्त नहीं किया गया है । इस प्रकार वारंटों की विधिमान्यता के विरुद्ध अपीलार्थियों की सारी आपत्तियों का निपटारा हो जाता है । हमने अब वह कारण बता दिए हैं जिनके आधार पर हमने 3.4.1939 को हिज मैजेस्टी को अपील खारिज करने की विनम्र सलाह दी थी ।

अपील खारिज की गई ।

राम नारायण साहू तथा अन्य .... अपीलार्थी

बनाम

श्रीमती मखना .... प्रत्यर्थी

28.4.1939

न्यायमूर्ति लार्ड थैंकरटन, न्यायमूर्ति लार्ड पोर्टर व न्यायमूर्ति सर जार्ज रैंकिन

हिन्दू विधि – विभाजन – हिन्दू विधि में संयुक्त कुटुंब के विभाजन के लिए यह आवश्यक नहीं है कि संपत्ति वास्तव में विभाजित की जाए – अलग होने की स्पष्ट घोषणा से ही विभाजन हो जाता है – संयुक्त रहने वाले सहदायिक द्वारा या घोषणा बंटवारे के वाद में प्रारंभिक डिक्री के बाद भी की जा सकती है – वह प्रभावी होगी – यह तर्क मान्य नहीं होगा कि डिक्री में उसके विभाजन का निदेश नहीं दिया गया है – संयुक्त संपत्ति के दो भागों में विभाजन प्रारंभिक डिक्री के बाद प्रतिवादियों में से एक ने अपने हिस्से के भी पृथक्करण के लिए आवेदन दिया जो विचारण न्यायालय ने मान लिया किंतु उच्च न्यायालय ने वह आदेश उलट दिया – इस बीच वह प्रतिवादी बराबर पृथक् रूप में रहा – उससे विभाजन हो गया माना गया ।

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[1925]	52 इंडियन अपील्स 83 = आ. इं. रि. 1925 प्रि. कौं. 49 : **पलानी अम्मल** बनाम **मुत्तू वेंकटचरल मोनियागार** ;	7
[1903]	(1903) 30 इंडियन अपील्स 1 : **राम प्रसाद सिंह** बनाम **लखपति कुंवर** ।	9

सिविल अपीली अधिकारिता :	**1937 की अपील सं. 83.**
अपीलार्थियों की ओर से	श्री डब्ल्यू. वालच
प्रत्यर्थी की ओर से	सर्वश्री ए. एम. दुने और एस. पी. सम्बाटा

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति सर जार्ज रैंकिन ने दिया ।

न्या. रैंकिन –

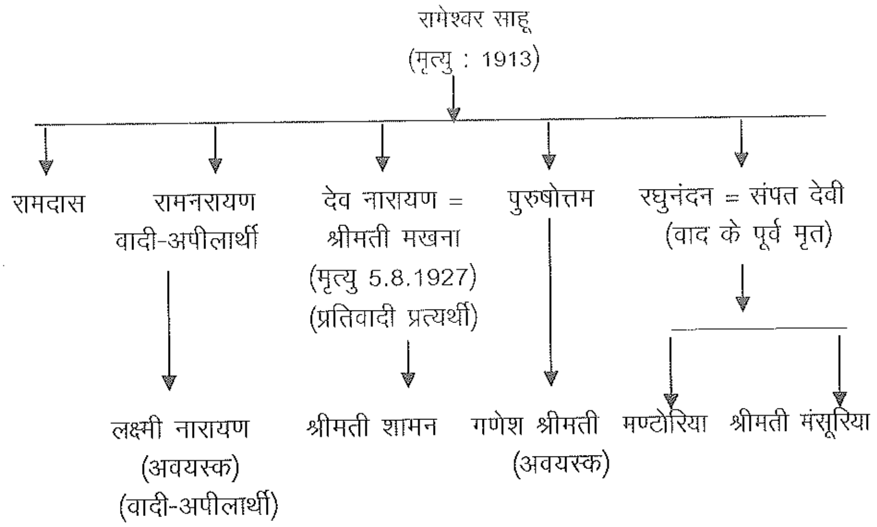

इस मामले में एकमात्र प्रश्न यह है कि अपनी मृत्यु की तारीख 5.8.1927 को देव नारायण अपने कुटुंब के सभी अन्य सदस्यों से संपदा से अलग था या वादी-अपीलार्थियों के साथ – अर्थात् अपने भाई राम नारायण और उसके पुत्र लक्ष्मी नारायण के साथ संयुक्त था । यदि उसकी मृत्यु विभाजित हिन्दू के रूप में हुई तो उसके कोई पुत्र न छोड़ने के कारण उसकी विधवा श्रीमती मखना प्रतिवादी-प्रत्यर्थी उसकी संपत्ति की वारिस हुई । यदि अपनी मृत्यु के समय वह संयुक्त हिन्दू कुटुंब का सदस्य था तो उसका हित उत्तरजीविता द्वारा उसके सहदायिकों को गया । भारत के दोनों न्यायालयों ने विधवा के पक्ष में निर्णय किया है कि उसकी मृत्यु विभाजित स्थिति में हुई ।

2. 1923 में कुटुंब संयुक्त था । रामेश्वर के चार पुत्र जीवित थे । 26.3.1923 को उनमें से दो ने – अर्थात् राम दास और पुरुषोत्तम ने (पुरुषोत्तम के अवयस्क पुत्र के साथ) – कुटुंब के अन्य सदस्यों के विरुद्ध बंटवारे का वाद किया जिसमें आधे हिस्से का आबंटन और पृथक् कब्जा मांगा । उस समय, और सभी सुसंगत समयों पर, देव नारायण पागल था । उसकी पत्नी (वर्तमान प्रत्यर्थी) उसकी वादकालीन संरक्षक नियुक्त की गई । वाद एक विषय में कपटमय था : उसमें यह गलत तौर पर कहा गया था कि नकदी और फर्नीचर का बंटवारा कुटुंब के सदस्यों में हो चुका है । यह इस दिशा में प्रयत्न था कि देव नारायण और राम नारायण की शाखाओं को उनके उचित हिस्से से वंचित किया जाए । किंतु वह असत्य पकड़ लिया

गया और विचारण में ही असफल हो गया । राम नारायण और देव नारायण दोनों ने लिखित कथन दाखिल किए, किंतु दो में से किसी के लिखित कथन में उनके बीच बंटवारे की मांग नहीं की गई थी । 15.9.1923 को कुछ हिसाब लिए जाने का निदेश दिया गया और 23.4.1924 को विचारण न्यायाधीश के बंटवारे का आदेश दिया तथा अमीन को निदेश दिया कि स्थावर संपत्तियों को दो भागों में बांटे तथा 14.4.1924 तक रिपोर्ट दें कि उनमें से कौन-सा भाग इस वाद के वादियों को दिया जाए । यह डिक्री अक्तूबर, 1924 तक तैयार की गई नहीं प्रतीत होती, किंतु उसके सुनाए जाने के कुछ ही दिन बाद देव नारायण के वादकालीन संरक्षक ने न्यायालय में 3.5.1924 को एक आवेदन 10.5.1924 को दाखिल करके प्रार्थना की कि उसका (एक-चौथाई) हिस्सा भी अमीन बांट दें । उसमें कहा गया था कि यदि वह हिस्सा संयुक्त रहने दिया गया तो भविष्य में हानि की आशंका है । उसके तीन भाइयों ने आपत्ति की ; किंतु अधीनस्थ न्यायाधीश ने 27.5.1924 को उसका आवेदन मंजूर कर लिया और 16.8.1924 की बंटवारे की अंतिम डिक्री में देव नारायण को उसका एक-चौथाई हिस्सा अलग से आबंटित किया गया । इस डिक्री के विरुद्ध राम नारायण और उसके पुत्र ने 27.2.1925 को इलाहाबाद उच्च न्यायालय में अपील की । यह मुख्यतः इस आधार पर थी कि अंतिम डिक्री 24.4.1924 की प्रारंभिक डिक्री के अनुरूप नहीं है । अपील सुने जाने के पूर्व 5.8.1927 को देव नारायण की मृत्यु हो गई । उसने एक विधवा और एक पुत्री छोड़ी । उसके स्थान पर विधवा को अभिलेख में सम्मिलित किया गया । उच्च न्यायालय ने अपील 19.07.1928 को मंजूर कर ली । उनका निष्कर्ष था कि प्रारंभिक डिक्री के बाद अधीनस्थ न्यायाधीश सक्षम नहीं थे कि यह आवेदन ग्रहण करते कि देव नारायण का हिस्सा भी अलग कर दिया जाए :–

> "हम राम नारायण और श्रीमती मखना को छोड़ते हैं कि यदि वे चाहें तो अपने अधिकारों का समायोजन एक अलग वाद द्वारा करा लें । इस बीच हमारी राय है कि संपत्ति का जो भाग वादियों को आबंटित नहीं किया गया है वह इस वाद के प्रयोजनार्थ सामान्य संपत्ति समझा जाए । श्रीमती मखना के आवेदन का कुटुंब की संपत्ति की आस्थिति पर अथवा राम नारायण और देव नारायण के विषय में कुटुंब के गठन पर क्या विधिक प्रभाव हुआ, यदि पक्षकार इस विषय में सहमत न हों या कोई पक्षकार वाद करने का मार्ग अपनाए तो इसका अवधारण पश्चात्वर्ती वाद में किया जाना होगा ।"

3. बोर्ड इस विनिश्चय के विरुद्ध अपील नहीं सुन रहा है और न उसकी शुद्धता पर हमारे समक्ष कोई बहस की गई । हम उस विषय में कोई राय व्यक्त नहीं करते । हम इस विषय में भी समीक्षा नहीं करते कि क्या संहिता में कोई बात है जो विद्वान् विचारण न्यायाधीश को प्रारंभिक डिक्री तैयार और हस्ताक्षरित की जाने के पूर्व यह विनिश्चय करने से रोकती कि उसमें देव नारायण के एक-चौथाई हिस्से के अलग किए जाने का निदेश सम्मिलित किया जाए या इससे रोकती कि निदेश देते कि डिक्री तद्नुसार तैयार और पूरी की जाए । मई, 1924 – जब कि बंटवारे के वाद में विचारण न्यायाधीश ने प्रत्यर्थी की यह मांग मानी कि देव नारायण का हिस्सा अलग कर दिया जाए – और जुलाई, 1928 के – जब यह विनिश्चय उच्च न्यायालय द्वारा उलट दिया गया – बीच राम नारायण और देव नारायण की शाखाएं इस प्रकार व्यवहार करती रहीं जैसे कि वे हित और हक में विभाजित हैं । 1924 तक उनका भोजन और निवास एक-साथ था, किंतु मई, 1924 के लगभग यह नहीं रह गया । विचारण न्यायाधीश ने यह पाया कि विवाहों और अंत्येष्टियों के संबंध में राम नारायण ने विभाजित सदस्य के रूप में व्यवहार किया । "स्वयं राम नारायण ने अपने दुविधारहित आचरण द्वारा पृथक्ता अर्जित और स्वीकार कर ली ।" किंतु उसके विद्वान् अधिवक्ता ने आपत्ति की कि बंटवारा वाद में 27.5.1924 के आदेश से उसे अंतिम डिक्री के विरुद्ध उच्च न्यायालय में अपील के विचाराधीन रहते हुए उस विषय में कोई विकल्प नहीं छोड़ा ।

4. विधवा राजस्व अभिलेखों में अपना नाम दर्ज कराने का आदेश प्राप्त करने के विषय में राजस्व न्यायालय में 1.9.1928 को सफल हो गई । अतः यह वाद उसके विरुद्ध 14.5.1929 को किया गया कि यह अवधारित किया जाए कि देव नारायण वादियों राम नारायण और लक्ष्मी नारायण से विभाजित मरा या अविभाजित । बनारस के अधीनस्थ न्यायाधीश ने वाद 27.5.1930 को खारिज कर दिया और उच्च न्यायालय ने इस विनिश्चय की पुष्टि 2.4.1935 को कर दी । भारतीय न्यायालय प्रस्तुत मामले में इस दृष्टिकोण से अग्रसर हुए हैं कि यद्यपि देव नारायण बंटवारे के समय पागल था फिर भी वह बंटवारे में हिस्सा प्राप्त करने का हकदार था क्योंकि वह जन्म से पागल नहीं था । वादियों की ओर से यह बराबर स्वीकार किया गया और यह बंटवारा वाद में सभी पक्षकारों ने स्वीकार किया था और उस नामांतरण कार्यवाही में भी स्वीकार किया था जो उसके बाद 1928 में हुई । प्रकट यह होता है कि यह सिद्धांत उच्च न्यायालय में **त्रिवेणी** बनाम

मोहम्मद[1] के समय से मान्य है । किंतु प्रस्तुत वाद में उच्च न्यायालय द्वारा निर्णय के बाद एक पूर्ण न्यायापीठ ने **मूल चंद** बनाम **चहता देवी**[2] उससे विचलन कर दिया है तथा वह कुछ उच्च न्यायालयों के विनिश्चयों से सहमत हुए । हमसे यह अनुरोध नहीं किया गया कि इन विनिश्चयों का पुनर्विलोकन करें और उनसे जो महत्वपूर्ण प्रश्न उठते हों उन पर इस अपील में बहस नहीं की गई । हमारे लिए यह कुछ उलझन की बात है कि हमसे यह अपेक्षा की जाए की बंटवारा वाद में पागल और उसके वादकालीन संरक्षक के संपदा के पृथक्करण की मांग करने के अधिकारों की चर्चा इस कृत्रिम मान्यता पर करें कि पागल (यदि वह जन्म से पागल नहीं है) बंटवारा होने पर हिस्से का हकदार है, जब कि भारत में एक उच्च स्तर का प्रमाण है कि उसे ऐसा अधिकार नहीं होता । हिन्दू कुटुंब का जो सदस्य विधितः सक्षम है उसका अपना आशय घोषित करके संपदा और हित के विषय में अपने को अलग करने के अधिकार की चर्चा सर जार्ज लाउण्डेस ने **बाल कृष्ण** बनाम **राम कृष्ण**[3] में इस प्रकार की है :–

> "यह विधि अब सुप्रतिष्ठित है कि संयुक्त हिन्दू कुटुंब का कोई सदस्य अपने सहदायिकों को संयुक्त कुटुंब से अपने को अलग करने की अपनी इच्छा की स्पष्ट और दुविधारहित सूचना देकर पृथक् हो सकता है । **सूरज नारायण** बनाम **इकबाल नारायण** – (1913) इंडियन अपील्स 40 में यही प्रतिपादित किया गया । **गिरजा बाई** बनाम **सदा शिव धुंधीराज** – 43 इंडियन अपील्स 151 (आ. इं. रि. 1916 प्रि. कौं. 104) में इस प्रश्न की आगे परीक्षा करके उसी सिद्धांत की पुष्टि की गई । अंतिमोक्त निर्णय का अनुसरण **कंवल नयन** बनाम **प्रभु लाल** – 44 इंडियन अपील्स 159 (आ. इं. रि. 1917 प्रि. कौं. 39) में किया गया, जिसमें पृष्ठ 161 पर लार्ड हेल्डेन ने कहा कि वादी की संपदा में पृथक् होने की आस्थिति उसके पृथक् होने के अपने अधिकार के प्रकथन से अस्तित्व में आ जाती है ।"

5. कुटुंब के अन्य सदस्यों के अधिकारों और आस्थिति पर इस अधिकार के प्रयोग के प्रभाव पर विचार इस बोर्ड के समक्ष आने वाले अनेक मामलों में किया गया है । **बाला बख्श लाधूराम** बनाम **रुखमा बाई**[4]

---

[1] इं. ला रि. (1905) 28 इलाहाबाद 247.

[2] इं. ला रि. (1937) इलाहाबाद 825 = आ. इं. रि. 1937 इलाहाबाद 605.

[3] 58 इंडियन अपील्स 220 (224) = आ. इं. रि. 1931 प्रि. कौं. 154.

[4] (1903) 30 इंडियन अपील्स 130.

पर लार्ड डेवी ने बोर्ड का निर्णय सुनाते हुए कहा :–

"हमें यह प्रकट होता है कि ऐसी कोई उपधारणा नहीं होती कि जब एक सहदायिक दूसरे से पृथक् होता है तो वे उत्तरोक्त संयुक्त रहते हैं । अनेक मामलों में यह आवश्यक हो सकता है कि बाहर जाने वाले सदस्य के हिस्से के अभिनिश्चय के लिए वे हिस्से निश्चित किए जाएं जिनके अन्य सहदायिक हकदार हैं या होंगे और इस अर्थ में एक का पृथक्करण सारतः सभी का पृथक्करण कहा जाता है । हमारे विचार से संयुक्त कुटुंब के शेष सदस्यों में सहमति कि वे संयुक्त रहेंगे या पुनः संयुक्त होते हैं अन्य तथ्य की भांति साबित की जानी चाहिए ।"

6. उपर्युक्त 58 इंडियन अपील्स 220 में सर जार्ज लाउण्डेस ने पृष्ठ 226 पर कहा :–

"कहा यह जाता है कि कुटुंब के एक सदस्य के पृथक्करण से अनिवार्यतः सबका पृथक्करण हो जाता है । इस समस्या पर चर्चा अनेक मामलों में की गई है । बहस प्रायः उपधारणा के प्रश्न को लेकर होती है । निःसंदेह सामान्य सिद्धांत यह है कि जब तक तत्प्रतिकूल साबित न कर दिया जाए तब तक प्रत्येक हिन्दू कुटुंब के संयुक्त होने की उपधारणा होती है । यदि यह सिद्ध कर दिया जाए कि एक सदस्य पृथक् हो गया तो क्या उक्त उपधारणा अन्यों के विषय में बनी रहती है ? इस बोर्ड के विनिश्चयों से प्रकट होता है कि वह नहीं रहती, देखिए – उपर्युक्त 30 इंडियन अपील्स 130 में पृष्ठ 137 पर लार्ड डेवी की उक्ति, जिसका अनुसरण **जत्ती** बनाम **बनवारी लाल** – 50 इंडियन अपील्स 192 = आ. इं. रि. 1923 प्रि. कौं. 136 में किया गया । किंतु इन्हीं विनिश्चयों से यह भी समान रूप से स्पष्ट है कि कुटुंब के अन्य सदस्य संयुक्त रह सकते हैं । हमारे विचार से प्रश्न उनके आशय का होता है, जो निःसंदेह साबित किया जाना चाहिए ।"

7. 1924 में **पलानी अम्मल** बनाम **मुत्तू वेंकटचरल मोनियागार**[1] – में सर जान एज ने स्थिति पुनः बताई और उन मामलों के संदर्भ में बताया जिनमें वाद करके बराबर विभाजन का दावा किया गया था :–

---

[1] 52 इंडियन अपील्स 83 = आ. इं. रि. 1925 प्रि. कौ. 49.

"अब यह भी निःसंदेह है कि ऐसे संयुक्त कुटुंब का कोई सदस्य उस संयुक्त कुटुंब के अन्य सदस्यों से पृथक् हो सकता है और ऐसे पृथक्करण पर वह हकदार होता है कि संयुक्त कुटुंब की संपत्ति में उसका हिस्सा अभिनिश्चित और विभाजित कर दिया जाए और शेष सहदायिक परस्पर किसी विशेष करार के अभाव में भी सहदायिक बने रह सकते हैं तथा कुटुंब की संपत्ति के ऐसे बंटवारे के बाद संयुक्त कुटुंब की जो संपत्ति बची उसका संयुक्त कुटुंब के रूप में उपभोग करते रहें । यदि यह विवादित हो कि शेष सदस्य संयुक्त रहें तो इसका निष्कर्ष उनके पूर्व सहदायिकों से पृथक् होने के बाद कुटुंब का कारबार चलाने के ढंग से निकाला जा सकता है .... बंटवारे के वाद में, जिसमें डिक्री हो जाती है, बंटवारे की डिक्री यह दिखाने के लिए साक्ष्य होती है कि पृथक्करण केवल वादी का अपने सहदायिकों से पृथक्करण था या संयुक्त कुटुंब के सभी सदस्यों का एक-दूसरे से पृथक्करण था । हमें यह स्पष्ट लगता है कि बंटवारे के बाद में बंटवारे की कोई प्रभावी डिक्री तब तक नहीं दी जा सकती जब तक कि वे सब सहदायिक जिनके पते ज्ञात हैं उस वाद में पक्षकार न हों और केवल डिक्री ही इस वाद का साक्ष्य हो सकती है कि क्या डिक्री किया गया ।"

8. अपीलार्थियों का प्रबल आश्रय इस अंतिम पैरा पर है और उनका तर्क है कि बंटवारा वाद में उच्च न्यायालय की डिक्री, जिसमें उन्होंने पागल के अपने एक-चौथाई हिस्से के पृथक्करण के दावे को नहीं माना और बंटवारे को दो हिस्सों में विभाजन तक सीमित रखा, अंतिम रूप से अवधारित करती है कि पागल की आस्थिति वर्तमान अपीलार्थियों के साथ संयुक्त की बनी रहीं । यह तर्क मानना अनेक कारणों से कठिन है । उच्च न्यायालय में विनिश्चय इस सामान्य विचार पर हुआ कि क्योंकि उस एक-चौथाई हिस्से के पृथक्करण के लिए प्रारंभिक डिक्री में व्यवस्था नहीं थी अतः अंतिम डिक्री में उसका अलग आबंटन नहीं हो सकता था । यह ऐसा विषय नहीं था जिसका देव नारायण की निर्योग्यता से कोई विशेष संबंध हो । यदि उनका निर्णय सही था तो देव नारायण के विधितः सक्षम होने पर भी उतना ही सही होता और भले ही उसने प्रारंभिक डिक्री के बाद तथा अंतिम डिक्री के पूर्व अंततः गंभीरता और स्पष्ट रूप से अपना संपदा और हित में पृथक् होने का आशय घोषित कर दिया होता । फिर भी उस मामले में यह निष्कर्ष शायद ही सही होता कि क्योंकि उसे अंतिम डिक्री द्वारा अलग हिस्सा आबंटित नहीं हुआ, अतः उसकी आस्थिति संयुक्त नहीं रही ।

प्रारंभिक और अंतिम डिक्रियों के बीच का अंतराल बहुधा पर्याप्त होता है और सहदायिक का पृथक् होने की अपनी इच्छा की उचित घोषणा के द्वारा अपनी संपदा, हित या हक का पृथक्करण करने का अधिकार – जो कि सीमा-बंधन के साथ बंटवारा करने से भिन्न होता है – इस बात से समाप्त नहीं हो जाता कि उसने उसका प्रयोग करने का दावा प्रारंभिक डिक्री के पहले नहीं किया ।

9. इसके अतिरिक्त बंटवारा वाद में डिक्री इस बात का अनन्य साक्ष्य होती है कि डिक्री क्या किया गया । न्यायालय के लिए एक असामान्य नहीं होता कि बंटवारा डिक्री करने में अपने को संपत्ति के टुकड़े करने और वह अलग-अलग सदस्यों या सदस्यों के समुदायों को देने में लगाएं । संपत्ति को टुकड़ों में विभाजित करके अलग-अलग आबंटन करने में संपदा या हित का पृथक्करण समाहित होता है । डिक्री में ऐसे निदेश भी हो सकते हैं जिनसे सीमा-बंधन द्वारा विभाजन के बिना ही बंटवारा हो जाए, उदाहरणार्थ – यदि इस सीधे निदेश से हो जाएगा कि अब पक्षकार परिनिश्चित हिस्से रखें । किंतु यह कहना एक बिल्कुल अलग बात है कि क्योंकि डिक्री में वादियों या प्रतिवादियों की संपदा, हक और हित का परस्पर पृथक्करण नहीं है अतः यह निश्चायक रूप से माना जाना चाहिए कि वे संयुक्त रहें । क्योंकि डिक्री हित के पृथक्करण के लिए आवश्यक शर्त नहीं है, अतः यह प्रतिपादना किसी प्रकार से स्वतः सिद्ध नहीं है और उसकी सावधानी से परीक्षा अपेक्षित है । **राम प्रसाद सिंह** बनाम **लखपति कुंवर**[1] में 1861 में पृथक्करण हुआ था और 1868 के एक वाद में तीन वादियों को कुछ संपत्ति में अपने हिस्सों के कब्जे की डिक्री दे दी गई थी । सर एण्ड्र्यू स्कोबिल ने उस डिक्री के विषय में कहा :–

> "प्रस्तुत वाद में अपीलार्थियों की ओर से बहस की गई कि यद्यपि 1868 के वाद में डिक्री से टुण्डन और टुकन के संबंध में विभाजन हुआ, किंतु उसने वादियों को परस्पर संयुक्त छोड़ा । इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि डिक्री का यह विधिक प्रभाव हो सकता था । किंतु यहां भी इस बात के लिए पक्षकारों का आचरण देखा जाना चाहिए कि यह विनिश्चय हो कि हिन्दू विधि के अनुसार संपत्ति के बंटवारे की सही कसौटी क्या है, अर्थात् कुटुंब के सदस्यों का आशय कि अलग-अलग स्वामी हो जाएं ।"

[1] (1903) 30 इंडियन अपील्स 1.

10. किंतु प्रस्तुत मामले में यह आवश्यक नहीं है कि हम इस सामान्य प्रश्न का विनिश्चय करें और हमारे विषय में यह नहीं माना जाए कि अपीलार्थियों के विद्वान् अभिवक्ता की योग्य बहस हम इस प्रश्न पर स्वीकार करते हैं । उच्च न्यायालय की 18.7.1928 की डिक्री में यह प्रश्न अभिव्यक्त रूप से आरक्षित कर लिया गया था कि पागल की संपदा या हित विभाजित था या अविभाजित, और उसे इस विषय में निर्णायक नहीं माना जा सकता । उसने केवल यह विनिश्चय किया कि देव नारायण के संरक्षक ने अत्यंत विलंब से आवेदन दिया अतः उसे उस वाद में अपने एक-चौथाई हिस्से की बाबत अलग आंबटन नहीं किया जा सकता ।

11. इस प्रश्न पर कि जो व्यक्ति जन्म के बाद पागल हो गया है उसे बंटवारा होने पर क्या अलग हिस्से का हक होता है, हम उच्च न्यायालय द्वारा अपनाए गए दृष्टिकोण से असहमत होने में असमर्थ हैं । प्रस्तुत मामले में यह नहीं दिखाया गया कि पागल संपदा में संयुक्त बना रहा । प्रत्येक बात पक्षकारों के आचरण का वह अर्थ लगाए जाने के विरुद्ध है सिवाय इस बात के कि संरक्षक ने पृथक् आबंटन के लिए आवेदन 3 या 10 मई, 1924 को दिया, जो कि प्रारंभिक डिक्री की तारीख 23.4.1924 के कुछ दिन बाद था और इसके पूर्व था कि उसके अधीन कोई कार्रवाई की गई ; किंतु उस डिक्री के सुनाए जाने के पूर्व नहीं । फिर, संरक्षक की कार्रवाई को उस वाद में विचारण न्यायाधीश का अनुमोदन प्राप्त था और पागल की संपदा और हित के पृथक्करण की मांग के रूप में उसे दृश्यतः उच्च न्यायालय का अनुमोदन भी प्राप्त था । यह भी नहीं दिखाया गया कि वह किसी प्रकार से पागल के हित के विरुद्ध था । इस परिस्थिति में प्रारंभिक डिक्री को जो भी अधिकतम प्रभावी किया जाए, हमारी राय में उससे अपीलार्थियों को यहां लाभ नहीं होगा । हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह है कि यह अपील खारिज की जानी चाहिए । अपीलार्थी प्रत्यर्थी का खर्चा अदा करें ।

अपील खारिज की गई ।

सर हरि शकर पाल तथा अन्य .... अपीलार्थी

बनाम

केदार नाथ साहा तथा अन्य .... प्रत्यर्थी

25.4.1939

न्यायमूर्ति लार्ड मैकमिलन, न्यायमूर्ति लार्ड पोर्टर व न्यायमूर्ति सर जार्ज रैंकिन

रजिस्ट्रीकरण अधिनियम, 1908 – धारा 17(1)(ख) – हक विलेखों के निक्षेप द्वारा बंधक के मामले में पक्षकारों ने एक लिखित करार किया जिसमें संव्यवहार की सभी शर्तें लिखी थीं और जिसके द्वारा बंधकदार को विक्रय की अभिव्यक्त शक्ति प्रदान की गई थी – निर्णय किया गया कि यह किए गए बंधक का साक्ष्य मात्र न होकर स्वयं में बंधक का सृजन करता है और इसका रजिस्ट्रीकरण आवश्यक था ।

इस मामले में अपीलार्थी बंधक का 25,000 रु. के मूलधन के लिए और उस पर ब्याज की बकाया के लिए प्रवर्तन चाहते हैं । उनका कहना है कि बंधक कलकत्ता में कुछ स्थावर संपत्ति के हक विलेख उन्हें प्रदत्त करके किया गया था, जिसका आशय उन पर प्रतिभूति के सर्जन का था । भारत में संपत्ति अंतरण अधिनियम, 1882 के अधीन सामान्य विधि यह है कि 100 रु. या अधिक के मूलधन के लिए बंधक केवल ऐसी लिखत द्वारा किया जा सकता है जो रजिस्ट्रीकृत हो और सम्यक् रूप से हस्ताक्षरित और अनुप्रमाणित हो । अपील खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित – प्रथमतः 24.7.1924 के पहले ज्ञापन में यह स्पष्ट कर दिया गया था कि पक्षकारों का प्रारंभ से ही विचार था कि एक दस्तावेज निष्पादित करना चाहिए जो उक्त निक्षेप का साक्ष्य हो और जिसमें उधार के निबंधन और शर्तें समाविष्ट हों, और इस पूर्ववर्ती ज्ञापन में उधार की पहली किस्त की प्राप्ति की अभिस्वीकृति है कि वह यहां पूर्व वर्णित प्रतिभूति पर तथा निबंधनों और शर्तों पर दी गई । बाद में निष्पादित 2.8.1924 के ज्ञापन की परीक्षा करने पर प्रकट होता है कि उसमें संव्यवहार के सभी आवश्यक अंश हैं । उसमें कहा गया है कि पक्षकारों के बीच एतद्द्वारा यह करार और घोषित किया जाता है कि उधार दी गई राशियों के प्रतिफलस्वरूप संपत्ति के हक विलेख उस संपत्ति पर प्रतिभूति स्वरूप रखे जाएंगे और उसमें ऐसी किसी कार्यवाही का भी उल्लेख है जो इस प्रतिभूति की संरक्षा के लिए या उसके द्वारा प्रतिभूति के अधीन धन प्राप्त करने के लिए की जाए । तत्पश्चात् वह संव्यवहार का सारा विवरण देता है

और बंधकदारों को विक्रय की शक्ति विनिर्दिष्ट तौर पर प्रदान करता है। यह सही है कि कोष्ठकों वाले अंश में यह कहा गया है कि हक विलेख पहले ही प्रतिभूति के सृजन के आशय से परिदत्त कर दिए गए, किंतु उससे स्वयं ज्ञापन की प्रकृति नहीं बदल जाती, जिससे यदि उक्त कोष्ठकों वाला भाग छोड़ दिया जाए तो, तो वह ऐसी लिखत है जो संपत्ति में बंधकदारों के हक में हित के सृजन के लिए प्रभावी है। हक विलेखों के परिदान द्वारा बंधक का सृजन करने के बाद पक्षकार वही लिखित रूप में करने को अग्रसर हुए। ज्ञापन केवल पहले पूरे संव्यवहार का साक्ष्य मात्र नहीं है। उसकी भाषा प्रवर्तनशील है। उसका स्वरूप संविदा का है और उसमें यह करार समाविष्ट है कि प्रश्नगत हक विलेख दिए गए उधार की प्रतिभूति-स्वरूप रखे जाएंगे और उसमें "एतद्द्वारा प्रतिभूत राशि" का उल्लेख है। इसमें वे सब शर्तें ही नहीं हैं जिन पर कि रुपया उधार दिया गया, अपितु वह विक्रय की शक्ति भी अभिव्यक्त रूप से प्रदान करता है। यह ध्यान देने योग्य है कि अपीलार्थी अपने वादपत्र में अपने दावे के संक्षिप्त कथन में कहते हैं कि वे 2.8.1924 के करार ज्ञापन के अधीन मूलधन और देय ब्याज की बकाया की वसूली की डिक्री चाहते हैं। हमारी राय में प्रस्तुत मामले की भांति पक्षकार हक विलेखों के निक्षेप द्वारा बंधक का सृजन करना व्यक्त करें और साथ ही एक लिखित संविदा भी करें जो उस संव्यवहार का अभिन्न अंग बनाई जाए और जो स्वयं अपने में प्रवर्तनशील लिखत हो न कि मात्र साक्ष्य, वहां ऐसी दस्तावेज कानून के अधीन रजिस्ट्रीकृत होनी चाहिए। तद्नुसार अपील असफल होती है। हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह है कि अपील न्यायालय की 6.4.1937 की डिक्री की पुष्टि की जाए और अपील खारिज की जाए। प्रत्यर्थी केदार नाथ साहा के विधिक प्रतिनिधि उपस्थित हुए। उन्हें उनका अपील का खर्चा मिलेगा। (पैरा 15 और 16)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[1931]	इंडियन अपील्स 68 = आ. इं. रि. 1931 प्रि. कौं. 36 : **सुंदराचारियर** बनाम **नारायण अय्यर** ;	3
[1923]	इंडियन अपील्स 77 = आ. इं. रि. 1923 प्रि. कौं. 50 : **सुब्रमण्यम** बनाम **लक्ष्मण** ;	6

[1916]	इंडियन अपील्स 122 = आ. इं. रि. 1916 प्रि. कौं. 115 : **प्राण जीवन दास** बनाम **धान माफी ;**	8
[1873]	(1873)11 बंगाल ला रिपोर्टर 405 : **केदार नाथ दत्त** बनाम **श्याम लाल खत्री ।**	8

सिविल अपीली अधिकारिता : **1937 की अपील सं. 80.**

अपीलार्थी की ओर से सर्वश्री ए. एम. दुने और जे. एम. प्रिंगले

प्रत्यर्थियों की ओर से सर्वश्री लिलनल एल. कोहन और जे. एम. पारिख

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति लार्ड मैकमिलन ने दिया ।

न्या. लार्ड मैकमिलन – इस वाद के वादी (जो अब अपीलार्थी हैं) बंधक का 25,000 रु. के मूलधन के लिए और उस पर हुए ब्याज की बकाया के लिए प्रवर्तन चाहते हैं । उनका कहना है कि बंधक कलकत्ता में कुछ स्थावर संपत्ति के हक विलेख उन्हें प्रदत्त करके किया गया था, जिसका आशय उन पर प्रतिभूति के सृजन का था । भारत में संपत्ति अंतरण अधिनियम, 1882 के अधीन सामान्य विधि यह है कि 100 रु. या अधिक के मूलधन के लिए बंधक केवल ऐसी लिखत द्वारा किया जा सकता है जो रजिस्ट्रीकृत हो और सम्यक् रूप से हस्ताक्षरित और अनुप्रमाणित हो । किंतु कलकत्ता तथा कुछ अन्य स्थानों में हक विलेखों के निक्षेप द्वारा बंधकों की विधिमान्यता अभिव्यक्त रूप से मानी गई है और अपवादित की गई है । निःसंदेह इस प्रकार की प्रतिभूति वाणिज्य केंद्रों में सुविधापूर्ण है, देखिए – अधिनियम की धारा 59 जैसी कि वह उस संव्यवहार की तारीख को थी जिससे यह मामला संबंधित है तथा अब संशोधन द्वारा धारा 58(च) ।

2. यह विवादित नहीं है कि प्रत्यर्थियों ने संपत्ति के हक विलेख अपीलार्थियों के पास निक्षिप्त कर दिए थे । किंतु अपीलार्थी इस निक्षेप मात्र से संतुष्ट नहीं थे । उन्होंने इस बात का आग्रह किया कि प्रत्यर्थी एक करार ज्ञापन निष्पादित करें जो उक्त निक्षेप का साक्ष्य हो और जिसमें उधार के निबंधन और शर्तें हों । अपीलार्थियों ने अपने वादपत्र में इसी ज्ञापन का आश्रय लिया तथा अपने लिखित कथन में प्रत्यर्थियों का कहना है कि यह ज्ञापन ही उनका तथा अपीलार्थियों के बीच का सौदा था और उनका

तर्क है कि क्योंकि वह रजिस्ट्रीकरण अधिनियम की धारा 17(1)(ख) की अपेक्षानुसार रजिस्ट्रीकृत नहीं है अतः साक्ष्य में अग्राह्य है और परिणामतः बंधक उस अधिनियम की धारा 49 के अधीन अप्रवर्तनीय है । इसका अपीलार्थी यह उत्तर देते हैं कि पक्षकारों के बीच कोई संव्यवहार इस ज्ञापन से नहीं हुआ, बल्कि उससे केवल पहले पूरे हुए संव्यवहार को लेखबद्ध किया गया, अतः इसके रजिस्ट्रीकरण की आवश्यकता नहीं थी क्योंकि उक्त कानून के शब्दों में वह ऐसी गैर-वसीयती लिखत नहीं थी कि "स्थावर संपत्ति पर या में किसी अधिकार, हक या हित सृष्ट, घोषित, समनुदेशित, परिसीमित या निर्वापित होता है ।" ऐसे अनेक मामले हुए हैं, जिनमें से कुछ इस बोर्ड तक आए हैं और जिनमें हक विलेखों के निक्षेप द्वारा किए गए बंधक के साथ में एक लिखित दस्तावेज भी था और जिनमें यह प्रश्न उठा था कि क्या दस्तावेज इस प्रकार का है कि रजिस्ट्रीकरण अपेक्षित हो । प्रत्येक मामले में निर्णय प्रश्नगत दस्तावेज की प्रकृति पर निर्भर किया है । इनमें से एक-दो नवीनतम निर्णयों का उल्लेख पर्याप्त होगा ।

3. **सुन्दराचारियर** बनाम **नारायण अय्यर**[1] में कुछ संपत्तियों के हक विलेख दो लिखित दस्तावेजों सहित प्रतिभूति स्वरूप दिए गए । वे दस्तावेजें थीं कुल उधार दी गई राशि के लिए वचनपत्र और एक हस्ताक्षरित ज्ञापन जिसमें हक विलेखों की सूची थी और जिसके प्रारंभ में पक्षकारों के नाम और ये शब्द थे "जैसा कि परस्पर तय हुआ, मैंने आपको निम्नलिखित दस्तावेजें प्रतिभूति-स्वरूप दी हैं ।"

4. लार्ड टोमलिन द्वारा व्यक्त किए गए बोर्ड के निर्णय के अनुसार ज्ञापन एक ऐसा दस्तावेज था जो :–

> "केवल निक्षेप की विषय-वस्तु का विवरण लिखता है । वह निक्षेप की गई दस्तावेजों की सूची था और बना रहा, उससे अधिक कुछ नहीं । उसमें पक्षकारों के बीच के करार की शर्तें समाहित नहीं थीं ।"

5. तद्नुसार बोर्ड :–

> "इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि ज्ञापन करार के विषयभूत विलेखों के विवरण के लिखित अभिलेख से भिन्न कुछ नहीं था, वह करार निक्षेप के कार्य और धन के संदाय द्वारा हुआ और उस ज्ञापन से न

---

[1] इंडियन अपील्स 68 = आ. इं. रि. 1931 प्रि. कौं. 36.

> यह तात्पर्यित था न उसका ऐसा प्रवर्तन था कि उससे विलेखों में समाविष्ट संपत्ति में किसी अधिकार, हक या हित का सृजन या घोषणा हो । परिणामतः उसका रजिस्ट्रीकरण अपेक्षित नहीं था ।"

6. इससे **सुब्रमण्यम** बनाम **लक्ष्मण**[1] की भिन्नता देखी जा सकती है । उसमें हक विलेखों के निक्षेप के समय उधारदाता या लेनदार को एक ज्ञापन हस्ताक्षर करके दिया गया जिसमें कहा गया :–

> "हम इसके साथ आपको (कुछ विनिर्दिष्ट संपत्ति) संबंधी हक विलेख में देते हैं .... कृपया ये हमको दिए गए उधार के लिए प्रतिभूति के रूप में रखें ।"

7. इसके अतिरिक्त ज्ञापन में एक वचनपत्र का और कुछ अंन्य संपत्ति के द्वितीय बंधक का उल्लेख था जो दोनों ही उधार लेने वालों के पक्ष में थे और जो भी उन्होंने अपने को मिले उधार की प्रतिभूति-स्वरूप दिए और दस्तावेज के अंत में था – "हम वचन देते हैं कि जब तक आपका रुपया पूरी तरह से अदा और चुकता नहीं हो जाता हम इनका कोई संव्यवहार नहीं करेंगे ।"

8. बोर्ड का निर्णय सुनाते हुए लार्ड कारसन ने **केदार नाथ दत्त** बनाम **श्याम लाल खत्री**[2] तथा **प्राण जीवन दास** बनाम **धान माफी**[3] से अंश उद्‌धृत किए कि वे इस विषय में विधि बताते हैं और उन्होंने मानदंड यह बताया :–

> "क्या दस्तावेज पक्षकारों के बीच संव्यवहार की कोटि में आती है अथवा वह पहले पूरे हुए संव्यवहार का अभिलेख मात्र था ?"

9. साक्ष्य और दस्तावेज की शर्तों को देखकर बोर्ड को कोई संदेह नहीं रहा कि :–

> "प्रश्नगत ज्ञापन पक्षकारों के बीच सौदा था और उसे साक्ष्य में पेश किए बिना वादी कोई दावा सिद्ध नहीं कर सकते थे और क्योंकि वह अरजिस्ट्रीकृत था अतः वह अग्राह्य किया जाना चाहिए था ।"

10. इस अंश को उद्‌धृत करते हुए लार्ड टोमलिन ने ऊपर उल्लिखित मामले में बोर्ड की ओर से कहा :–

---

[1] इंडियन अपील्स 77 = आ. इं. रि. 1923 प्रि. कौं. 50.

[2] (1873) 11 बंगाल ला रिपोर्टर 405.

[3] इंडियन अपील्स 122 = आ. इं. रि. 1916 प्रि. कौं. 115.

"हमारा यह विचार है कि लार्ड कारसन की भाषा का यह अर्थ था या यह अर्थ व्यक्त करने का आशय था कि हक विलेखों के निक्षेप संबंधी कोई ज्ञापन रजिस्ट्रीकरण अधिनियम की धारा 17 के अंतर्गत तब तक नहीं आ सकता जब तक कि उसमें उस संव्यवहार के सब विवरण न आ जाएं जिसका भाग वह निक्षेप है । हमारी राय में ऐसा कोई ज्ञापन धारा के अंतर्गत तब तक नहीं आ सकता जब तक कि वह दृश्यतः ही ऐसे निबंधनों का समावेश न करे और ऐसे समय और स्थान पर हस्ताक्षर करके और ऐसी परिस्थितियों में परिदत्त न किया जाए कि उचित तौर पर यह निष्कर्ष निकले कि जहां तक कि निक्षेप का संबंध है, यही पक्षकारों के बीच का करार है ।"

11. इन विचारों को मस्तिष्क में रखकर हम प्रस्तुत मामले के तथ्यों की परीक्षा करने को अग्रसर होते हैं । प्रकट यह होता है कि 1930 के अंत के दिनों में तीन भाइयों केदार नाथ साहा, अतीन्द्र नाथ साहा और ज्ञानेन्द्र नाथ साहा ने (जो स्वयं या जिनके प्रतिनिधि अब प्रत्यर्थी हैं) अपीलार्थियों से 25,000 रु. के उधार का ठहराव किया, जिसके लिए उधार लेने वालों की कलकत्ता स्थित कुछ संपत्ति प्रतिभूति बननी थी । पक्षकारों में उधार की शर्तों के विषय में सहमति होने पर संव्यवहार इस प्रकार किया गया : 24.7.1924 को अपीलार्थियों के एटार्नियों के कार्यालय में एक बैठक हुई जिसमें दो अपीलार्थियों में से एक हरि मोहन पाल अपनी ओर से तथा अपने भाई की ओर से (जो दूसरा अपीलार्थी है) तथा ज्ञानेन्द्र नाथ साहा अपनी ओर से तथा अपने दो भाइयों की ओर से उपस्थित हुए । इस बैठक में एक दस्तावेज पर ज्ञानेन्द्र नाथ साहा ने हस्ताक्षर किए । उनमें उधार के निबंधन और शर्तें वर्णित थीं । उसमें व्यवस्था थी कि 12,000 रु. उसी दिन दे दिए जाने चाहिए और शेष 13,000 रु. 31.7.1924 को या उसके पहले दे दिए जाने चाहिए ; ब्याज की दर 9 प्रतिशत वार्षिक होनी थी और उधार की अवधि 1.8.1924 से एक वर्ष की थी । उसमें यह भी व्यवस्था की गई कि 12,000 रु. का उधार :–

"उपर्युक्त परिसर सं. 75, बनिया टोला स्ट्रीट, संबंधी हक विलेख निक्षिप्त किए जाने पर दिया जाएगा और जब 13,000 रु. दे दिए जाएं तो बंधककर्ता बंधकदार के हक में एक ज्ञापन निष्पादित करेंगे जो उक्त निक्षेप का साक्ष्य हो और जिसमें उधार के निबंधन और शर्तें समाविष्ट हों ।"

12. ज्ञानेन्द्र ने इस दस्तावेज पर औपचारिक रूप से हस्ताक्षर करके हक विलेख अपीलार्थी के एटार्नी को औपचारिक रूप से यह कहते हुए दे

दिए : "12,000 रु. की राशि के लिए, जो मैंने 25,000 रु. के उधार में से प्राप्त की है, मैं ये हक दस्तावेजें प्रतिभूति या बंधक के रूप में निक्षिप्त कर रहा हूं ।" तब 12,000 रु. की राशि ज्ञानेन्द्र को दे दी गई जिसने ज्ञापन पर उधार दिए गए 12,000 रु. की राशि की प्राप्ति के हस्ताक्षर किए "जो प्रतिभूति पर और उन निबंधनों और शर्तों पर जो यहां पहले वर्णित हैं दी गई ।" तत्पश्चात् 2.8.1924 को शेष 12,000 रु. ज्ञानेन्द्र को दिए गए, जिसने अपीलार्थियों के एटार्नी को हक विलेख देने की औपचारिकता यह कहते हुए दोहराई :–

> "12,000 रु. के लिए जो 25,000 रु. में से मैंने पहले प्राप्त किए और 13,000 रु. की राशि के लिए जो आज मैं अब प्राप्त कर रहा हूं ये दस्तावेजें प्रतिभूति के तौर पर रखी जाएंगी ।"

13. तत्पश्चात् उसी दिन ज्ञानेन्द्र ने अब प्रश्नगत करार ज्ञापन निष्पादित किया । 2.8.1924 का यह ज्ञापन एक औपचारिक और विस्तृत दस्तावेज है । उसमें उधार लेने वालों को बंधककर्ता कहा गया है और उधार देने वालों को बंधकदार । उसमें कहा गया है कि बंधकदार प्रथम अनुसूची में वर्णित संपत्ति के स्वामी हैं, बंधककर्ताओं ने बंधकदारों से अनुरोध किया था कि उन्हें 25,000 रु. उधार दे दें और बंधकदार यह उधार द्वितीय अनुसूची में विनिर्दिष्ट हक विलेखों की प्रतिभूति पर देने को तैयार हो गए । उसमें आगे कहा गया है कि बंधकदारों ने 24.7.1924 को बंधककर्ताओं को 12,000 रु. दिए थे और उस राशि की प्रतिभूति-स्वरूप बंधककर्ताओं ने बंधकदारों के अभिकर्ताओं के पास द्वितीय अनुसूची में विनिर्दिष्ट हक दस्तावेजें जमा कर दी थीं तथा बंधकदारों ने ज्ञापन के निष्पादन के पूर्व ही शेष 13,000 रु. अदा कर दिए थे । ज्ञापन में आगे कहा गया है कि पक्षकारों के बीच एतद्द्वारा करार किया और घोषित किया जाता है कि ज्ञापन के निष्पादन के पूर्व दी गई 12,000 रु. और 13,000 रु. की दो राशियों के प्रतिफल-स्वरूप द्वितीय अनुसूची में वर्णित हक विलेख :–

> "जो उक्त विलेख, साक्ष्य और लेख, जैसा कि पहले बताया गया इस करार के निष्पादक के पूर्व बंधककर्ताओं को कलकत्ता में इस आशय से दे दिए गए हैं कि उक्त प्रथम अनुसूची में वर्णित परिसरों पर प्रतिभूति का सृजन किया जाए, जैसा कि संपत्ति अंतरण अधिनियम की धारा 9 के अंतिम परंतुक में अनुध्यात है । (और उस प्रतिभूति का सृजन यहां पूर्व वर्णित दस्तावेजों के परिदान द्वारा करार के निष्पादन के पूर्व कर दिया गया है) वे बंधकदारों द्वारा यथापूर्वोक्त

प्रतिभूति के रूप में रखे जाएं कि बंधककर्ताओं द्वारा बंधकदारों का यहां आगे वर्णित समय पर और ढंग से अदायगी की जाए तथा (एटार्नी और मुवक्किल के बीच के खर्चे) प्रभारों और व्ययों के लिए भी ऐसी कार्यवाही पर या उसके अनुषंगी रूप में किए जाएं जो इस प्रतिभूति की संरक्षा के लिए या एतद्द्वारा प्रतिभूत धन की अदायगी प्राप्त करने या उसका प्रयत्न करने के लिए की जाए ।"

14. तत्पश्चात् अनेक शीर्षक हैं जो अदायगी की तारीख, ब्याज की दर, चूक के परिणाम, हक की वारंटी और अनेक अन्य विषयों में हैं तथा ज्ञापन के अंत में बंधकदार को बंधक संपत्ति के विक्रय की शक्ति दी गई है । इसमें 25,000 रु. की कुल राशि की रसीद लगी है । 2.8.1924 के ज्ञापन का भाव इस प्रकार का होने के कारण और अनेक निष्पादन और परिदान की उक्त परिस्थितियां होने के कारण प्रश्न है कि क्या उसकी रजिस्ट्री की आवश्यकता थी । न्यायमूर्ति लार्ड विलियम्स लोर्ट ने निर्णय किया कि आवश्यकता नहीं थी क्योंकि उनका समाधान हो गया था कि "ज्ञापन उसके अभिलेख के अलावा कुछ नहीं था जिसका 24 जुलाई को मौखिक करार हुआ था" और वह "ऐसा दस्तावेज नहीं था जिसमें पक्षकारों के बीच किया गया सौदा हो" । अपील की जाने पर न्यायमूर्ति कास्टेलो की जिनसे न्यायमूर्ति पानक्रिज सहमत हुए, राय तत्प्रतिकूल थी । उनका निष्कर्ष था कि लेख इस प्रकृति का है कि उसके रजिस्ट्रीकरण की आवश्यकता थी । उन्होंने अपने विस्तृत और सावधानी से लिखे गए निर्णय में उसके कारण बताए हैं । हम अपील न्यायालय से सहमत हैं । इस मामले का मुख्य लक्षण है कि अपीलार्थियों के सलाहकार दृश्यतः इस विषय में विधि की सूक्ष्मताओं से पूर्णतः परिचित थे और उन्होंने सोच-विचार कर प्रयास किया कि हक विलेखों के परिदान द्वारा विधिमान्य बंधक कराएं और साथ ही उसकी एक प्रभावी लिखित दस्तावेज हो जिसके रजिस्ट्रीकरण की आवश्यकता न हो । हमारी राय में अपीलार्थियों ने अपने को धोखा दिया और अपने प्रयोजन की सिद्धि में असफल रहे ।

15. प्रथमतः 24.7.1924 के पहले ज्ञापन में यह स्पष्ट कर दिया गया था कि पक्षकारों का प्रारंभ से ही विचार था कि एक दस्तावेज निष्पादित करना चाहिए जो उक्त निक्षेप का साक्ष्य हो और जिसमें उधार के निबंधन और शर्तें समाविष्ट हों, और इस पूर्ववर्ती ज्ञापन में उधार की पहली किस्त की प्राप्ति की अभिस्वीकृति है कि वह यहां पूर्व वर्णित प्रतिभूति पर तथा निबंधनों और शर्तों पर दी गई । बाद में निष्पादित 2.8.1924 के ज्ञापन की परीक्षा करने पर प्रकट होता है कि उसमें संव्यवहार के सभी आवश्यक अंश

हैं । उसमें कहा गया है कि पक्षकारों के बीच एतद्द्वारा यह करार और घोषित किया जाता है कि उधार दी गई राशियों के प्रतिफलस्वरूप संपत्ति के हक विलेख उस संपत्ति पर प्रतिभूति स्वरूप रखे जाएंगे और उसमें ऐसी किसी कार्यवाही का भी उल्लेख है जो इस प्रतिभूति की संरक्षा के लिए या उसके द्वारा प्रतिभूति के अधीन धन प्राप्त करने के लिए की जाए । तत्पश्चात् वह संव्यवहार का सारा विवरण देता है और बंधकदारों को विक्रय की शक्ति विनिर्दिष्ट तौर पर प्रदान करता है । यह सही है कि कोष्ठकों वाले अंश में यह कहा गया है कि हक विलेख पहले ही प्रतिभूति के सृजन के आशय से परिदत्त कर दिए गए, किंतु उससे स्वयं ज्ञापन की प्रकृति नहीं बदल जाती, जिससे यदि उक्त कोष्ठकों वाला भाग छोड़ दिया जाए तो, तो वह ऐसी लिखत है जो संपत्ति में बंधकदारों के हक में हित के सृजन के लिए प्रभावी है । हक विलेखों के परिदान द्वारा बंधक का सृजन करने के बाद पक्षकार वही लिखित रूप में करने को अग्रसर हुए । ज्ञापन केवल पहले पूरे संव्यवहार का साक्ष्य मात्र नहीं है । उसकी भाषा प्रवर्तनशील है । उसका स्वरूप संविदा का है और उसमें यह करार समाविष्ट है कि प्रश्नगत हक विलेख दिए गए उधार की प्रतिभूति-स्वरूप रखे जाएंगे और उसमें "एतद्द्वारा प्रतिभूत राशि" का उल्लेख है । इसमें वे सब शर्तें ही नहीं हैं जिन पर कि रुपया उधार दिया गया, अपितु वह विक्रय की शक्ति भी अभिव्यक्त रूप से प्रदान करता है । यह ध्यान देने योग्य है कि अपीलार्थी अपने वादपत्र में अपने दावे के संक्षिप्त कथन में कहते हैं कि वे 2.8.1924 के करार ज्ञापन के अधीन मूलधन और देय ब्याज की बकाया की वसूली की डिक्री चाहते हैं ।

16. हमारी राय में प्रस्तुत मामले की भांति पक्षकार हक विलेखों के निक्षेप द्वारा बंधक का सृजन करना व्यक्त करें और साथ ही एक लिखित संविदा भी करें जो उस संव्यवहार का अभिन्न अंग बनाई जाए और जो स्वयं अपने में प्रवर्तनशील लिखत हो न कि मात्र साक्ष्य, वहां ऐसी दस्तावेज कानून के अधीन रजिस्ट्रीकृत होनी चाहिए । तद्नुसार अपील असफल होती है । हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह है कि अपील न्यायालय की 6.4.1937 की डिक्री की पुष्टि की जाए और अपील खारिज की जाए । प्रत्यर्थी केदार नाथ साहा के विधिक प्रतिनिधि उपस्थित हुए । उन्हें उनका अपील का खर्चा मिलेगा ।

अपील खारिज की गई ।

डगलस जार्ज राइट तथा अन्य .... अपीलार्थी

बनाम

न्यूजीलैंड फार्मर्स कोआपरेटिव एसोसिएशन आफ केण्टरबरी लि. .... प्रत्यर्थी

27.4.1939

न्यायमूर्ति लार्ड एटकिन, न्यायमूर्ति किलोवेन ने लार्ड रसेल, न्यायमूर्ति लार्ड मैकमिलन, न्यायमूर्ति लार्ड राइट और न्यायमूर्ति लार्ड रोमर

बंधक – बंधकदार ने बंधक संपत्ति के विक्रय की अपनी शक्ति का प्रयोग करके वह संपत्ति दूसरे को बेचने का करार किया और उस बाबत कुछ राशि वसूल की – किंतु शेष राशि न मिलने पर उसने वह करार रद्द करके संपत्ति दूसरे को कम मूल्य पर बेच दी – बंधककर्ता द्वारा पहले विक्रय की संविदाकृत पूरी राशि का दावा अमान्य किया गया क्योंकि पहला विक्रय पूरा नहीं हुआ था और उसमें हक अंतरित नहीं हुआ था ।

परिसीमा – जब गारंटीकर्ता ने दूसरे व्यक्ति द्वारा सोसाइटी से लिए जाने वाले ऋण की गारंटी की जिसके अंतर्गत समय-समय पर राशियां ली और दी जानी थीं तो परिसीमाकाल उधार दी गई प्रत्येक राशि की तारीख से अलग प्रारंभ नहीं होगा ।

अपीलार्थियों का प्रत्यर्थी कंपनी से विवाद इन दो बातों पर था । एक बंधक का और दूसरा गारंटी को वादी राइट "केटिल पीक्स" नामक एक फार्म का स्वामी था जो पहले से 9.425 पौंड के लिए बंधक था । फिर 27.7.1928 के विलेख द्वारा उसने वह प्रतिवादी कंपनी को बंधक किया । भूमि अंतरण अधिनियम, 1915 के उपबंधों के अनुसार उक्त बंधक से बंधकदार को बंधक संपत्ति स्वयं बेचने का अधिकार भी मिल गया । अतः 8.5.1929 को बंधकदार ने उक्त फार्म लिटिल नामक एक व्यक्ति को 15,317 पौंड 5 शिलिंग में बेचने का करार किया और भूमि का कब्जा दे दिया किंतु अंतरण विलेख कोई नहीं लिखा । खरीदार के रुपया न चुकाने पर बंधकदार ने अपने अधिकार का प्रयोग करके वह करार रद्द कर दिया और फिर फार्म दूसरे व्यक्ति को अपेक्षाकृत बहुत कम कीमत पर बेच दिया । अपील खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित – अतः प्रश्न बंधककर्ता के तद्विषयक का उठता है । इसमें संदेह का कोई अवसर नहीं है कि बंधकदार को विक्रय का अधिकार था और लिटिल से उसकी संविदा उसकी शक्ति के अंतर्गत थी । बंधककर्ता का कहना है कि वह विक्रय की संविदा पूरी हो गई थी । किंतु निचले दोनों न्यायालयों ने इस बात को नहीं माना है और हम उनसे सहमत हैं । ऐसा कोई सिद्धांत नहीं है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि यदि बंधकदार विक्रय की अपनी शक्ति का प्रयोग करके विक्रय करने की संविदा करता है और फिर वह उसे रद्द कर देता है तो वह बंधककर्ता को पूरी करारकृत विक्रय राशि का देनदार होगा । ठीक इसी प्रश्न का निर्णय इर्विंग बनाम कमर्शियल बैंकिग कंपनी आफ सिडनी में किया गया है । हम उससे सहमत हैं । (पैरा 3)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
	19 एन. एस. डब्ल्यू. एल. आर. केसेज इन ईक्विटी 54 : **इर्विंग** बनाम **कमर्शियल बैंकिंग कंपनी आफ सिडनी** ;	3
[1998]	(1898) 2 क्वींस बैंच 460 = 67 ला ज. क्वींस बेंच 861 : **पार्स बैंकिंग कंपनी लि. बनाम येट्स** ।	5

सिविल अपीली अधिकारिता : **1938 की अपील सं. 28.**

अपीलार्थियों की ओर से श्री सी. ए. सेटल

प्रत्यर्थी की ओर से सर्वश्री विलफ्रेड ए. बर्टन और ए. एम. वालस

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति किलोवेन के लार्ड रसेल ने दिया ।

न्या. लार्ड रसेल – यह अपील न्यूजीलैंड के कोर्ट आफ अपील के निर्णय के विरुद्ध है । उन्होंने विचारण न्यायाधीश के निर्णय व डिक्री की पुष्टि की है ।

2. अपीलार्थियों का प्रत्यर्थी कंपनी से विवाद इन दो बातों पर था ;

एक बंधक का और दूसरा गारंटी का । बंधक विषयक विवाद के तथ्य इस प्रकार हैं : वादी राइट "केटिल पीक्स" नामक एक फार्म का स्वामी था जो पहले से 9,425 पौंड के लिए बंधक था । फिर 27.7.1928 के विलेख द्वारा उसने वह प्रतिवादी कंपनी को बंधक किया । लैंड ट्रांसफर ऐक्ट, 1915 (भूमि अंतरण अधिनियम) के उपबंधों के अनुसार उक्त बंधक से बंधकदार को बंधक संपत्ति स्वयं बेचने का अधिकार भी मिल गया । अतः 8.5.1929 को बंधकदार ने उक्त फार्म लिटिल नामक एक व्यक्ति को 15,317 पौंड 5 शिलिंग में बेचने का करार किया । इस राशि की अदायगी तीन किस्तों में की जानी थी । बंधकदार ने 2,000 पौंड प्राप्त करके लिटिल को भूमि का कब्जा दे दिया । किंतु अंतरण विलेख कोई नहीं लिखा । खरीदार के रुपया न चुकाने पर बंधकदार ने अपने अधिकार का प्रयोग करके वह करार रद्द कर दिया और फिर फार्म दूसरे व्यक्ति को अपेक्षाकृत बहुत कम कीमत पर बेच दिया । उस दूसरे खरीदार से प्राप्त पूरी राशि तथा लिटिल से वस्तुतः प्राप्त राशि बंधकदार ने बंधककर्ता के नाम जमा की, किंतु वादी का दावा था कि पहले करारकृत कीमत की पूरी राशि उसे दी जानी चाहिए ।

3. अतः प्रश्न बंधककर्ता के तद्विषयक का उठता है । इसमें संदेह का कोई अवसर नहीं है कि बंधकदार को विक्रय का अधिकार था और लिटिल से उसकी संविदा उसकी शक्ति के अंतर्गत थी । बंधककर्ता का कहना है कि वह विक्रय की संविदा पूरी हो गई थी । किंतु निचले दोनों न्यायालयों ने इस बात को नहीं माना है और हम उनसे सहमत हैं । ऐसा कोई सिद्धांत नहीं है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि यदि बंधकदार विक्रय की अपनी शक्ति का प्रयोग करके विक्रय करने की संविदा करता है और फिर वह उसे रद्द कर देता है तो वह बंधककर्ता को पूरी करारकृत विक्रय राशि का देनदार होगा । ठीक इसी प्रश्न का निर्णय **इर्विंग** बनाम **कमर्शियल बैंकिग कंपनी आफ सिडनी**[1] में किया गया है । हम उससे सहमत हैं ।

4. यह मामला उन मामलों से भिन्न है जिनमें कि बंधकदार ने पूरा विक्रय कर दिया और फिर विक्रय धन के विषय में गड़बड़ी की । यहां विक्रय पूरा नहीं हुआ और बंधकदार ने करार को यथाविधि विखंडित कर दिया । अतः बंधककर्ता करारकृत पूरी राशि नहीं पा सकता, जो स्वयं

[1] 19 एन. एस. डब्ल्यू. एल. आर. केसेज इन ईक्विटी 54.

बंधकदार को भी प्राप्त नहीं हुई थी ।

5. दूसरा विवाद गारंटी को लेकर है । 11.8.1909 के एक लेख द्वारा अपीलार्थी राइट ने प्रत्यर्थी कंपनी को दो व्यक्तियों द्वारा देय ऋण की अदायगी की गारंटी की । फिर 25.4.1931 के पत्र द्वारा वादी ने वह गारंटी समाप्त कर दी । उस समय ऋणियों द्वारा कंपनी को देय राशि 11,816 पौंड 10 शिलिंग 4 पेंस थी । उस स्थल पर खाते में रेखा खींच दी गई और तत्पश्चात् उन ऋणियों का हिसाब एक अलग खाते में रखा गया । ऋण की अदायगी न होने पर कंपनी ने वादी से उक्त राशि तथा ब्याज की मांग की । वादी का कहना था कि ऋण परिसीमा-वर्जित है अथवा किसी भी दशा में वह स्टेट्यूट 3-4 विलियम चतुर्थ चेप्टर 42 द्वारा वर्णित है, जैसा कि **पार्स बैंकिंग कंपनी लि.** बनाम **येट्स**[1] में निर्णय किया गया । विचारण न्यायाधीश ने उक्त आपत्ति न मानकर कुछ मुजराई करने के बाद वाद डिक्री कर दिया । हमारे विचार से यह निर्णय सही है । अपीलार्थी का तर्क है कि परिसीमा की गणना उधार दी गई प्रत्येक राशि के लिए अलग से की जानी चाहिए और समर्थन में उपर्युक्त निर्णय का आश्रय लिया गया । उस मामले में तथ्य भिन्न थे और हम उसके संबंध में कोई राय व्यक्त नहीं करते । यहां ऋणी का एक चालू खाता था । उस समय समय-समय पर राशियां उसे दी जाती और उससे ली जाती रहीं और समय-समय पर बकाया निकलती रही । अतः परिसीमा ऋण की प्रत्येक मद के लिए अलग से नहीं गिनी जाएगी । तद्नुसार हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह है कि यह अपील खारिज की जानी चाहिए । अपीलार्थी अपील का खर्चा अदा करें ।

अपील खारिज की गई ।

---

[1] (1898) 2 क्वींस बैंच 460 = 67 ला ज. क्वींस बैंच 861.

मूंगीबाई .... अपीलार्थी

बनाम

कूवरजी उमरसी .... प्रत्यर्थी

2.5.1939

न्यायमूर्ति लार्ड थैंकरटन, न्यायमूर्ति लार्ड पोर्टर व न्यायमूर्ति सर जार्ज रैंकिन

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 – आदेश 1, नियम 10 – एक नौ भागीदारों वाली फर्म के हक में स्थावर संपत्ति का बंधक – सात भागीदार फर्म से निवृत्त हो गए और उनमें से एक ने मौखिक रूप से व छह ने अरजिस्ट्रीकृत लेख द्वारा फर्म में अपना हित शेष दो भागीदारों को अंतरित नहीं हुआ – अतः बंधक ऋण की वसूली के लिए वाद नवों भागीदारों द्वारा होना चाहिए और उन सात भागीदारों को भी वादी बनाना चाहिए, किंतु यदि उन्हें प्रतिवादी भी बना लिया तो भी डिक्री दी जा सकती है क्योंकि सभी हितबद्ध पक्षकार न्यायालय के समक्ष उपस्थित – न्यायालय को उन निवृत्त भागीदारों को भी पक्षकार बनाने का आवेदन मंजूर करने की अधिकारिता ।

– वादपत्र दो शेष भागीदारों के नाम से न होकर भागीदारी फर्म के नाम से – वह भागीदारों के नाम से होना चाहिए था, किंतु यह त्रुटि घातक नहीं – डिक्री भागीदारों के नाम मे दी जा सकती है ।

प्रक्रिया – समनुदेश – यदि वाद के चलते वादगत संपत्ति समनुदिष्ट कर दी जाती है तो समनुदेशिती को उसके आधार पर अनुतोष दिया जा सकता है ।

इस मामले में विचारार्थ मुख्य प्रश्न यह है कि क्या अनेक भागीदारों में से केवल दो भागीदारों द्वारा वाद चल सकता है ? अपील खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित – यह सुप्रतिष्ठित विधि है कि संयुक्त रूप से हितबद्ध व्यक्तियों में से एक या अधिक व्यक्ति संयुक्त संपत्ति के लिए वाद कर सकते हैं और आपत्ति की जाने पर अन्य संयुक्त हितधारियों को उनकी सम्मति होने पर वादी, अन्यथा प्रतिवादी बनाया जा सकता है, उदाहरणार्थ देखिए – ल्यूक बनाम साउथ केंसिंग्टन होटल कं. और कलेन बनाम नाउल्स (knowles) । बल्कि गलत व्यक्ति के नाम से वाद होने पर भी वह त्रुटि घातक नहीं होगी, देखिए – ह्यूग्ज बनाम पम्प हाउस होटल कं. लि.

(नं. 2) । जब एक बार सब पक्षकार न्यायालय के समक्ष हो गए तो न्यायालय उचित आदेश दे सकता है । किंतु डिक्री सभी हितबद्ध व्यक्तियों के पक्ष में होनी चाहिए, भले ही उनमें से कुछ प्रतिवादी बनाए गए हों, फिर यहां तो 22.8.1934 के रजिस्ट्रीकृत विलेख द्वारा निवृत्त भागीदारों ने अपने हित पुनः अंतरित कर दिए थे । निःसंदेह अपना हित वादकाल में समनुदिष्ट करने के बाद व्यक्ति उस हित के आधार पर अनुतोष नहीं मांग सकता, किंतु समनुदेशिती उसके आधार पर अनुतोष मांगने से वर्जित नहीं हैं । वादकाल में समनुदेशन विधितः अनुमत है, देखिए – सीअर बनाम लासन तथा कैम्पबेल बनाम होली लैंड । (पैरा 5)

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[1902]	(1902) 2 किंग्स बेंच 405 : **ह्यूग्ज** बनाम **पम्प हाउस होटल कं. लि.** ;	5
[1898]	(1898) 2 क्वींस बेंच 380 : **कलेन** बनाम **नाउल्स** ;	5
[1880]	(1880) 16 चांसरी डिवीजन 121 : **सीअर** बनाम **लासन** ;	5
[1879]	(1879) 11 चांसरी डिवीजन 121 : **ल्यूक** बनाम **साउथ केरिंग्टन होटल कं.** ;	5
[1877]	(1877) 7 चांसरी डिवीजन 166 : **कैम्पबेल** बनाम **होली लैंड** ।	5

सिविल अपीली अधिकारिता : 1938 की अपील सं. 51.

अपीलार्थी की ओर से सर्वश्री सी. एस. रिवाकासल और पी. वी. सुब्बा राव

प्रत्यर्थी की ओर से सर्वश्री ए. एम. दुने, सर थामस स्ट्रांगमैन और सी. बागराम

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति लार्ड पोर्टर ने दिया ।

निर्णय संक्षेप

न्यायमूर्ति लार्ड पोर्टर – यह अपील बंबई उच्च न्यायालय के 16.3.1937 के एक अपीली निर्णय के विरुद्ध है । उन्होंने अपने ही न्यायालय की आरंभिक अधिकारिता में दिए गए 30.7.1936 के निर्णय और डिक्री की पुष्टि कर दी है ।

2. प्रश्न बंधक धन की वसूली का है । फर्म कूवरजी उमरसी एंड कंपनी बंबई में कारबार करती थी । उसमें नौ भागीदार थे । कूवरजी उमरसी (प्रत्यर्थी) उसके पिता उमरसी कचरा तथा सात अन्य, जो वाद में प्रत्यर्थी सं. 4 से 10 तक थे । 30.9.1925 को मावजी वाघजी और उसकी पत्नी अपीलार्थिनी ने उक्त फर्म से 1,20,000 रु. उधार लेकर उसके हक में एक वचनपत्र लिखा । फर्म की कुछ रुई भी प्रतिभूति-स्वरूप दी गई । साथ ही किंग्स लेन और बड़ा बाजार के दो मकानों के हक विलेखों के निक्षेप द्वारा बंधक भी किया गया । बंधक धन की वसूली प्रथमतः रुई की गांठों से की जानी थी । तद्नुसार गांठें बेच दी गईं । फिर भी बहुत-सा रुपया बाकी रहा । नवंबर, 1936 में फर्म के सात भागीदार निवृत्त हो गए और केवल कूवरजी उमरसी और उनके पिता रह गए । निवृत्त होने वाले भागीदारों ने फर्म में अपने हित इस शेष दो भागीदारों को अंतरित कर दिया । किंतु कोई रजिस्ट्रीकृत विलेख न होने के कारण बंधक में हित अंतरित नहीं हुआ, क्योंकि रजिस्ट्रीकरण अधिनियम, 1908 की धारा 17(1)(ख) के अनुसार उसके अंतरण के लिए रजिस्ट्रीकरण आवश्यक था । 21.1.1927 को फर्म ने बंधक ऋण की वसूली के लिए यह वाद किया, जिसमें केवल दोनों बंधककर्ताओं को पक्षकार बनाया । उन्होंने आपत्ति की कि केवल दो बंधकदारों द्वारा किए जाने के कारण वाद चलने योग्य नहीं है क्योंकि बंधकदारी हित रजिस्ट्रीकृत अंतरण विलेख के अभाव में शेष सात बंधकदारों में भी निहित रहा । वाद चलने के दौरान उमरसी कचरा की 21.10.1928 को मृत्यु हो गई । अतः केवल प्रत्यर्थी ही बाकी बचा । वादी ने आवेदन दिया कि सात भूतपूर्व भागीदारों को भी सह-वादी या सह-प्रतिवादी बना दिया जाए । न्यायालय से यह मंजूर करके उनको सह-प्रतिवादी बना दिया और वादपत्र में तद्नुसार संशोधन कर दिया गया । नए प्रतिवादी सं. 4 से 10 तक ने संयुक्त लिखित कथन दाखिल करके अपना पूर्ण हित छोड़कर निवृत्त हो जाने की बात कही । 22.8.1934 को उन्होंने एक नया रजिस्ट्रीकृत विलेख निष्पादित करके अपना हित अब शेष एकमात्र भागीदार मूवरजी उमरसी को अंतरित कर दिया ।

3. विचारण न्यायाधीश का निष्कर्ष था कि 17.11.1926 का विलेख रजिस्ट्रीकृत न होने के कारण साक्ष्य में ग्राह्य नहीं है । 1934 के विलेख को भी उन्होंने नहीं माना क्योंकि वह वाद के दौरान निष्पादित किया गया था । अतः उन्होंने निर्णय किया कि वाद चलने योग्य नहीं है । अपील की जाने पर न्यायालय ने यह निर्णय किया कि जैसे ही अन्य सात भागीदारों को पक्षकार बना लिया गया सभी हितबद्ध पक्षकार न्यायालय के समक्ष आ गए, अतः डिक्री दी जा सकती है । मुख्य न्यायमूर्ति ने कहा कि प्रत्यर्थी स्पष्टतः न्यायालय के समक्ष था (यद्यपि उसका फर्म के नाम से वर्णन सही नहीं था) और सब पक्षकार न्यायालय के समक्ष थे । न्यायमूर्ति रंगनेकर भी इससे सहमत हुए । फर्म के स्थान पर प्रत्यर्थी को वादी बना दिया गया । और मामला निचले न्यायालय को कुछ और सुनवाई के लिए प्रतिप्रेषित कर दिया गया । 30.7.1936 को 1,37,287 रु. 2 आ. 8 पा. व ब्याज की प्रारंभिक विक्रय डिक्री दे दी गई । उसके विरुद्ध अपील 16.3.1937 को खारिज कर दी गई । प्रस्तुत अपील उसी निर्णय के विरुद्ध है ।

4. मुख्य प्रश्न यह है कि क्या केवल दो भागीदारों द्वारा वाद चल सकता था । इस विषय में सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 1, नियम 10 का उपबंध स्पष्ट है । इसके अधीन न्यायालय किसी भी ऐसे व्यक्ति को जिसे पक्षकार होना चाहिए पक्षकार बना सकता है । यदि त्रुटि से कोई पक्षकार छूट गया हो तो वह भी जोड़ा जा सकता है । प्रस्तुत मामले में शेष भागीदारों को छोड़ देना एक त्रुटि ही था । रजिस्ट्रीकृत विलेख न होने के कारण शेष सात भागीदारों का बंधक में हित बना रहा । ऐसी परिस्थिति में बेहतर यह होता कि उन सात निवृत्त भागीदारों को भी वादी बना लिया गया होता । किंतु क्योंकि उन्होंने वादी नहीं बनना चाहा अतः वे केवल प्रतिवादी बनाए गए । किसी भी दशा में उनके पक्षकार बनाए जाने के बाद सभी आवश्यक पक्षकार न्यायालय के सामने थे और डिक्री दी जा सकती थी ।

5. यह सुप्रतिष्ठित विधि है कि संयुक्त रूप से हितबद्ध व्यक्तियों में से एक या अधिक व्यक्ति संयुक्त संपत्ति के लिए वाद कर सकते हैं और आपत्ति की जाने पर अन्य संयुक्त हितधारियों को उनकी सम्मति होने पर वादी, अन्यथा प्रतिवादी बनाया जा सकता है, उदाहरणार्थ देखिए – **ल्यूक** बनाम **साउथ केंसिंग्टन होटल कं.**[1] और **कलेन** बनाम **नाउल्स**[2] **(knowles)** । बल्कि गलत व्यक्ति के नाम से वाद होने पर भी वह त्रुटि

[1] (1879) 11 चांसरी डिवीजन 121.

[2] (1898) 2 क्वींस बेंच 380.

घातक नहीं होगी, देखिए – **ह्यूग्ज** बनाम **पम्प हाउस होटल कं. लि.**[1] (नं. 2) । जब एक बार सब पक्षकार न्यायालय के समक्ष हो गए तो न्यायालय उचित आदेश दे सकता है । किंतु डिक्री सभी हितबद्ध व्यक्तियों के पक्ष में होनी चाहिए, भले ही उनमें से कुछ प्रतिवादी बनाए गए हों, देखिए उपर्युक्त – (1898) 2 क्वींस बेंच 380 (382) । फिर यहां तो 22.8.1934 के रजिस्ट्रीकृत विलेख द्वारा निवृत्त भागीदारों ने अपने हित पुनः अंतरित कर दिए थे । निःसंदेह अपना हित वादकाल में समनुदिष्ट करने के बाद व्यक्ति उस हित के आधार पर अनुतोष नहीं मांग सकता, किंतु समनुदेशिती उसके आधार पर अनुतोष मांगने से वर्जित नहीं हैं । वादकाल में समनुदेशन विधितः अनुमत है, देखिए – **सीअर** बनाम **लासन**[2] तथा **कैम्पबेल** बनाम **होली लैंड**[3] ।

6. भारत में भी सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 22, नियम 10(1) व (2) में वादकालीन समनुदेशन अनुमत है । अतः प्रस्तुत मामले में यद्यपि प्रारंभ में नौ मूल भागीदार अनुतोष के हकदार थे, 22.8.1934 के विलेख के बाद वर्तमान प्रत्यर्थी ही हकदार रह गया । निवृत्त भागीदारों ने अन्यथा भी अपना हित होने से इंकार कर दिया था । ऐसी दशा में केवल प्रत्यर्थी के पक्ष में डिक्री विधिसम्मत थी । यह तर्क मान्य नहीं है कि इस प्रकार का दृष्टिकोण अपनाने पर रजिस्ट्रीकरण विषयक विधि व्यर्थ हो जाएगी । तद्नुसार हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह है कि यह अपील खारिज की जाए और अपीलकृत निर्णय की पुष्टि की जाए । अपीलार्थी इस अपील का खर्चा अदा करे ।

अपील खारिज की गई ।

---

[1] (1902) 2 क्वींस बेंच 485.

[2] (1880) 16 चांसरी डिवीजन 121.

[3] (1877) 7 चांसरी डिवीजन 166.

ठेलवाल टामस मारिस .... अपीलार्थी

बनाम

गोल्डसबरो मार्ट एंड कंपनी लि. .... प्रत्यर्थी

5.5.1939

न्यायमूर्ति लार्ड एटकिन, न्यायमूर्ति किलोवेन के लार्ड रसेल, न्यायमूर्ति लार्ड मैकमिलन, न्यायमूर्ति लार्ड राइट और न्यायमूर्ति लाड रोमर

बीमा – किसी वस्तु का बीमा वही व्यक्ति करा सकता है जिसमें उसका कोई हित हो – यदि आढ़तिया अपने पास रखे गए माल का बीमा कराने का दायित्व लेता है तो उसका उसमें बीमा-योग्य हित हो जाता है और वह बीमा करा सकता है ।

बीमाकर्ता बीमाकृत वस्तु के मूल्य से कम या अधिक भी दे सकता है । ठीक मूल्य देना आवश्यक नहीं । अदायगी की मात्रा बीमा की शर्त पर निर्भर करेगी जब आढ़तिया ने अपने पास के माल का बीमा कराया और उसमें उस लाभ की राशि शामिल नहीं थी तो उसे माल का विक्रय करने पर प्राप्त होता तो बीमा कंपनी द्वारा दी जाने वाली राशि में उसका लाभ शामिल नहीं होगा । अतः बीमा कंपनी से प्राप्त राशि माल के स्वामी को अदा करने में आढ़तिया अपना संभावित लाभ/कमीशन नहीं काट सकता ।

निर्दिष्ट निर्णय

		पैरा
[1876]	(1876) 1 एक्स. डि. 36 : **मेकेंजी** बनाम **व्हिटवर्थ** ;	4
[1875]	(1875) 43 एल. जे. सी. पी. 394 : **एब्सवर्थ** बनाम **एलायंस मेरीन इंश्योरेंस कं.** ;	6
[1874]	(1874) 8 सी. पी. 596 : **एब्सवर्थ** बनाम **एलायंस मेरीन इंश्योरेंस कं.** ;	6
[1872]	(1872) 7 सी. पी. 25 : **नार्थ ब्रिटिश एंड मर्केण्टाइल इंश्योरेंस कं.** बनाम **मोफट** ;	4
[1859]	(1859) एल. एंड ब्ल. 652 : **लंदन एंड नार्थ वेस्टर्न रेलवे कं.** बनाम **ग्लिन** ;	4
[1856]	(1856) 5 एल. एंड ब्ल. 870 : **वाटर्स** बनाम **मोनर्क इंश्योरेंस कं.** ;	4,5

[1802] (1802-08) 2 बास एंड पी. (एन. आर.) 269 : **ज्यूरेना** बनाम **क्राफोर्ड** । 4

सिविल अपीली अधिकारिता : **1938 की अपील सं. 78.**

अपीलार्थी की ओर से वाटरहाउस कं.

प्रत्यर्थी की ओर से लिंक लेटर्स एंड पेन

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति लार्ड राइट ने दिया ।

निर्णय संक्षेप

न्यायमूर्ति लार्ड राइट – अपीलार्थी एक ऊन उत्पादक है । प्रत्यर्थी कंपनी ऊन की भांडागारिक है । अपीलार्थी का प्रत्यर्थी के पास विक्रयार्थ भेजा गया ऊन जल जाने पर बीमा कंपनी से प्राप्त राशि अपीलार्थी को अदा करने में विवाद इस प्रश्न पर है कि प्रत्यर्थी कंपनी कितनी कटौती कर सकती है । यह कंपनी अपने खर्चों की ही नहीं अपितु उस राशि की भी कटौती करना चाहती है जो उसे माल का विक्रय करने पर अपने कमीशन के रूप में प्राप्त होती । ऊन की प्रश्नगत 123 गांठें अपीलार्थी ने प्रत्यर्थी कंपनी को सितंबर, 1935 में भेजी थीं और वे प्रत्यर्थी के भांडागार में ही थीं कि 25.9.1935 को वे आग में जल गईं । पक्षकारों के बीच सामान्य व्यवहार यह था कि प्रत्यर्थी कंपनी को अपीलार्थी का माल अपने भांडागार में रखने के अतिरिक्त वहां तक माल ले जाने, ऊन को विक्रय के लिए तैयार करने, तौलने व बांधने और उसका मूल्यांकन करने का कार्य भी करना पड़ता था । ऊन के विक्रय मूल्य में से वह उक्त की बाबत खर्चा तथा अपना कमीशन काट कर अपीलार्थी को दे देती थी ।

2. यह कार्रवाई यह मानकर भी हुई है कि प्रत्यर्थी कंपनी पर अपीलार्थी के माल का बीमा कराने का दायित्व था । प्रत्यर्थी पर अपीलार्थी के माल का बीमा कराने का दायित्व था । प्रत्यर्थी ने अपीलार्थी का ही नहीं अपितु अपने अन्य ग्राहकों का माल भी बीमा करा रखा था । बीमा वेस्टर्न इंश्योरेंस कंपनी ने किया था । बीमा कई हिस्सों में समग्र माल का था, यद्यपि प्रत्येक उत्पादक के माल का अलग बीमा नहीं कराया गया था । प्रत्यर्थी कंपनी को बीमा कंपनी से 1980 पौंड 7 पेंस की राशि प्राप्त हुई । प्रत्यर्थी ने इस माल को अपने भांडागार तक ले जाने का खर्च तथा बीमा कराने का खर्च किया था तथा बीमा के लिए 1 शिलिंग 6 पेंस प्रतिशत (10 प्रतिशत) प्रभार लगाया था । अपीलार्थी ने हिसाब में प्रत्यर्थी की बीमा राशि में से अन्य राशियों के अतिरिक्त 24 पौंड 15 शिलिंग अपने विक्रय कमीशन के और 36 पौंड 11 शिलिंग 10 पेंस माल के संबंध में किए गए

कार्य व खर्च के मद्दे काटे थे । इन दोनों कटौतियों पर विवाद था ।

3. विक्रय कमीशन के लिए कहा गया कि जब विक्रय नहीं हुआ तो कमीशन कैसा ? और खर्चों के संबंध में अंशतः दायित्व ही माना गया । न्यू साउथ वेल्स के सुप्रीम कोर्ट ने अपीलार्थी की बात मानी । किंतु आस्ट्रेलिया के हाई कोर्ट ने वह फैसला बहुमत से उलट दिया ।

4. प्रश्न पक्षकारों के परस्पर संबंधों का है । जहां तक बीमा कंपनी के दायित्व का प्रश्न है वह बीमा पालिसी पर निर्भर करता है । जैसा कि पहले बताया गया, प्रत्येक ग्राहक के माल का अलग बीमा न कराकर अनेक पालिसियां माल को स्पष्ट किए बिना ली गई हैं । उनमें से एक दाखिल भी की गई है । हमें बीमा की शर्तों के निर्वचन के लिए बीमाकृत माल तथा बीमा कराने वाले के उसमें हित में अंतर करना होगा । प्रस्तुत मामले में बीमा माल अर्थात् ऊन का कराया गया और वह उसके आग द्वारा या अन्यथा नष्ट होने के लिए है । बीमा माल का होते हुए भी बीमा का आधार बीमा कराने वाले का उसमें हित होता है, जिसके कारण माल के नष्ट होने पर उसकी भी हानि होती है । बीमा विषयक विधि के अनुसार बीमाकृत माल का पालिसी में उचित वर्णन होना चाहिए, उदाहरणार्थ यदि पोत का बीमा हो तो उसका वर्णन होना चाहिए और यदि उसमें लदे माल का हो तो उसका वर्णन होना चाहिए । सामान्य अंग्रेजी विधि में बीमाकृत वस्तु में बीमा कराने वाले का लाभ शामिल नहीं होता, देखिए **ज्येसूना** बनाम **क्राफोर्ड**[1] व **मेकेंजी** बनाम **व्हिटवर्थ**[2] । वहां प्रश्न बीमाकर्ता द्वारा पुनः बीमा कराने का था । निर्णय किया गया कि प्रथम बीमा के दायित्व के कारण बीमाकर्ता का माल में बीमा-योग्य हित हो गया क्योंकि हानि होने की दशा में वह माल के स्वामी के प्रति देनदार होता । प्रस्तुत मामले में बीमाकृत माल में वर्णन ऊन का है । उसमें किसी लाभ का उल्लेख है । अतः बीमाकृत वस्तु में प्रत्यर्थी का लाभ शामिल नहीं माना जाएगा । यहां प्रत्यर्थी के हित में उसका अपना हित ही नहीं अपितु पूरा ऊन सम्मिलित है जिसके लिए वह भांडागारिक के रूप में उत्तरदायी था । इस प्रकार से बीमा कराने की पद्धति बहुप्रचलित रही है । इसके इतिहास का वर्णन **नार्थ ब्रिटिश एंड मर्केण्टाइल इंश्योरेंस कं.** बनाम **मोफट**[3] में मिलता है, जिसमें **वाटर्स** बनाम **मोनर्क इंश्योरेंस कं.**[4] और **लंदन एंड नार्थ वेस्टर्न रेलवे कं.** बनाम **ग्लिन**[5]

---

[1] (1802-08) 2 बास एंड पी. (एन. आर.) 269.

[2] (1876) 1 एक्स. डि. 36.

[3] (1872) 7 सी. पी. 25.

[4] (1856) 5 एल. एंड ब्ल. 870.

[5] (1859) 1 एल. एंड ब्ल. 652.

का भी हवाला दिया गया है । इसके अनुसार भांडागारिक स्वयं माल का स्वामी न होने पर भी पूरे माल का बीमा करा सकता है और बीमा कंपनी यह नहीं कह सकती कि वह उतनी ही राशि प्राप्त कर सकता है जितना कि उसका हित था । जब भांडागारिक अपने ग्राहक के माल का बीमा कराने का भार ले लेता है तो माल का नुकसान हो जाने की दशा में वह नुकसानी का देनदार हो जाता है । प्रस्तुत मामले में प्रत्यर्थी माल के पूरे मूल्य का बीमा करा सकता है ।

5. प्रश्नगत माल का मूल्यांकन 1980 पौंड 7 पेंस किया गया । उसे सभी संबद्ध पक्षकारों ने सही माना । अतः स्थिति यही होगी जैसे कि बीमा ही उतनी राशि के लिए था । प्रत्यर्थी ने बीमा अपनी ओर से कराया था, न कि अपीलार्थी के अभिकर्ता के रूप में । बीमा की विषयवस्तु ऊन था और उसमें उसका भी हित होने के कारण वह बीमा करा सकता था । जैसा कि पहले बताया गया, विवाद इस बात पर नहीं है कि बीमा राशि की अदायगी अपीलार्थी को जानी है बल्कि इस बात पर है कि उसमें से कितनी कटौती की जा सकती है । एक दृष्टिकोण यह अपनाया गया कि क्योंकि प्रत्यर्थी ने बीमा कराने का उत्तरदायित्व लिया था, अतः वह बीमा की संपूर्ण राशि का अपीलार्थी को देनदार है तथा वह अपने खर्चे आदि का लेनदार है जिसका वह समायोजन कर सकता है । किंतु यहां इस प्रकार का दायित्व लिए जाने का कोई स्पष्ट अभिवचन नहीं है । अपीलार्थी का कहना है कि प्रत्यर्थी उस खर्चे के अतिरिक्त कुछ नहीं काट सकता जिसके लिए उसको माल का धारणाधिकार प्राप्त होता । किंतु प्रत्यर्थी का दावा कंपनी का माल बिकने पर उसे प्राप्य लाभ तथा माल प्राप्त करने, तौलने और बांधने पर किए गए खर्चे का भी है । उसका कहना है कि आग लग जाने के कारण इस सब की हानि हुई । किंतु, जैसा कि पहले बताया गया, बीमा लाभ का नहीं कराया गया था । यदि प्रत्यर्थी लाभ शामिल करना चाहता था तो उसका उल्लेख पालिसी में होना चाहिए था । **वाटर्स** बनाम **मोनर्क इंश्योरेंस कं.**[1] में न्यायमूर्ति क्राम्प्टन ने भांडागारिक के बारे में बताया है कि माल भांडागारिक के पास मोटे तौर पर न्यास के रूप में होता है । भांडागारिक का धारणाधिकार माल के प्रत्येक अंश पर होता है । अतः उसका हित भी माल के प्रत्येक अंश में होता है । इस प्रकार भांडागारिक माल का पूर्ण मूल्य प्राप्त कर सकता है । यही स्थिति यहां होगी । यहां बीमा न लाभ का है, न केवल भांडागारिक के अपने हित का । अतः बीमा कंपनी से प्राप्त राशि का पक्षकारों में विभाजन माल में उनके हित के अनुपात में होगा ।

---

[1] (1856) 5 एल. एंड ब्ल. 870.

6. प्रत्यर्थी ने **एब्सवर्थ** बनाम **एलायंस मेरीन इंश्योरेंस कं.**[1] का आश्रय लिया । किंतु उसमें दोनों ओर मत समान होने के कारण कुछ भी निर्णय नहीं किया जा सका और **एब्सवर्थ** बनाम **एलायंस मेरीन इंश्योरेंस कं.**[2] से प्रकट होता है कि अंतिम आदेश पक्षकारों की सहमति के आधार पर हुआ । हमारे समक्ष प्रस्तुत प्रश्न का निर्णय उसमें नहीं किया जा सका । वस्तुतः उन्हीं न्यायाधीशों ने दो वर्ष पूर्व उपर्युक्त (1872) 7 सी. पी. 25 में भांडागारिक का अधिकार धारणाधिकार तक सीमित माना था ।

7. एक आपत्ति यह की गई कि प्रत्यर्थी को अपीलार्थी से मिलने वाला कमीशन न दिलाए जाने पर अपीलार्थी को अपने माल की अन्यथा प्राप्य कीमत से अधिक मिल गया । किंतु बीमा में यह आवश्यक नहीं होता कि माल की ठीक कीमत ही मिले । उदाहरणार्थ, जब बीमा एक निश्चित राशि के लिए होता है तो वही राशि मिलती है, चाहे वह माल की कीमत से अधिक हो या कम । यहां भी यदि आग न लगती और माल बच जाता तो हो सकता है कि वह बीमा कंपनी से प्राप्त राशि से कम या अधिक में बेचा जाता । यह बहस भी मान्य नहीं है कि प्रत्यर्थी के कमीशन की हानि हो गई और उसकी क्षतिपूर्ति नहीं हुई, क्योंकि यहां ऐसी क्षतिपूर्ति के लिए बीमा ही नहीं कराया गया था । यह तर्क भी महत्व नहीं रखता कि अपीलार्थी ने वह राशि भी प्राप्त कर ली जो उसे अन्यथा प्रत्यर्थी को उसकी सेवाओं के लिए कमीशन के रूप में देनी पड़ती । किंतु यहां तो बीमा की करारकृत राशि की अदायगी की बात है, वह कम हो या अधिक । विक्रय में तो इससे कम भी मिल सकता था और अधिक भी ।

8. परिणामतः हमारी राय में यह अपील मंजूर की जानी चाहिए और न्यू साउथ वेल्स के सुप्रीम कोर्ट का 9.3.1937 का निर्णय पुनः स्थापित किया जाना चाहिए । अपीलार्थी इस अपील का तथा आस्ट्रेलिया के न्यायालयों का खर्चा अदा करे । हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह तद्नुसार है ।

अपील मंजूर की गई ।

---

[1] (1874) 8 सी. पी. 596.

[2] (1875) 43 एल. जे. सी. पी. 394.

केसर देव चामरिया .... अपीलार्थी

बनाम

आय कर आयुक्त, बंगाल .... प्रत्यर्थी

9.5.1939

न्यामूर्ति किलोवेन के लार्ड रसेल, न्यायमूर्ति लार्ड रोमर व न्यायमूर्ति सर जार्ज रैंकिन

आय कर अधिनियम, 1922 – धारा 41 – "क" द्वारा अपने चाचा "र" के विरुद्ध संपत्ति के बंटवारे का वाद – उसमें समझौता होकर उसके अनुसार दोनों का आधा-आधा हिस्सा होने की और उसके बंटवारे की प्रारंभिक डिक्री – विभाजन का कार्य कमिश्नर को सौंपा गया । फिर संपत्ति के प्रबंध के लिए एक रिसीवर नियुक्त किया गया, किंतु उसने कभी दायित्व ग्रहण नहीं किया और 2.4.1931 को पक्षकारों को स्वयं प्रबंध करने, लाभ प्राप्त करने और उसका उपयोग करने की अनुमति दे दी गई । आय कर निर्धारण का प्रश्न उठने पर निर्णय किया गया कि अपने द्वारा प्रबंध के दौरान पक्षकार इस धारा के अर्थों में रिसीवर या प्रबंधक नहीं हैं, बल्कि स्वामी है और तद्नुसार उनके हिस्से की संपत्ति पर आय कर का निर्धारण किया जा सकता है ।

इस मामले में मुख्य निर्दिष्ट प्रश्न यह है कि क्या इस मामले की परिस्थितियों में निर्धारिती और राय बहादुर राम प्रताप चामरिया आयकर अधिनियम की धारा 41 के अर्थों में न्यायालय के आदेश द्वारा या अधीन नियुक्त संपत्ति के प्रबंधक थे और उस संपत्ति में उसके हिस्से के आधार पर कर-निर्धारण में आय कर अधिकारी ने गलती की ? अपील खारिज करते हुए,

अभिनिर्धारित – हमारी राय में यह मामला इस धारा के अंतर्गत नहीं आता । प्रत्यर्थी और राम प्रताप को कभी भी न्यायालय के किसी आदेश के द्वारा या अधीन रिसीवर या प्रबंधक नियुक्त नहीं किया गया । 2.4.1931 के आदेश का ऐसा आशय या प्रभाव नहीं है । विभाजन की डिक्री में स्वामित्व की स्वीकृति अंतर्निहित होती है । इसके अतिरिक्त पक्षकारों को आय वसूल करने का अधिकार ही नहीं दिया गया था अपितु परस्पर बराबर-बराबर बांटने या उसका विनिधान करने का अधिकार भी दिया गया था । उनको यह भी स्वतंत्रता दी गई थी कि चाहें तो रिसीवर पुनः नियुक्त करा लें ;

और वास्तव में बाद में उन्होंने रिसीवर पुनः नियुक्त कराया भी । (पैरा 5)

सिविल अपीली अधिकारिता : 1938 की अपील सं. 52.

अपीलार्थी की ओर से	सर्वश्री सर थामस स्ट्रांगमैन और जे. एम. प्रिंगले
प्रत्यर्थी की ओर से	सर्वश्री जे. मिलार्ड टुकर और हबर्ट हल

न्यायालय का निर्णय न्यायमूर्ति किलोवेन के लार्ड रसेल ने दिया ।

निर्णय संक्षेप

न्यायमूर्ति किलोवेन के लार्ड रसेल – यह अपील आय कर अधिनियम, 1922 की धारा 66(2) के अधीन किए गए निर्देश पर कलकत्ता उच्च न्यायालय द्वारा दिए गए एक निर्णय के विरुद्ध है । निर्दिष्ट प्रश्न यह था :–

> "क्या इस मामले की परिस्थितियों में निर्धारिती और राय बहादुर राम प्रताप चामरिया आय कर अधिनियम की धारा 41 के अर्थों में न्यायालय के आदेश द्वारा या अधीन नियुक्त संपत्ति के प्रबंधक थे और उस संपत्ति में उसके हिस्से के आधार पर निर्धारिती पर कर-निर्धारण में आय कर अधिकारी ने गलती की ?"

2. उच्च न्यायालय ने निर्णय निर्धारिती के विरुद्ध दिया । अतः यहां अपील की गई ।

3. मामले के तथ्य इस प्रकार हैं – 1929 में अपीलार्थी ने कलकत्ता उच्च न्यायालय में वाद सं. 183 सन् 1929 दाखिल किया जिसमें राम प्रताप और उसके अवयस्क पौत्र को प्रतिवादी बनाया । वादी का कथन था कि वह राम प्रताप के दिवंगत भाई अमोलक चंद का दत्तक पुत्र है और उसका कुटुंब की संपत्ति में आधा हिस्सा है । तद्नुसार उसका दावा बंटवारे के लिए था । 23.5.1930 को पक्षकारों में हुए समझौते के आधार पर बंटवारे की प्रारंभिक डिक्री दे दी गई । इसमें दोनों पक्षों को आधा-आधा हिस्सा माना गया और स्थल पर बंटवारा करने के लिए एक कमिश्नर की नियुक्ति कर दी गई । 28.7.1930 को शासकीय रिसीवर को ही संयुक्त संपत्ति का रिसीवर नियुक्त कर दिया गया कि वे स्थावर संपत्तियों का किराया, आदि वसूल करें और उसकी आय दोनों पक्षकारों में बराबर-बराबर बांटें । किंतु रिसीवर ने कभी कार्यभार ग्रहण नहीं किया । पक्षकारों में पुनः एक समझौता हुआ जिसके आधार पर 2.4.1931 को रिसीवर को पदमुक्त

करके यह आदेश दिया गया कि पक्षकार स्वयं संपत्ति का संयुक्त रूप से प्रबंध करें, उसके लाभ वसूल करें और उनका उपभोग तथा विनिधान करें आदि । यह व्यवस्था 23.8.1933 तक चालू रही, जबकि पक्षकारों के आवेदन पर पुनः शासकीय रिसीवर को रिसीवर के रूप में नियुक्त कर दिया गया, यद्यपि उन्हें कब्जा 24.2.1934 के लगभग ही मिला । अपीलार्थी और राम प्रताप ने अपने कब्जे और प्रबंध के दौरान संपत्ति की आय वसूल करके परस्पर बराबर-बराबर बांट ली । अपनी आय कर विवरणी में उन्होंने संपत्ति को रिसीवर के अधिकार में बताया । किंतु 31.7.1934 तथा 31.3.1935 को समाप्त होने वाले वर्षों की बाबत आय कर अधिकारी ने अपीलार्थी को अपने आधे हिस्से का स्वामी मान कर उसकी आय के आधार पर कर-निर्धारण किया । अपीलार्थी का यह तर्क नहीं माना गया कि संपत्ति रिसीवर के प्रबंध में है या कि उसे प्रबंधक के रूप में नियुक्त किया गया था । यह भी नहीं माना गया कि संपत्ति का हक अभी विवादित है । सहायक आयुक्त ने इन दोनों निर्धारणों की पुष्टि कर दी । अतः निर्धारिती ने उच्च न्यायालय को निर्देश कराया, जिसका उत्तर उस न्यायालय ने निर्धारिती के विरुद्ध दिया । अतः निर्धारिती ने उच्च न्यायालय को निर्देश कराया, जिसका उत्तर उस न्यायालय ने निर्धारिती के विरुद्ध दिया । अतः निर्धारिती ने यहां अपील की ।

4. प्रश्न आय कर अधिनियम, 1922 की धारा 41 के निर्वचन का है । यह धारा इस प्रकार है :–

> "इस अधिनियम के अधीन प्रभार्य किसी ऐसी आय, लाभ और अभिलाभ के मामले में जो किसी प्रतिपाल्य अधिकरण, महाप्रशासक, शासकीय न्यासी द्वारा या किसी रिसीवर या प्रबंधक द्वारा (जिसके अंतर्गत किसी भी पदाभिधान वाला कोई भी व्यक्ति है जो अन्य की ओर से संपत्ति का वास्तव में प्रबंध करता है) जो किसी न्यायालय के किसी आदेश के द्वारा या अधीन नियुक्त है, प्राप्त किया जाता है, कर ऐसे प्रतिपाल्य अधिकरण, महाप्रशासक, शासकीय न्यासी, रिसीवर या प्रबंधक पर उसी रीति से और उसी परिणाम तक उद्गृहीत और वसूल किया जाएगा जिससे और जिस तक वह उस व्यक्ति से उद्गृहीत और वसूल किया जाता जिसकी ओर से वह आय, लाभ और अभिलाभ प्राप्त होता है और इस अधिनियम के सभी उपबंध तद्नुसार लागू होंगे ।" (अनुवाद – संपादक द्वारा)

5. हमारी राय में यह मामला इस धारा के अंतर्गत नहीं आता ।

प्रत्यर्थी और राम प्रताप को कभी भी न्यायालय के किसी आदेश के द्वारा या अधीन रिसीवर या प्रबंधक नियुक्त नहीं किया गया । 2.4.1931 के आदेश का ऐसा आशय या प्रभाव नहीं है । विभाजन की डिक्री में स्वामित्व की स्वीकृति अंतर्निहित होती है । इसके अतिरिक्त पक्षकारों को आय वसूल करने का अधिकार ही नहीं दिया गया था अपितु परस्पर बराबर-बराबर बांटने या उसका विनिधान करने का अधिकार भी दिया गया था । उनको यह भी स्वतंत्रता दी गई थी कि चाहें तो रिसीवर पुनः नियुक्त करा लें ; और वास्तव में बाद में उन्होंने रिसीवर पुनः नियुक्त कराया भी ।

6. ऐसी दशा में हमारे विचार से उच्च न्यायालय ने प्रश्न का उत्तर सही तौर पर दिया है । अतः हिज मैजेस्टी को हमारी विनम्र सलाह है कि यह अपील खारिज की जानी चाहिए । अपीलार्थी प्रत्यर्थी की अपील का खर्चा अदा करे ।

अपील खारिज की गई ।

कार्यालय आदेश तारीख 13 फरवरी, 2017 के अनुसार विधि साहित्य प्रकाशन द्वारा प्रकाशित पाठ्य पुस्तकों पर छूट देने की सूची

क्रम सं.	पुस्तक का नाम, लेखक का नाम व प्रकाशन वर्ष (संस्करण)	पुस्तक की मुद्रित कीमत (रुपयों में)	7 वर्ष से पुराने संस्करण पर 35% छूट के पश्चात् कीमत (रुपयों में)	8 से 15 वर्ष पुराने संस्करण पर 50% छूट के पश्चात् कीमत (रुपयों में)	15 वर्ष से अधिक पुराने संस्करण पर 75% छूट के पश्चात् कीमत (रुपयों में)
1.	भारत का विधिक इतिहास - श्री सुरेन्द्र मधुकर - 1989	30	—	—	8
2.	माल विक्रय और परक्राम्य लिखत विधि - डा. एन. वी. परांजपे - 1990	40	—	—	10
3.	वाणिज्य विधि - डा. आर. एल. भट्ट - 1993	108	—	—	27
4.	अपकृत्य विधि के सिद्धांत - श्री शर्मन लाल अग्रवाल - 1993	40	—	—	10
5.	अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्रमुख निर्णय - डा. एस. सी. खरे - 1996	115	—	—	29
6.	श्रम विधि - श्री गोपी कृष्ण अरोड़ा - 1996	452	—	—	113
7.	संविदा विधि - डा. रामगोपाल चतुर्वेदी - 1998	275	—	—	69
8.	चिकित्सा न्यायशास्त्र और विष विज्ञान - डा. सी. के. पारिख - 1999	293	—	—	74
9.	आधुनिक पारिवारिक विधि - श्री राम शरण माथुर - 2000	429	—	—	108
10.	भारतीय स्वातंत्र्य संग्राम (कालजयी निर्णय) - विधि साहित्य प्रकाशन - 2000	225	—	—	57
11.	हिन्दू विधि - डा. रवीन्द्र नाथ - 2001	425	—	—	106
12.	भारतीय भागीदारी अधिनियम - श्री माधव प्रसाद वशिष्ठ - 2001	165	—	—	41
13.	प्रशासनिक विधि - डा. कैलाश चन्द्र जोशी - 2001	200	—	—	50
14.	भारतीय दंड संहिता - डा. रवीन्द्र नाथ - 2002	741	—	—	185
15.	विधिक उपचार - डा. एस. के. कपूर - 2002	311	—	—	78
16.	विधि शास्त्र - डा. शिवदत्त शर्मा - 2005	580	—	290	—
17.	मानव अधिकार - डा. शिवदत्त शर्मा - 2006	120	—	60	—

विधि साहित्य प्रकाशन
(विधायी विभाग)
विधि और न्याय मंत्रालय
भारत सरकार
भारतीय विधि संस्थान भवन,
भगवान दास मार्ग, नई दिल्ली-110001

भारत के समाचारपत्रों के रजिस्ट्रार द्वारा रजिस्ट्रीकृत रजि. सं. 16288/68

सादर

विधि साहित्य प्रकाशन द्वारा तीन मासिक निर्णय पत्रिकाओं – उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका, उच्च न्यायालय सिविल निर्णय पत्रिका और उच्च न्यायालय दांडिक निर्णय पत्रिका का प्रकाशन किया जाता है । उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका में उच्चतम न्यायालय के चयनित निर्णयों को और उच्च न्यायालय सिविल निर्णय पत्रिका तथा उच्च न्यायालय दांडिक निर्णय पत्रिकाओं में देश के विभिन्न उच्च न्यायालयों के क्रमशः चयनित सिविल और दांडिक निर्णयों को हिन्दी में प्रकाशित किया जाता है । इन पत्रिकाओं को और अधिक आकर्षक बनाने के लिए इनमें जनवरी, 2010 के अंक से महत्वपूर्ण केन्द्रीय अधिनियमों का प्राधिकृत हिन्दी पाठ पाठकों की सुविधा के लिए शृंखलाबद्ध रूप से प्रकाशित किया जा रहा है । उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका को उपादेय और ज्ञानवर्द्धक बनाने के लिए प्रिवी कौंसिल के निर्णयों को भी समाविष्ट किया जा रहा है । उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका की मासिक कीमत ₹ 195/- उच्च न्यायालय सिविल निर्णय पत्रिका की मासिक कीमत ₹ 125/- और उच्च न्यायालय दांडिक निर्णय पत्रिका की मासिक कीमत ₹ 125/- है । तीनों मासिक निर्णय पत्रिकाओं के नियमित ग्राहक बनकर हिन्दी के प्रचार-प्रसार के इस महान यज्ञ की पूर्णाहुति में अपना योगदान दें ।

विधि साहित्य प्रकाशन

(विधायी विभाग)

विधि और न्याय मंत्रालय

भारत सरकार

भारतीय विधि संस्थान भवन,

भगवान दास मार्ग, नई दिल्ली-110001

दूरभाष : 011-23387589, 23385259, 23382105